गीता में ईश्वरवाद

अर्थात्

श्रीयुक्त बाबू हीरेन्द्रनाथ दत्त, एम० ए०, बी० एल०,

वेदान्त-रत्न-

कृत

'गीताय ईश्वरवाद'

का

हिन्दी अनुवाद

अनुवादक—

ज्वालादत्त शर्म्मा

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, प्रयाग।

प्रथम संस्करण] १९१९ ई० मूल्य १॥)

समर्पण

यह अनुवाद

बड़े प्रेम और आदर के साथ

मित्रवर

डाक्टर जितेन्द्रनाथ गंगोली

के

कर-कमलों में भेंट

किया जाता है।

अनुवादक।

विषय-सूची

अनुवादक की भूमिका

गीता-शास्त्र के विषय में कुछ कहना सूर्य्य को दीपक से देखना है। गीता के शुद्ध आलोक से भारत का कोना कोना उज्ज्वल हो रहा है। द्वैतवादी, अद्वैतवादी, ब्रह्मसमाजी, आर्य्यसमाजी सभी गीता के एकसे श्रद्धालु पाठक हैं। कोई मत नहीं, कोई वाद नहीं, कोई काण्ड नहीं, कोई मार्ग नहीं और कोई धर्म्म नहीं जिसका थोड़ा पर पक्का विवरण गीता में न मिलता हो। ज्ञान, कर्म्म और भक्ति के रहस्यों के साथ और अनेक उज्ज्वल रत्न भी महर्षि वेदव्यास ने कोई सात सौ श्लोकों में ही गूँथ दिये हैं! फिर उन सात सौ श्लोकों में भी क़रीब दो सौ श्लोकों के कथा-भाग है। बाक़ी पाँच सौ श्लोकों में ही महर्षि ने अनेक ऐहिक और पारमार्थिक विषयों का ज्ञान कूट कूट कर भरा है। संसार की अनेक भाषाओं में गीता-शास्त्र पर न मालूम कितने ग्रन्थ लिखे गये और लिखे जा रहे हैं—ठीक नहीं। भगवद्गीता हिन्दुओं का ही क्यों सभ्य संसार के अधिकांश चिन्ताशील जनों का प्यारा ग्रन्थ है।

वङ्गभाषा में गीता पर अनेक विचार-पूर्ण ग्रन्थ लिखे गये हैं। उन सब में श्रीयुत बाबू हीरेन्द्रनाथ दत्त एम० ए०, बी० एल० के 'गीताय ईश्वरवाद' ग्रन्थ का बड़ा मान है। दर्शनशास्त्र का ग्रन्थ होते हुए भी उसके तीन संस्करण हो चुके हैं—इसी से

उसकी सर्वप्रियता का पता लगता है। हीरेन्द्र बाबू दर्शनशास्त्र के बहुत ही अच्छे ज्ञाता हैं। जिन्होंने आपके दर्शनशास्त्र-सम्बन्धी लेख अँगरेज़ी और बँगला मासिक-पत्रों में पढ़े हैं वे आप की गभीर विद्वत्ता, अद्वितीय प्रतिभा और विलक्षण पाण्डित्य को ख़ूब जानते हैं।

आशा है, हिन्दी-भाषा-भाषी सज्जन हीरेन्द्र बाबू के ग्रन्थ के इस अनुवाद को पढ़ कर लाभ उठायेंगे।

किसरौल, मुरादाबाद
वसन्तपञ्चमी १९७२ वि०। } ज्वालादत्त शर्म्मा।

निवेदन

एक साल तक छापेखाने में रहने के बाद "गीताय ईश्वरवाद" अब छप पाया है।

इसका बहुत अंश 'साहित्य' नामक मासिक पत्र में पहले छपा था। अब उसको बहुत घटा बढ़ा कर ग्रन्थ रूप में प्रकाशित किया जाता है। इसका 'वेदान्त और गीता' अध्याय बिलकुल नया है।

गीता कब बनी—इस विषय में इस ग्रन्थ में कुछ नहीं लिखा गया है। महाभारत में गीता थी या नहीं, उसमें कहाँ तक श्रीकृष्ण के उपदेश आ सके हैं—इन विषयों पर भी इस ग्रन्थ में कुछ नहीं कहा गया है। इस विषय पर हम एक स्वतन्त्र पुस्तक लिख रहे हैं आशा है, कुछ दिनों बाद वह प्रकाशित हो जायगी।

कुछ साल हुए वङ्गीय साहित्य-परिषद् ने विज्ञान-दर्शन और इतिहास आदि विषयों पर ग्रन्थ-रचना कराने के लिए एक शाखा-समिति स्थापित की थी। समिति ने दर्शन-विषयक ग्रन्थ रचने का भार हमें सपुर्द किया। इसीलिए परिषत् सम्पादक के अभि-प्रायानुसार यह ग्रन्थ साहित्य-परिषद् की पुस्तकावली के अन्तर्भुक्त किया जाता है।

× × × ×

राजनीति के झंझटों में फँसे हुए देशवासियों ने "गीताय ईश्वरवाद" को उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखा (क्योंकि उसके दो संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं)—यह हमारे लिए कम उत्साह की बात नहीं है।

३० श्रावण १३१५ बँगलासंवत् } हीरेन्द्रनाथ दत्त।

ग्रन्थकार की भूमिका ।

गीता बड़ा ही अपूर्व ग्रन्थ है। संसार के साहित्य में ऐसा उपादेय और उत्कृष्ट दूसरा ग्रन्थ नहीं है। गीता बहुत बड़ा ग्रन्थ नहीं है। उसमें सिर्फ़ सात सौ श्लोक हैं। पर फिर भी उसमें सब धर्म्मों का सार है, सब शास्त्रों के सार का भी सार है। जिस तरह समुद्र को मथ कर अमृत निकाला गया था उसी तरह शास्त्ररूप समुद्र को मथ कर गीतामृत निकाला गया है। इसी लिए पहले आदमी कह गये हैं—

गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।

गीता को ही ख़ूब अध्ययन करना चाहिए। और बहुत से शास्त्रों से क्या मतलब है।

गीता की सब से बड़ी विशेषता उसकी सार्वभौमता है। गीता में साम्प्रदायिकता या सङ्कीर्णता का लेश भी नहीं है। इसी लिए सब सम्प्रदाय के आदमी और सब श्रेणियों के दार्शनिक उसको समान आदर की दृष्टि से देखते हैं। गीता विश्वतो-मुख ग्रन्थ है। क्या कर्म्मी, क्या ज्ञानी, क्या योगी और क्या भक्त सब के लिए गीता एकसा उपादेय ग्रन्थ है।

इसका प्रधान कारण उस की व्यञ्जना (Suggestiveness) शक्ति है। गीता में सब तरह के सत्यों के सार मौजूद हैं। गीता

सत्य का सूर्य्य है। सूर्य्य में जिस तरह सब तरह के रंग मौजूद रहते हैं—इसीलिए जो फूल जिस रंग से प्रतिफलित होता है वह उसी रङ्ग को सूर्य्य की किरण से प्राप्त कर लेता है। सूर्य्य में यदि सब रङ्ग न होकर नीला, पीला, या हरा एक ही रङ्ग होता तो भिन्न रङ्ग के फूल उसके आलोक में प्रकाशित न हो सकते। इसी तरह गीता में यदि सब तरह की सचाइयों का सार न होकर सत्य के किसी अंश का सार ही होता तो क्या गीता के उज्ज्वल आलोक से संसार भर के मनुष्यों का चित्त उद्भासित हो सकता?

भारतवर्ष और उसके बाहर भी गीता की अनेक मनुष्यों ने अनेक तरह की आलोचनायें की हैं तो भी गीता के सम्बन्ध में अभी परले सिरे की बात कोई नहीं कह सका है! कोई कह सकेगा या नहीं—कहा नहीं जा सकता। क्योंकि जिस ग्रन्थ के सम्बन्ध में यह बात प्रसिद्ध हो कि

"व्यासो वेत्ति न वेत्ति वा।"

"व्यास जानते हों तो जानते हों" उस ग्रन्थ के रहस्यों का खोलना मनुष्य की सामर्थ्य से बाहर है। वास्तव में गीता की शुभ्र-ज्योति हमारी आँखों में आ ही नहीं सकती; क्योंकि हम अपनी अपनी शिक्षा और संस्कार के रंगीन शीशों से ही उसको देखते हैं—इस कारण गीता की शुभ्र ज्योति हमको रंगीन ही दिखाई पड़ती है। हम सबकी आँखों पर ही कोई न कोई रंगीन चश्मा लगा ही हुआ है, इसलिए हम कभी गीता के मर्म्मों का उद्घाटन कर सकेंगे—इस बात की बहुत कम सम्भावना है।

इस देश में बहुत समय से अनेक दर्शन-शास्त्र प्रचलित हैं। इन दर्शनों में श्रीमान् दार्शनिकों ने बुद्धि की सहायता से सत्य के निर्णय करने की कोशिश की है। आज कल के पण्डित भी बड़ी दृढ़ता से उसी मार्ग पर चल रहे हैं। वे किसी दिन गन्तव्य स्थान पर पहुँच जायँगे या नहीं—कहा नहीं जा सकता। क्योंकि, सत्य को निर्णय करने का रास्ता यह नहीं है। दार्शनिकों का सहारा तर्क है; तर्क के फल हैं—वाद, जल्प, वितण्डा और कलह। इसी लिए तर्क के द्वारा सत्य का कभी निर्णय नहीं होता। श्रुति भी कहती है,—

"नैषा तर्केण मतिरापनेया।"

'तर्क से तत्त्व की प्राप्ति नहीं होती।'

भगवान् बादरायण ने भी ब्रह्मसूत्र में तर्क की निन्दा की है[१]।

उसके भाष्य में श्रीशङ्कराचार्य लिखते हैं "बुद्धि के ऊपर निर्भर करके जो लोग तर्क करते हैं—उस तर्क की कुछ क़ीमत नहीं। क्योंकि एक बुद्धिमान् को तर्क को दूसरा बुद्धिमान् काट देता है। इसी तरह उसकी तर्क को भी तीसरा बुद्धिमान् काट फेंकता है। ऐसी तर्क का शेष ही नहीं हो सकता[२]।

इसी लिए शास्त्रकारों ने कह दिया है, कि अचिन्त्य चरम तत्त्व का विचार करते हुए तर्क का प्रयोग मत करना[३]।

---

[१] तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथानुमेयमितिचेदेवमप्यविमोक्षप्रसंगः। ब्रह्मसूत्र, २।१।११।

[२] निरागमाः पुरुषोत्प्रेक्षामात्रनिबन्धनास्तर्का अभियुक्ततरैरन्यैराभास्यमाना दृश्यन्ते। तैरप्युत्प्रेक्षिताः सन्तस्ततेऽन्यैराभास्यन्त इति न प्रतिष्ठितत्वं तर्काणां शक्यमाश्रयितुं पुरुषमतिवैरूप्यात्।—ऊपर के सूत्र पर शाङ्कर भाष्य।

[३] अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्।

ऋषियों की सत्य निर्णय करने की प्रणाली दार्शनिकों की *प्रणाली से बिल्कुल अलग है* । उस प्रणाली का क्रम इस प्रकार है, श्रवण, मनन और निदिध्यासन । जो सत्य चरम सत्य हैं (जिनको हर्बर्ट स्पेन्सर ने अज्ञेय कोटि में फेंक दिया है) वे कभी प्रत्यक्ष या अनुमान का विषय नहीं बन सकते । हमारे पास ऐसी कोई भी इन्द्रिय नहीं जिसके द्वारा चरम सत्य को हम प्रत्यक्ष कर सकें । अनुमान प्रत्यक्ष-मूलक है । तो क्या हमको युक्ति या तर्क द्वारा चरम सत्य का निर्णय करना चाहिए ? चरम सत्य के निर्णय का एक मात्र उपाय आप्त वाक्य है । आप्त का अर्थ है वे पुरुष जिनमें भ्रम और प्रमाद न हो, जिन्होंने तत्त्व-दृष्टि के द्वारा चरम सत्य का साक्षात् कर लिया हो । उनके उपदेश ही आप्त वाक्य हैं । ऋषि आप्त थे, इस लिए उनके प्रचारित, श्रुति स्मृति आदि शास्त्र ही चरम सत्य के निर्णय करने के लिए प्रमाण हैं । उन्हीं शास्त्रवाक्यों को श्रवण करना चाहिए, और उनका समन्वय करके मनन करना चाहिए और बाद को उनका एकान्त और एकाग्र होकर ध्यान करना चाहिए। इसी को निदिध्यासन कहते हैं । तभी सत्य का निर्णय होगा । ऋषियों की सत्य-निर्णय करने की यही प्रणाली है ।

> श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः ।
> मत्वा च सततं ध्येय एते दर्शनहेतवः ॥”

‘श्रुति वाक्यों को सुने, युक्ति* के साथ मनन करे, फिर

---

* युक्ति का अर्थ केवल तर्क ही नहीं है, भगवान् मनु कहते हैं—

> आर्षं धर्म्मोपदेशञ्च वेदशास्त्राविरोधिनः ।
> यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्म्मं वेद नेतरः । १०६, अध्याय १२ ।

तदनुकूल ध्यान करे । इस तरह ही (सत्य का) दर्शन हो सकता है ।

इस ग्रन्थ में मैं इसी प्रणाली का यथासाध्य अनुसरण करूँगा । क्योंकि मेरा विश्वास है कि गीता का प्रकृत मर्म ग्रहण करने के लिए केवल युक्ति और तर्क का आश्रय नहीं लेना चाहिए। गीता को श्रद्धापूर्वक सुनना चाहिए, उसके अर्थों का मनन करना चाहिए, और फिर एकाग्र और निविष्ट होकर उसका निदिध्यासन करना चाहिए । तभी हम गीता का थोड़ा बहुत सार ग्रहण कर सकेंगे ।

'जो शास्त्र से विरोध न रखने वाले तर्क के द्वारा शास्त्र के उपदेश को जानने की चेष्टा करते हैं वे ही सत्य का निर्णय कर सकते हैं, और नहीं कर सकते ।

गीता में ईश्वरवाद।

पहला अध्याय।

छहों दर्शनों की मोटी मोटी बातें।

इस देश में छः दर्शन मुख्य समझे जाते हैं—न्याय वैशेषिक, सांख्य पातञ्जल, पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा या वेदान्त, ये छहों दर्शन सूत्र रूप में ग्रथित हैं। सब से पहले ये सूत्र कब बने—इस का निर्णय करना बहुत मुश्किल है। परन्तु यह बात तो सन्देह के बिना कही जा सकती है कि आज हम छहों दर्शनों को जिस रूप में अर्थात् सूत्रबद्ध रूप में पाते हैं वे एक दिन में—नहीं हज़ारों शताब्दियों तक सोच विचार कर कहीं बन पाये हैं। दर्शन जिस रूप में हमको आज मिलते हैं सब से पहले वे इस रूप में नहीं थे। वे संक्षिप्तरूप में ज़रूर थे। बृहदारण्यक उपनिषद् भी खूब पुराना है। उसमें एक जगह विद्याभेद के प्रसंग में 'सूत्र' शब्द आया है—

अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतत् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राणि ०००। २। ८। १०

कौन कह सकता है कि ये "सूत्राणि" ही आज कल प्रचलित दर्शनशास्त्रों के पूर्व रूप नहीं थे ?

बृहदारण्यक गीता से पुराना ग्रन्थ है। इसलिए गीता से पहले भी भारत के चिन्ताशील विद्वान् दर्शनों के प्रतिपाद्य विषय से अनजान नहीं थे—यह बात कुछ असङ्गत नहीं। हाँ, साहस-पूर्वक यह बात कोई नहीं कह सकता, कि जिस समय गीता बनी थी उस समय भी ये छहों दर्शन उसी रूप में थे * जिस रूप में कि उनमें से प्रत्येक आज हमको मिलता है। दर्शनों में समय समय पर अनेक परिवर्तन हुए हैं—इसके पक्ष में अनेक प्रमाण मौजूद हैं। पर इसमें किसी को सन्देह नहीं कि गीतारचना-काल में छहों दर्शनों का यहाँ के पण्डित-समाज में प्रचार ख़ूब था।

हर दर्शन की भित्ति दुःखवाद है। सब दर्शनों के बनाने वाले यही कहते हैं कि संसार दुःख का स्थान है। संसार में जो थोड़ा

---

* इस विषय में पण्डित मैक्समूलर (Max Muller) अपने हिन्दूदर्शन ग्रन्थ में इस तरह लिखते हैं—

The Sutras or aphorisms which we possess of the six systems of philosophy, each distinct from the other, cannot possibly claim to represent the very first atttempts at a systematic treatment; they are rather the last summing up of what had been growing up during many generations of isolated thinkers. -The Six Systems of Indian Philosophy —p. 98.

No one can suppose that those whose names are mentioned as the authors of these six philosophical systems, were more than the final editors or redactors of the Sutras as we now possess them--(Do. Do., p. 111.)

बहुत सुख है भी वह क्षण भर रहने वाला है—यही बात नहीं बल्कि वह केवल दुःख का पूर्व रूप है। उस सुख को पाकर जीव कभी सन्तुष्ट नहीं हो सकता। इसीलिए वह दुःख दूर करने के लिए अनेक उपाय सोचा करता है। पर वह कैसा ही उपाय क्यों न निकाल लाय, उसके द्वारा वह संसार के दुःखों का नाश नहीं कर सकता। हाँ, दुःखों का नाश वह चाहता है और यही उसको एकान्त ईप्सित है। दुःख-नाश कर देना ही उसका परम पुरुषार्थ है। दुःख हानि का बढ़िया उपाय निकालने के लिए दर्शन-शास्त्रों की शरण जाना पड़ता है। इसलिए दर्शन दुःखवाद से शुरू होते हैं और दुःखनाश पर समाप्त होते हैं।† सब दर्शनों में दुःख-नाश के उपाय ही सोचे गये हैं। पर वे उपाय आपस में मिलते नहीं। भिन्न भिन्न दर्शनकारों ने दुःख दूर करने के लिए भिन्न भिन्न उपाय निकाले हैं। प्रसंग आने पर उनका वर्णन किया जायगा।

गीता पर विचार करने से भी यही बात निकलती है। उसमें भी दुःखवाद ही का समर्थन किया गया है। गीता भी संसार को क्षणभङ्गुर और दुःखों का घर मानती है—

---

† The aim of all Indian philosophy was the removal of suffering, which was caused by nescience, * * * * The principal systems of philosophy in India * * * start from the conviction that the world is full of suffering and that this suffering should be accounted for and removed.—Max Muller.—The Six Systems of Indian Philosophy—p. 140.

पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् । ८ । १५ ।

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य । ६ । ३३ ।

मृत्युसंसारसागरात् । १२ । ७ ।

मृत्युसंसारवर्त्मनि । ६ । ३ ।

जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् । १३ । ८ ।

गीता में भी दुःखनाश का उपाय बताया गया है। किन्तु उस उपाय के साथ दर्शनों में बताये उपायों का मिलान करने से एक बहुत बड़ा भेद हमको दिखाई देता है। वह भेद गीता के ईश्वर-वाद से सम्बन्ध रखता है। गीता में दुःख-नाश करने के लिए जिन जिन उपायों को बताया है—उन सब उपायों का केन्द्र-स्थान ईश्वर है। दर्शन शास्त्रों में बताये उपायों के साथ गीता के उपायों का एक यही मर्म्मान्तिक भेद है।

दर्शन शास्त्रों की आलोचना करने से मालूम होता है कि अकेले वेदान्त दर्शन को छोड़ कर—और सब दर्शनों में बताई दुःख-नाश की प्रणाली के साथ ईश्वर का कुछ ऐसा बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं है। सांख्य और पूर्व मीमांसा में तो ईश्वर से कुछ वास्ता ही नहीं रक्खा है। न्याय और वैशेषिक में ईश्वर को प्रतिपादित बेशक किया है परन्तु उन दर्शनों के बताये उपायों के साथ ईश्वर का कुछ सम्बन्ध नहीं है। पातञ्जल में योग-प्रणाली के साथ ईश्वर को संयुक्त ज़रूर किया है। किन्तु उस दर्शन में ईश्वर का स्थान अति गौण है। वेदान्तदर्शन के प्रतिपाद्य भी ईश्वर हैं, तो भी वेदान्त और गीता की प्रणाली में जो भेद है वह कुछ थोड़ा नहीं। इन सब बातों की आलोचना यथा-स्थान विस्तारपूर्वक की जायगी।

छहों दर्शनों की आलोचना करते हुए एक धारणा बराबर पक्की होती जाती है, वह यह कि दर्शनों में अशेष ज्ञान-गवेषणा और मौलिकता होते हुए भी कोई एक ऐसी बड़ी चीज़ है जो उनमें नहीं है। वह अभाव, वह असम्पूर्णता—बे तरह खटकती है । और गीता में, दर्शन शास्त्रों के प्रतिपाद्य विषय का समर्थन करते हुए एक और ऐसी चीज़ मिलती है जिसके कारण मालूम होता है कि दर्शन शास्त्र की वह असम्पूर्णता और वह अभाव गीता में आकर पूर्ण हो गया । एक वैज्ञानिक दृष्टान्त से इस बात को समझाने की चेष्टा की जाती है। किसी रासायनिक द्रव्य को—जिसमें बहुत सी चीज़ें मिली रहती हैं—वैज्ञानिक बहुत कोशिश करके भी बाँध नहीं सकते या उसकी गोली नहीं बना सकते पर जब कोई सुचतुर रसायन-शास्त्री उसमें एक और पदार्थ मिला देता है तो वह फ़ौरन् आपस में मिल जाता है अर्थात् आपस में मिल कर एक हो जाता है। इसी तरह दर्शन शास्त्र में अनेक चिन्ता, विचार और गवेषणा होते हुए भी उसकी असम्पूर्णता दूर नहीं हुई थी, किन्तु गीता ने ईश्वरवादरूपी एक अपूर्व वस्तु का संयोग करके बड़ी आसानी से दर्शन शास्त्र का वह अभाव मिटा दिया है। यह बात भी यथा-स्थान दिखाई जायगी।

दूसरा अध्याय।

न्यायदर्शन और गीता।

न्याय और वैशेषिक एक श्रेणी के दर्शन हैं। न्याय तो प्रधानतः लाजिक (Logic) है; पंचावयव या Syllogism का प्रतिपादन करना न्यायदर्शन की विशेषता है। वैशेषिक की विशेषता परमाणुवाद है। उसके मत में परमाणु नित्य पदार्थ है। किन्तु परमाणु वास्तव में अनित्य है, वह सांख्यदर्शन की तन्मात्रा के जोड़ का समझिए। जहाँ न्याय और वैशेषिक समाप्त होते हैं असली दर्शन वहाँ से आरम्भ होता है। विद्यारण्य मुनि ने तैत्तिरीय उपनिषद् की दीपिका में लिखा है—मूल कारण परब्रह्म से आकाश, काल, दिक् और परमाणु उत्पन्न होने के बाद जो फिर सृष्टि हुई वही गौतम आदि ऋषियों की प्रदर्शित प्रणाली से स्थापित की जा सकती है।*

न्याय-दर्शन की भित्ति महर्षि गौतम का बनाया हुआ न्यायसूत्र है। इसके पाँच अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में दो परिच्छेद

---

* मूलकारणात् परब्रह्मण उत्पन्नाकाशकालदिशः परमाणवश्च यदा व्यवस्थिताः तदा तत आरभ्य उत्तरकालीना सृष्टिर्गौतमाद्युक्त प्रकारेण व्यवतिष्ठताम्। 'तस्माद्वा वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' भृगुवल्ली प्रथम खण्ड और इसी अंश की दीपिका।

हैं। इन्हीं को आह्निक कहते हैं। वात्स्यायन का उस पर सब से पुराना भाष्य है। उस भाष्य पर उद्योतकर का न्याय-वार्त्तिक, वाचस्पति मिश्र की तात्पर्य्य-टीका और उदयनाचार्य्य की तात्पर्य्य परिशुद्धि प्रचलित है।

न्याय-दर्शन के मत में संसार दुःखमय है। सुख जो कुछ है वह भी दुःख से मिला हुआ है, इसलिए गौण-रूप में सुख को भी दुःख ही समझना चाहिए, पैदा होते ही दुःख आरम्भ हो जाते हैं। यदि दुःखों का नाश किया जाय तब जन्म का पहले नाश करना चाहिए। जन्म का कारण प्रवृत्ति है। जीव प्रवृत्ति के वशीभूत होकर ही कर्म्म करता है, कर्म्म-फल भोगने के लिए ही उसको फिर जन्म ग्रहण करना पड़ता है। प्रवृत्ति का हेतु क्या है? "दोष।" दोष तीन प्रकार के हैं राग, द्वेष और मोह। राग (आसक्ति), विद्वेष और मोह (प्रमाद) के सिवा और किसी विषय में जीव की प्रवृत्ति नहीं होती। ये दोष हमारे मिथ्याज्ञान से उत्पन्न हुए हैं। इसलिए मिथ्याज्ञान को बिना नष्ट किये हमारी दुःखों से निवृत्ति नहीं हो सकती।

दुःखजन्म-प्रवृत्तिमिथ्याज्ञानानाम् उत्तरोत्तरापाये तदन्तरा-पायादपवर्गः। न्या० सू०। १। १। २ †

मिथ्याज्ञान को उच्छेद करने का उपाय क्या है? न्यायदर्शन

---

† इसके भाष्य में वात्स्यायन लिखते हैं—"यदा तु तत्त्वज्ञानात् मिथ्याज्ञानमपैति तदा मिथ्याज्ञानापाये दोषा अपयन्ति, दोषापाये प्रवृत्तिरपैति, प्रवृत्त्यपाये जन्म अपैति, जन्मापाये दुःखमपैति, दुःखापाये चात्यन्तिकोऽपवर्गो निःश्रेयसमिति।"

कहता है कि, तत्त्वज्ञान के बिना मिथ्याज्ञान का नाश नहीं होता। इसी लिए तत्त्वज्ञान के द्वारा ही जीव निःश्रेयस् वा अपवर्ग की प्राप्ति कर सकता है। दुःखों के अत्यन्त नाश को अपवर्ग कहते हैं। इसलिए न्यायदर्शन के मत में दुःख-नाश का एक मात्र उपाय है—तत्त्वज्ञान। और न्यायदर्शन का उद्देश्य है—जीव को तत्त्वज्ञान का उपदेश देना। किसका तत्त्वज्ञान? न्यायदर्शन का उत्तर है (१) प्रमाण, (२) प्रमेय, (३) संशय, (४) प्रयोजन, (५) दृष्टान्त, (६) सिद्धान्त, (७) अवयव, (८) तर्क, (९) निर्णय, (१०) वाद, (११) जल्प, (१२) वितण्डा, (१३) हेत्वाभास, (१४) छल, (१५) जाति और (१६) निग्रहस्थान—इन सोलह पदार्थों का तत्त्वज्ञान। इनमें से प्रमेय का तत्त्वज्ञान स्वतः और प्रमाण आदि का तत्त्वज्ञान परतः अपवर्ग का हेतु है।

न्यायदर्शन के अनुसार इन सोलह पदार्थों का स्वरूप क्या है?

१ प्रमाण—प्रमा के साधन का नाम प्रमाण है (Means of knowledge) प्रमाण ४ तरह के हैं; प्रत्यक्ष (Perception) अनुमान (Inference), उपमान (Analogy) और शब्द (आप्त वाक्य)।

२ प्रमेय—प्रमाण का विषय (Object of knowledge) प्रमेय बारह तरह का है;—आत्मा, शरीर, इन्द्रिय (चक्षु आदि), अर्थ (इन्द्रियों के विषय, क्षिति, जल, तेजस्, वायु और आकाश के संयोग से यथाक्रम उत्पन्न हुए शब्द, स्पर्श रूप, रस और गन्ध) बुद्धि, मन, प्रवृत्ति (Activity) दोष (राग, द्वेष, मोह), प्रेत्यभाव (पुनर्जन्म), फल-(कर्म्मफल-भोग) दुःख और अपवर्ग।

३ संशय—सन्देह (Doubt)।

४ प्रयोजन (Purpose) जिस उद्देश्य में मनुष्यों की प्रवृत्ति होती है उसी को प्रयोजन कहते हैं ।

५ दृष्टान्त (Instance) ।

६ सिद्धान्त-विषय का निश्चय ।

७ अवयव—न्याय का एक देश (Premise) ।

८ तर्क (Reasoning) (९) निर्णय—पर-पक्ष-दूषण और स्वपक्ष-स्थापन द्वारा अर्थ का निश्चय (Conclusion) । (१०) वाद (Argumentation) । (११) जल्प (Sophistry) । (१२) वितण्डा (Wrangling) । (१३) हेत्वाभास (Fallacies) । (१४) छल (Quibble), । (१५) जाति (False analogy) । (१६) निग्रह-स्थान जिसमें विवादी की विप्रतिपत्ति (mistake) वा अप्रतिपत्ति (ignorance) प्रकाश पावे । इन सोलह पदार्थों में—जिनके तत्त्वज्ञान से न्याय के मत में अपवर्ग की प्राप्ति होती है—ईश्वर का कहीं उल्लेख नहीं । बस इन्हीं सोलह पदार्थों के विचार में ही सारा न्यायदर्शन समाप्त हो गया है । न्यायदर्शन स्थूल रूप से तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—प्रथम, न्यायांश (Logic), दूसरा तर्कांश (Dialectic) और तीसरा दर्शनांश (Metaphysics) । न्याय वाले अंश में प्रमाण के विचार के साथ पञ्चावयव न्याय (Syllogism) की गवेषणा भरी आलोचना दिखाई पड़ती है । वाद को, (नव्यन्याय में) न्याय के पण्डितों ने केवल प्रमाण के विचार में ही सारी शक्ति लगा दी है । किसी किसी ने अनुमान प्रमाण के द्वारा ईश्वर को सिद्ध करने के लिए अनेक युक्तियों की अवतारणा की है ।

"क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्य्यत्वात् घटवत् ।" *

घट का बनाने वाला जिस तरह कुम्हार है जगत् के बनानेवाले ईश्वर भी उसी प्रकार हैं। इसी का नाम न्यायचर्चा है। ईश्वर के सम्बन्ध में की गई इसी तरह की न्यायचर्चा को उद्देश में रख कर उदयनाचार्य्य ने प्रसिद्ध "कुसुमाञ्जलि" ग्रन्थ को बनाया है। उनके मत में इसी तरह की न्यायचर्चा शास्त्रोक्त-मननक्रिया का दर्जा रखती है।

न्यायचर्चेयमीशस्य मननव्यपदेश भाक् । कुसुमाञ्जलि, १ । ३

यदि तर्क के द्वारा भी ईश्वर सिद्ध न हों तब नैयायिकों का श्रम ही निष्फल हो जाय। किन्तु कुछ सज्जनों के मत में ईश्वर को तर्क का विषयीभूत करना ही ठीक नहीं। †

न्यायदर्शन का तर्कांश—जल्प, वितण्डा और छल आदि के विचार में नियोजित हुआ है। इसका प्रकृत दर्शन के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। न्याय के दर्शनांश में आत्मा, शरीर, इन्द्रिय और मन की आलोचना की गई है। इसी अंश में प्रसंगवश पृथ्वी, जल आदि पाँच भूत, रूप रस आदि गुणों का विचार और थोड़े में परमाणुवाद का भी उल्लेख हुआ है। आत्मा, शरीर, मन, बुद्धि से अलग है, वह भोक्ता है, ज्ञान का आश्रय है और नित्य भी है—इन बातों को न्यायदर्शन ने बहुत ही अच्छी तरह प्रमाणित किया है।

---

* न्यायदर्शन ४ । १ । २१ सूत्र पर विश्वनाथ की बनाई वृत्ति ।

† आगमाश्च द्रष्टा बोद्धा सर्वज्ञातेश्वर इति । बुद्ध्यादिभिश्चात्मलिंगैर्निरुपाख्यमीश्वरं प्रत्यक्षानुमानागमविषयातीतं कः शक्त उपपादयितुम् । न्यायदर्शन, ४ । १ । २१ सूत्र पर वात्स्यायन-भाष्य । इससे मालूम हुआ कि वात्स्यायन भी ईश्वर को तर्क का विषयी भूत करना पसन्द नहीं करते ।

न्यायदर्शन ईश्वर को अस्वीकार नहीं करता। चौथे अध्याय के प्रथम आह्निक में ईश्वर का उल्लेख हुआ है। ईश्वर ही जीव को कर्म्मों के फल देता है यह बात भी वहीं प्रमाणित की गई है।

ईश्वरः कारणं पुरुषकर्म्माफल्यदर्शनात्। न्यायसूत्र, ४। १। १६

इसके भाष्य में वात्स्यायन कहते हैं—"मनुष्य के कर्म्मों के फल जिसके हाथ में हैं वही ईश्वर है।" ‡ इसको छोड़ कर न्यायदर्श में और कहीं ईश्वर का ज़िक्र नहीं आया है।

इसलिए न्यायदर्शन में ईश्वर का स्थान बहुत गौण है। न्यायदर्शन में दुःखों के नाश या अपवर्ग की प्राप्ति के जो उपाय बताये हैं उनके साथ ईश्वर का रत्ती भर सम्बन्ध नहीं है। ईश्वर हो या न हो, जीव उससे सम्बन्ध रखे या न रखे—इस बात से न्यायदर्शन की बताई दुःखनाश की प्रणाली में कोई हानि नहीं पहुँचती। क्योंकि न्यायदर्श में बताये सोलह पदार्थों का (जिनमें ईश्वर का ज़िक्र तक नहीं) यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके, जीव दुःखों की अत्यन्त हानि करके, अपवर्ग की प्राप्ति कर सकता है। न्यायदर्शन मुक्ति का यही पथ बताता है। पर, गीता में बताया मुक्ति का मार्ग इससे बिलकुल स्वतंत्र है—उस मार्ग में बिना ईश्वर का अवलम्ब किये एक कदम भी नहीं चला जा सकता। क्या, इसीलिए गीता में न्यायदर्शन का कहीं भी ज़िक्र नहीं आया है?

---

‡ पराधीनं पुरुषस्य कर्म्मफलाराधनमिति यदधीनं स ईश्वरः। तस्मादीश्वरः कारणमिति।

तीसरा अध्याय।

वैशेषिकदर्शन और गीता।

पहले कहा जा चुका है, कि न्याय और वैशेषिक एक ही श्रेणी के दर्शन हैं। वैशेषिक-दर्शन का आधार महर्षि कणाद के बनाये वैशेषिक सूत्र हैं। इसमें दश अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में दो दो परिच्छेद हैं। इन्हीं को आह्निक कहते हैं। वैशेषिक-दर्शन का पुराना भाष्य नहीं मिलता पर प्रशस्तपादाचार्य्य का पदार्थ-धर्म्म-संग्रह ही उसका भाष्य समझा जाता है। उदयनाचार्य्य की किरणावली और श्रीधराचार्य्य की न्यायकन्दली पदार्थ धर्म्म-संग्रह की बढ़िया टीकायें हैं। एक और नया भाष्य इस दर्शन पर प्रचलित है—वह शङ्करमिश्र-कृत 'वैशेषिकसूत्रोपस्कार' है। वैशेषिक-दर्शन के मत में भी संसार दुःखमय है। उस दुःख की अत्यन्त निवृत्ति ही निश्रेयस् कहाती है।* वैशेषिक के मत में भी निःश्रेयस् की प्राप्ति तत्त्वज्ञान से ही होती है। वैशेषिक-दर्शन उस तत्त्व को बताने वाला ग्रन्थ है। यही उसका उद्देश्य है। कौन से तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस् की प्राप्ति होती है? वैशेषिक बताता है कि द्रव्य, गुण,

* निःश्रेयम् आत्यन्तकी दुःखनिवृत्तिः। शङ्कर-मिश्रकृत वैशेषिक-सूत्रोपस्कार, १।१।२

कर्म्म, सामान्य, विशेष और समवाय—इन छः पदार्थों के साधर्म्य और वैधर्म्य के ज्ञान से उत्पन्न हुए तत्त्वज्ञान से ।

"धर्म्मविशेषप्रसूताद्द्रव्यगुणकर्म्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम् ।"

[वैशेषिकदर्शन]

१ । १ । ३

बाद के ग्रन्थों में अभाव नामक सातवाँ पदार्थ और बढ़ाया गया है । सम्भव है कि प्रशस्तपादाचार्य्य ही इस मत के प्रवर्त्तक हों । वे लिखते हैं—

"द्रव्यगुणकर्म्मसामान्यविशेषसमवायानां षण्णां पदार्थानां अभाव-सप्तमानाम् ।"

वैशेषिक-दर्शन के इन छः पदार्थों के साथ ग्रीकदर्शन का बहुत मिलान है ।

(१) द्रव्य (Substance) नौ प्रकार का है—क्षिति, अप, तेज, वायु, आकाश, काल (Time), दिक् (Space) आत्मा और मन । क्षिति, अप, तेज और वायु ये नित्य और अनित्य भेद से दो प्रकार के हैं । परमाणु के रूप में नित्य और परमाणु से बने शरीर इन्द्रिय और विषयरूप में अनित्य हैं । वैशेषिक के मत में ये चार तरह के परमाणु और आकाश आदि अन्य पाँच द्रव्य नित्य हैं । आत्मा ज्ञान का आश्रय है । मन के द्वारा आत्मा का प्रत्यक्ष होता है । आत्मा विभु है पर अनेक है—हर शरीर में भिन्न भिन्न आत्मा हैं । वैशेषिक के मत में मन अणु है । मन ही सुख दुःख और

आत्मा को प्रत्यक्ष करने का कारण है। गुणों का आश्रय द्रव्य है। गुण के बिना द्रव्य की सत्ता नहीं रह सकती।

(२) गुण (Attributes)-वैशेषिक के मत में गुण २४ प्रकार के हैं—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या (Number) परिणाम, पृथक्त्व (Severalty), संयोग (Conjunction), विभाग (Disjunction), परत्व (Priority), अपरत्व (Posteriority), बुद्धि (Thought), सुख, दुःख, इच्छा द्वेष और प्रयत्न (Effort)। सूत्र में ये १७ गुण कथित हैं। प्रशस्तपाद ने गुरुत्व (Weight) द्रवत्व (Fluidity) स्नेह (Vascidity) संस्कार, अदृष्ट (धर्म्म और अधर्म) और शब्द इन सात गुणों को जोड़ कर २४ संख्या पूर्ण की है।

(३) कर्म्म—पाँच तरह का है—उत्क्षेपण (ऊपर को फेंकना), अवक्षेपण (नीचे को फेंकना), आकुंचन, प्रसारण और गमन। और जितने प्रकार के कर्म्म हैं वे सब गमन के ही अन्तर्गत समझे जाते हैं।

(४) सामान्य जाति (Genus), जाति दो प्रकार की है परा और अपरा। अधिक-देश-वृत्ति जाति को परा और अल्प-देश-वृत्ति जाति को अपरा कहते हैं। मनुष्यत्व, अश्वत्व और गो जाति के मुकाबले में प्राणित्व जाति परा है।

(५) विशेष—कोई कोई विशेष को व्यक्ति[1] के अर्थ में लगाते हैं। सामान्य-जाति, विशेष-व्यक्ति।

यही मत मालूम भी ठीक होता है। किन्तु वैशेषिक-मतावलम्बी

---

1 Individual.

इस मत को स्वीकार नहीं करते। उनके मत में जिस असाधारण धर्म्म से निरवयव पदार्थ के परस्पर भेद की सिद्धि हो वही विशेष है। वैशेषिक वाले कहते हैं कि दो अणुओं से लेकर घटादि तक सारे अवयव वाले द्रव्यों का परस्पर भेद उनके अपने अपने अवयव के भेदों से सिद्ध होता है। किन्तु एक जाति के निरवयव परमाणुओं में यह भिन्नता कैसी ? जिस धर्म्म के द्वारा उनमें परस्पर भेद सिद्ध होता है वही—विशेष है।

(६) समवाय Inhesion (Inseparability)— नित्य सम्बन्ध। तन्तु के साथ वस्त्र का जो सम्बन्ध है, गुण के साथ गुणी का जो सम्बन्ध है, क्रिया के साथ द्रव्य का जो सम्बन्ध है, जाति के साथ व्यक्ति का जो सम्बन्ध है—वही समवाय कहलाता है।

(७) अभाव—दो प्रकार का है। (क) संसर्गाभाव अर्थात् सम्बन्ध का अभाव; इसके भी तीन भेद हैं पहला—प्रागभाव दूसरा—ध्वंस अर्थात् नाश और तीसरा अत्यन्ताभाव, जिस तरह जड़ में चेतन का अत्यन्ताभाव।

(ख) अन्योन्याभाव—घोड़ा हाथी नहीं, घोड़े में हाथी का जो अभाव है और हाथी में घोड़े का जो अभाव है वही अन्योन्याभाव कहलाता है।

वैशेषिक-दर्शन ईश्वर को अस्वीकार नहीं करता। दूसरे अध्याय के प्रथम आह्निक में वायु का विचार करते हुए इशारतन् ईश्वर का उल्लेख मिलता है। "संज्ञा कर्म्मत्वस्मद्विशिष्टानां लिङ्गम्" (वैशेषिक २।१।१८)। "प्रत्यक्षप्रवृत्तत्वात् संज्ञा कर्म्मणः"

(वैशेषिक २ । १ । १८)। संज्ञा अर्थात् नाम और कर्म्म अर्थात् पृथ्वी आदि कार्य्य ये दो चीज़ें हमसे बढ़ कर एक विशिष्ट (superior) ईश्वर और महर्षि आदि के अस्तित्व को प्रमाणित करती हैं। घट पट आदि नाम से वे ही चीज़ें किस तरह समझी जाती हैं? ईश्वर के सङ्केत से। पृथ्वी जल जब कार्य्य हैं तब इनका कर्त्ता भी अवश्य होना चाहिए। वही कर्त्ता, ईश्वर है।*

यह केवल एक इशारा है। इसका बहुत सा भाग तो प्रसङ्ग-विरुद्ध भी कहा जा सकता है। इसके सिवा वैशेषिक सूत्र में ईश्वर का प्रसङ्ग कहीं नहीं आया है।

नये नैयायिकों के वैशेषिक पर बनाये अनेक ग्रन्थों में मूल-सूत्रों में कहे नौ द्रव्यों से अलग आत्मा का विचार करते हुए ईश्वर का प्रसङ्ग दिखाई पड़ता है। वे आत्मा के दो भेद मानते हैं। जीवात्मा और परमात्मा। 'भाषापरिच्छेद' ग्रन्थ में आत्मा के बजाय "देहिनौ" (जीव और ईश्वर) शब्द का प्रयोग हुआ है। मूल सूत्र के तीसरे अध्याय में आत्मा का निरूपण किया है। देह, इन्द्रिय और मन से आत्मा स्वतन्त्र है—युक्तिपूर्वक यह बात प्रमाणित

* शङ्कर मिश्र ने वैशेषिकसूत्रोपस्कार में इस तरह लिखा है "संज्ञा नाम कर्म्मकार्य्यं क्षित्यादि तदुभयम् अस्मद्विशिष्टानाम् ईश्वरमहर्षीणां सत्त्वेऽपि-लिङ्गम्।" (२ । १ । १८) "घटपटादिसंज्ञानिवेशनमपि ईश्वरसङ्केता-धीनमेव। यः शब्दो यत्र ईश्वरेण सङ्केतितः स तत्र साधुः।......तथा च सिद्धं संज्ञाया ईश्वरलिङ्गम्। एवं कर्म्मापि कार्य्यमपि ईश्वरे लिङ्गम्। तथाहि क्षित्यादिकं सकर्त्तृकं कार्य्यत्वात् घटवत् इति" (२ । १ । १९)।

की गई है, किन्तु वहाँ ईश्वर का ज़रा सा ज़िक्र भी नहीं आया है।*

नव्य नैयायिकों ने हिसाब लगा कर बताया है कि ईश्वर में ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न, संख्या आदि गुणों का समावेश है। "महेश्वरेऽष्टौ"। कहने की ज़रूरत नहीं महर्षि कणाद ने मूल दर्शन में इस तरह हिसाब लगाने का साहस नहीं दिखाया है।

प्रशस्तपादाचार्य्य ने पदार्थ समूह में तत्त्वज्ञान को मोक्ष का कारण बताते हुए "तच्च ईश्वरनोदनाभिव्यक्तात् धर्म्मादेव" वह तत्त्व-ज्ञान ईश्वर की प्रेरणा से उत्पन्न हुए धर्म्म से प्राप्त होता है—लिखा है। किन्तु मूलसूत्र में "धर्म्म-विशेष-प्रसूत" मात्र ही लिखा है। इससे तो यह मतलब निकलता है कि निवृत्ति लक्षण वाले धर्म्म से या निष्काम कर्म्म द्वारा उत्पन्न हुए धर्म्म से जिस तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होती है वही मुक्ति का साधन बनता है।

प्रशस्त पादाचार्य्य ने परमाणुवाद के प्रसङ्ग में भी ईश्वर का ज़िक्र किया है। मूल सूत्र में यहाँ भी ईश्वर का कोई प्रसङ्ग दिखाई नहीं देता। कणाद के मत में सत् नित्य और अकारण है। घट पट आदि का कारण परमाणु ही है। परमाणु का कोई कारण नहीं। घट आदि पदार्थों को तोड़ कर यदि उनके खण्ड के खण्ड करते जायँ तो चाहे उन अवयवों को हम कितना ही सूक्ष्म से सूक्ष्म

* वात्स्यायन ने न्यायदर्शन के चौथे अध्याय के प्रथम आह्निक के इक्कीसवें सूत्र के भाष्य में इस तरह लिखा है—"गुणविशिष्टमात्मान्तरमीश्वरः तस्यात्म-कल्पात् कल्पान्तरानुपपत्तिः।" क्या आत्मा का जीव और ईश्वर के रूप में भेद मानने की जड़ यही है?

क्यों न कर डालें अन्त को वे इतने सूक्ष्म अवश्य हो जायँगे कि फिर उनके खण्ड हम न कर सकेंगे। जिसका विभाग न हो सके—जो परम सूक्ष्म है वही परमाणु है। परमाणु उत्पन्न भी नहीं होता, उसका नाश भी नहीं होता। इस लिए वह नित्य है। दो परमाणुओं से एक द्व्यणुक और कई परमाणुओं से एक त्रसरेणु बनता है। इसी क्रम से स्थूल चीज़ों की उत्पत्ति हुई है।*

प्रशस्त पादाचार्य्य कहते हैं कि सकल-भुवनपति महेश्वर संहार करने की जब इच्छा करते हैं तब परमाणुओं से बने शरीर आदि विषय क्रमशः नष्ट हो जाते हैं। उस समय केवल चार तरह के परमाणु ही बाक़ी रह जाते हैं। प्रलय काल के बाद जब महेश्वर प्राणियों के भोग के लिए फिर सृष्टि करने की इच्छा करते हैं, तब अदृष्ट की प्रेरणा से पहले तो वायु के परमाणुओं में स्पन्दन उत्पन्न होता है और फिर वायु-परमाणु के समूह के परस्पर संयोग से द्व्यणुक आदि क्रम से महान् वायु उत्पन्न होकर आकाश में प्रवाहित होता है। बाद को इसी तरह से तेजस् परमाणु से बड़ा तेज और जलीय परमाणु से महान् सलिलराशि उत्पन्न होती है और पार्थिव परमाणु के संयोग से विपुला पृथ्वी की उत्पत्ति होती है। इस तरह चार महाभूतों के उत्पन्न होने के बाद महेश्वर के संकल्प से ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति होती है, उसमें से फिर ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं और वह सृष्टि का कार्य्य आरम्भ कर देते हैं।

यह बात पहले भी कही जा चुकी है कि यह मत प्रशस्त-पादाचार्य्य का है, मूल सूत्र में तो इसकी गन्ध तक भी नहीं है।

---

* वैशेषिक दर्शन के चौथे अध्याय का पहला आह्निक देखिए।

कुछ हो यह बात ते। माननी ही पड़ेगी कि वैशेषिक-दर्शन में भी ईश्वर का स्थान मुख्य नहीं बल्कि बहुत ही गौण है। वैशेषिक-दर्शनकार ने निःश्रेयस् की प्राप्ति की जो प्रणाली बताई है उसके साथ ईश्वर का बहुत ही कम सम्बन्ध है। ईश्वर हों वा न हों जीव के साथ उनका कुछ सम्बन्ध हो वा न हो वैशेषिक का उससे कोई हानि लाभ नहीं। सात पदार्थ (जिनमें ईश्वर नहीं है) और उनका साधर्म्य और वैधर्म्यज्ञान सलामत रहे—वैशेषिक उन्हों के तत्त्वज्ञान के बल से दुःख की अत्यन्त हानि करा कर मुक्ति दिला देगा। यही वैशेषिक का बताया मुक्तिपथ है। गीता का बताया मार्ग इससे बिलकुल अलग है। ईश्वर को छोड़ कर उस मार्ग पर चलना असम्भव है। क्या इसी लिए ही गीता में कहीं भी वैशेषिक का ज़िक्र तक नहीं आया ?

चौथा अध्याय ।

पूर्व मीमांसा ।

मीमांसा-दर्शन का संक्षिप्त विवरण ।

वेद में दो काण्ड हैं—कर्म्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड । संहिता और ब्राह्मण भाग तो कर्म्मकाण्ड, आरण्यक और उपनिषद् भाग ज्ञानकाण्ड कहलाता है । वेद के कर्म्मकाण्ड में जो विरोध हैं उनको समझाने के लिए मीमांसादर्शन की उत्पत्ति हुई है । मीमांसादर्शन की भित्ति महर्षि जैमिनि प्रणीत पूर्वमीमांसा सूत्र हैं । इसके बारह अध्याय हैं । पूर्वमीमांसा पर शबर स्वामी का प्रसिद्ध भाष्य है । कुमारिल भट्ट ने इसी भाष्य पर 'तन्त्रवार्त्तिक' नाम का विख्यात वार्तिक लिखा है । माधवाचार्य्य ने "जैमिनीय-न्यायमाला-विस्तर" में मीमांसादर्शन के अधिकरणों की बड़ी अच्छी व्याख्या की है । आपोदेव का "मीमांसान्यायप्रकाश" और लौगाक्षि भास्कर का 'अर्थ-संग्रह' मीमांसादर्शन के सम्बन्ध में सुप्रचलित प्रकरण-ग्रन्थ है ।

मीमांसादर्शन के मत में वेद का कर्म्मकाण्ड-भाग ही सार्थक है—ज्ञानकाण्ड निरर्थक है । "आम्नायस्य क्रियार्थत्वात् आनर्थ-क्यम् अतदर्थानाम्" (मी० सू० १ । २ । १) वेद कर्म्म को ही

प्रतिपादन करता है, इसलिए उसमें जितना ज्ञान का अंश दिखाई देता है वह सब निरर्थक है। इसके मत में उपनिषद् में बताया गया सत्यसार केवल अर्थवाद है "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म," "अयमात्मा ब्रह्म," "तत्त्वमसि" आदि वाक्य यदि वेद में न होते तो अच्छा था। मीमांसक कहते हैं कि वेद में जहाँ तहाँ आत्मा का जो वर्णन हुआ है वह केवल इसी बात को दिखाने के लिए है कि आत्मा शरीर से भिन्न है। इस तरह आत्मा का प्रतिपादन करके जीव को स्वर्गादि अदृष्ट फल की प्राप्ति के अर्थ यागकर्म्म करने के लिए प्रवर्त्तित करना ही इसका उद्देश है* ।

मीमांसादर्शन के मत में† वेद नित्य अभ्रान्त और अपौरुषेय हैं। वेद को किसी ने रचा नहीं। ऋषि केवल मन्त्रद्रष्टा हैं। वेद चिरकाल से हैं और चिरकाल तक रहेंगे। वेद का प्रामाण्य स्वतः-सिद्ध है, वेद की सत्यता प्रमाण करने के लिए किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं।

वेद जीव के हित के लिए धर्म्म का प्रतिपादन करते हैं। धर्म्म क्या है ? यज्ञ आदि। "यजते स्वर्गकामः" "स्वर्गकामना के लिए यज्ञ करता है।" इसी तरह के उपदेश से वेद जीव को यज्ञ करने की प्रेरणा करता है। जो विषय दिखाई पड़ते हैं—उनकी

---

* "शेषत्वात् पुरुषार्थवादो यथाऽन्येषु इति जैमिनिः।"

ब्रह्मसूत्र ३ । ४ । २

† वेद की नित्यता प्रतिपादन करने के लिए मीमांसादर्शन में बड़ी योग्यता से शब्द का नित्यत्व प्रतिपादन किया है। प्रसङ्ग आने पर मीमांसा की बड़ी बढ़िया युक्तियों का परिचय दिया जायगा।

शान्ति के लिए जीव स्वयं उपाय करता है। जिस तरह जीव भूख प्यास दूर करने के लिए अन्न-जल संग्रह कर लेता है। किन्तु जो विषय अदृष्ट हैं—जैसे स्वर्ग आदि—उनके पाने का उपाय जीव किस तरह आविष्कार कर सकता है ? पर जीव दुःखमय संसार को त्याग कर सुखमय स्थान लाभ करने के लिए व्याकुल है। सांसारिक उपाय से उस उद्देश की सिद्धि नहीं हो सकती। इसी लिए वेद कृपा करके जीव को उपदेश देते हैं—"स्वर्गकामो यजते" 'स्वर्गप्राप्ति के लिए यज्ञ का अनुष्ठान करो।' ऐसा करने से निश्चय स्वर्गप्राप्ति होगी। स्वर्ग सुखों का धाम है; उस जगह दुःख का लेश भी नहीं, वहाँ इच्छा करते ही सुख मिल जाता है।

"यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।
अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पदम्॥

'जिस सुख में दुःख का मिलान नहीं, जो सुख बाद को दुःख में नहीं बदल जाता, जो सुख इच्छा मात्र से मिल जाता है स्वर्ग में वैसा ही सुख मिलता है।' यज्ञ के द्वारा इस स्वर्ग की प्राप्ति होती है। कारण, यज्ञ का फल अपूर्व (transcendental) है; "यजते जातमपूर्वम्।" यज्ञ द्वारा अमृतत्व की प्राप्ति की जाती है। "अपाम सोमममृता अभूम" हमने सोमपान करके अमरत्व प्राप्त कर लिया है।

वेद कहते हैं:—"अक्षय्यं हि वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति।" चार महीने तक यज्ञ करने वाले को अक्षय पुण्य मिलता है।" "सर्वान् लोकान् जयति मृत्युं तरति पाप्मानं तरति ब्रह्महत्यां तरति योऽश्वमेधेन यजते।" अश्वमेध यज्ञ के फल से

यजमान सब लोकों को जय कर लेता है, मृत्यु को तर लेता है और ब्रह्महत्या से भी उत्तीर्ण हो जाता है। उस समय वह यह भी कह सकता है "किं नूनं अस्मान् कृणवत् अरातिः।" शत्रु हमारा क्या कर सकता है ? "किमुधूर्त्तिरमृतमर्त्तस्य।" मनुष्य होकर मैं अमर हो गया; बुढ़ापा अब मेरा क्या कर सकता है ?

पूर्वमीमांसा के मत में वेद पाँच प्रकार का है। (१) विधि (२) मन्त्र (३) नामधेय (४) निषेध और (५) अर्थवाद।

१। विधि—Injunction। जिस वेदवाक्य से अज्ञात विषय का ज्ञापन हो उसको विधि कहते हैं। जैसे 'स्वर्गकामो यजेत।' पूर्वमीमांसा के मत में विधि-वाक्य ही वेद का सार भाग है।

विधि के भी चार भेद हैं—उत्पत्तिविधि, विनियोगविधि, प्रयोगविधि और अधिकारविधि। जो विधि सिर्फ़ कर्म्म के स्वरूप का ही विधान करे—उसको उत्पत्तिविधि कहते हैं; जैसे 'अग्निहोत्रं जुहोति' अग्निहोत्र होम करना चाहिए। होम करने के लिए इतना जानना ही काफ़ी नहीं है। किस तरह किस उद्देश से और किन चीज़ों से होम करना चाहिए इन सब बातों को जानने की भी ज़रूरत है। इन बातों को ही विनियोगविधि बताती है। जैसे—"दध्ना जुहोति" दही से हवन करो "इन्द्राग्नी इदं हविः" "इन्द्र और अग्नि के लिए यह हवि है।" यज्ञानुष्ठान के यहाँ तक जान लेने पर भी और कुछ जानना बाक़ी रह जाता है। बाद को किस किस तरह यज्ञाङ्ग का अनुष्ठान किया जायगा—यह भी जानना ज़रूरी है। यह बात 'प्रयोगविधि' बतायगी। जैसे—"अग्निहोत्रं जुहोति यवागूं पचति" यहाँ अग्निहोत्र होम और यवागू पाक—इन दो क्रियाओं

का उपदेश दिया गया है। प्रयोगविधि की सहायता से यह बात मालूम होती है कि कौन विधि पहले और कौन विधि बाद को अनुष्ठान में लानी चाहिए। यह बात जान कर भी पूरा काम न चला। क्योंकि किसको कौन यज्ञ करना चाहिए—यह बात जाने बिना यज्ञानुष्ठान नहीं बन सकता। 'अधिकारविधि' यही बात हमको बताती है। क्योंकि जिसको जिस कर्म्म का अधिकार है वह उसको ही कर सकता है दूसरे को नहीं। जैसे—"राजा राजसूयेन स्वराज्यकामो यजेत।" इससे मालूम होता है कि राजा को छोड़ कर और कोई राजसूय यज्ञ का अधिकारी नहीं है।

मीमांसकों ने जहाँ विधि का विचार किया है वहाँ पर नियम और परिसंख्या का भी उल्लेख किया है। "श्राद्धे भुञ्जीत पितृसेवितम्।" "श्राद्ध में बचा हुआ भोजन करना चाहिए।" इसको नियमविधि कहते हैं। जिस विषय में मनुष्य की रागवश प्रवृत्ति हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती है—उस विषय में प्रवृत्ति पैदा करने के लिए ही नियमविधि का प्रयोजन है। 'श्राद्ध में बचा भोजन करना चाहिए' यह विधि यदि न होती तब बहुत सम्भव था कि श्राद्ध करने वाला स्वयं भोजन कर लेता या उस दिन भोजन ही न करता। पर चाहिए था श्राद्ध से बचा हुआ भोजन करना। इसलिए, उसमें प्रवृत्त करने के लिए इस विधि की आवश्यकता हुई। इसी तरह "ऋतौ भार्य्यां उपेयात्" भी नियमविधि है। पर जहाँ मनुष्य स्वतः ही प्रवृत्त होता है वहाँ परिसंख्याविधि के द्वारा उसको सङ्कोचित किया जाता है। जैसे "प्रोक्षितं मांसं भुञ्जीत।' 'प्रोक्षित मांस खाओ।' मांस-भोजन में मनुष्य की

स्वतः प्रवृत्ति है—उसमें प्रेरणा करने की ज़रूरत नहीं है। इस परिसंख्याविधि के द्वारा यही उपदेश किया गया कि यदि मांस भक्षण करो तब यह नहीं जैसा तैसा सब तरह का मांस खा जाओ। अगर खाओ तो मन्त्र द्वारा संस्कार किया गया मांस ही खाओ ।

२। मन्त्र—"अग्निमीले पुरोहितं" वेद का संहिता अंश प्रधानतः इसी मन्त्र द्वारा गठित है। मीमांसकों के मत में मन्त्र यज्ञ के उद्दिष्ट देवताओं के स्मारक हैं।

३। नामधेय—नामधेय का उद्देश है विधेय विषय को संकोच करने का। जैसे, "उद्भिदा यजेत पशुकामः" "चित्रया यजेत पशुकामः" यहां उद्भिद और चित्राद्वारा साधारण यज्ञविधि को बहुत कुछ सङ्कुचित कर दिया है। हर एक यज्ञ से काम की सिद्धि नहीं होगी, उद्भिद और चित्रा नामक यज्ञ से उद्देश्य सिद्ध होगा—और तरह के यज्ञ से होगा नहीं।

४। निषेध—निषेध-वाक्य द्वारा पुरुष को किसी काम के करने से रोका जाता है। जैसे, "कलञ्जं न भक्षयेत्" कलञ्ज (विषाक्त तीर से मारा गया मृग) मत खाओ। "मा दिवा स्वाप्सीः" 'दिन में मत सोओ' इन वाक्यों में कलञ्ज-भक्षण और दिन में शयन का निषेध किया है।

५। अर्थवाद—जिस वाक्य से विधि या निषेध की प्रशंसा या निन्दा की जाय उसी को अर्थवाद कहते हैं। अर्थवाद तीन तरह का है:—गुणवाद, अनुवाद और भूतार्थवाद। गुणवाद का उदाहरण—"आदित्यो यूपः।" 'सूर्य कभी यूप नहीं हो सकता'

इसका मतलब हुआ कि यूप (यज्ञ-काष्ठ) सूर्य्य की तरह उज्ज्वल है। अनुवाद—जैसे, "अग्निर्हिमस्य भेषजम् ।" 'अग्नि हिम की औषध है ।' यह बात हम पहले से भी जानते थे, वेद में यह न लिखा होता तो भी कोई हानि नहीं थी, इसी लिए इसको अर्थवाद कहते हैं। भूतार्थवाद—जैसे, "इन्द्रो वृत्राय वज्रम् उदच्छयत्" 'इन्द्र ने वृत्र पर वज्र उठाया ।' मीमांसक इस तरह यह सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं कि वेद सीधे रूप से या फेर से यज्ञ रूप धर्म्म को ही सिद्ध करते हैं।

इन्द्र आदि देवताओं के लिए यज्ञ किया ज़रूर जाता है पर मुख्य यज्ञ ही है न कि देवता । देवता तो गौण हैं—वे प्रयोजक नहीं हैं।* क्योंकि मीमांसा देवताओं का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं मानती। देवता मन्त्रात्मक हैं। मन्त्र में जिस तरह शब्द रक्खे हैं—वे ही देव-स्वरूप हैं। उस स्वरूप में—उस क्रम में ज़रा सा हेर फेर कर देने से ही मन्त्र निष्फल हो जाते हैं। "अग्निमीले पुरोहितम् ।" इस मन्त्र में अग्नि शब्द की बजाय यदि वह्नि शब्द रख दिया जाय या "ईले अग्निं पुरोहितम्" इस तरह ज़रा उलट दिया जाय तो वह बिलकुल निष्फल हो जायगा—उससे कोई फल नहीं निकलेगा।

---

* देवता वा प्रयोजयेत् अतिथिवत् भोजनस्य तदर्थत्वात्—

मीमांसादर्शन ९ । १ । ६ ।

"अपिवा शब्दपूर्वत्वात् यज्ञकर्म्म प्रधानं स्यात् गुणत्वे देवता श्रुतिः ।"

मीमांसादर्शन ९ । १ । ९ ।

तस्मात् देवता न प्रयोजिका इति—

शङ्करभाष्यम् ॥

मीमांसक निरीश्वरवादी हैं । वे वेद को नित्य और अभ्रान्त ज़रूर मानते हैं पर वेद ईश्वर-वाक्य है—यह बात स्वीकार नहीं करते । मीमांसादर्शन में कहीं भी ईश्वर का वर्णन नहीं मिलता । इसी लिए "विद्योन्मादतरङ्गिणी" के ग्रन्थकार ने मीमांसकों का परिचय देते हुए एक जगह लिखा है "वे ईश्वर नहीं मानते । जगत् का कोई बनाने वाला, रक्षा करने वाला और नाश करने वाला है—यह बात वे स्वीकार नहीं करते । उनके मत में जीव अपने कर्म्मों के अनुसार फल भोग करता है, उसमें ईश्वर का कोई सम्पर्क नहीं है ।"*

ज्ञानवादी कर्म्मकाण्ड के विरोधी हैं । वे कहते हैं कर्म्म के द्वारा श्रेयो-लाभ नहीं होता—हो भी नहीं सकता । "न कर्म्मणा न प्रजया धनेन, त्यागेनैकेन अमृतत्वमानशुः"† 'अमरत्व लाभ करने का उपाय न कर्म्म है, न सन्तान है न धन है—है केवल त्याग ।' वे कहते हैं कि कर्म्म का फल चिरस्थायी नहीं; भोग के द्वारा कर्म्म का नाश होने पर कर्म्मी अवश्य गिरेगा । अतएव जो लोग कर्मों को श्रेयोलाभ का उपाय समझते हैं—वे मोहान्ध हैं ।

---

* महामहोपाध्याय महेशचन्द्र न्यायरत्न अपने सम्पादित मीमांसादर्शन की भूमिका में लिखते हैं—

"But, though dealing so largely with the sacred scriptures of the Hindus and thus commanding a large share of their respect, oddly enough, it propounds a godless system of religion. The main drift of its arguments is to shew that, if bliss be the fruit of good works, the interposition of a deity is simply superfluous."

† महानारायणोपनिषद् । १० । ५

"प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म्म ।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढाः जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति ।"

मुण्डक १ । २ । ७ ।

अविद्यायां बहुधा वर्त्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः ।
यत्कर्म्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात् तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते ।

मुण्डक १ । २ । ६ ।

'१८ आदमियों से किया जाने वाला यह यज्ञरूप कर्म्म मज़बूत नहीं है । जो मूढ़ इसको अच्छा बताते हैं वे जरामरण के हाथ में फँसते हैं ।'

'अनेक तरह के अज्ञान में फँसे हुए आदमी कर्म्मानुष्ठान करके अपने को कृतार्थ समझते हैं—किन्तु तत्त्वज्ञान के अभाव के कारण कर्म्म के नाश होने पर वे फिर स्वर्ग से नीचे को गिरते हैं ।'

इसी लिए कर्म्मफल चिरस्थायी नहीं अतएव कर्मी का पतन अवश्यम्भावी है । कर्म्म के द्वारा भी अमरत्व-प्राप्ति की बात सुनी ज़रूर जाती है—पर वह अमरत्व आपेक्षिक है—चिरस्थायी नहीं है । उस अमरत्व की परमायु बस प्रलय तक है ।

आभूतसंप्लवं स्थानं अमृतत्वं हि भाष्यते ।

विष्णुपुराण, २ । ८ । ६० ॥

"प्रलय पर्य्यन्त अवस्थान को ही अमरत्व कहते हैं ।"

कर्म्मफल नाश होने वाला है सिर्फ़ यही बात नहीं और भी उसके कुछ तारतम्य हैं । कर्मी अपने अपने थोड़े अच्छे, बहुत अच्छे कर्म्मों के अनुसार ऊँचे नीचे लोकों को प्राप्त करते हैं ।*

---

* वाचस्पति मिश्र लिखते हैं—"ज्योतिष्टोमादयः स्वर्गमात्रसाधनं वाजपेयादयः स्वाराज्यस्येत्यतिशययुक्तत्वम् इति ।" सांख्यतत्त्वकौमुदी, २ ।

दूसरे की उन्नति को देख कर स्वर्गवासी भी दुःखानुभव किया करते हैं ।†

कर्म्म का एक और भी बहुत बड़ा दोष है और वह यह कि कर्म्म, बन्धन का कारण है । "कर्म्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च प्रमुच्यते ।" 'जीव कर्म्म द्वारा बद्ध होता है और ज्ञान द्वारा मुक्तिलाभ करता है ।' चाहे जीव पुण्य करे या पाप उसका फल उसको अवश्य ही भोगना पड़ता है ।

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म्म शुभाशुभम् ।
नाभुक्तं क्षीयते कर्म्म कल्पकोटिशतैरपि ॥

'बिना भोग किये सौ करोड़ कल्प पर्य्यन्त भी कर्म्म का नाश नहीं होता ।' ज़रा सा भी कर्म्म जब तक बाक़ी है उसको भोगने के लिए जीव को संसार में आना पड़ेगा ।

"पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन पापम् उभाभ्यामेव मनुष्यलोकम् ।"

प्रश्नोपनिषद्, ३ । ७ ।

'जीव को पुण्य का फल भोग करने के लिए पुण्य-लोक में, पाप का फल भोग करने के लिए पाप-लोक में और पाप, पुण्य दोनों का फल भोग करने के लिए मनुष्य-लोक में गमन करना पड़ता है ।' इसलिए ज्ञानवादी कहते हैं कि जो कर्म्म इतनी बुराइयों का घर हैं—उनसे बचना ही भला है । अर्थात् ज्ञानवादियों के मत में सब तरह के कर्म्मों का त्याग ही बढ़िया मार्ग है ।

---

† अतिशयो विशेषस्तेन युक्तः । विशेषगुणदर्शनात् इतरस्य दुःखं स्यात् ।
सांख्यकारिका, २ गौड़पादभाष्य ।

पाँचवाँ अध्याय ।

पूर्वमीमांसा ।

मीमांसादर्शन और गीता ।

कर्म्मानुष्ठान और कर्म्मसंन्यास इन दो मतों के विषय में गीता का क्या उपदेश है ? पहले पहल तो गीता में भी हम कर्म्म की निन्दा पाते हैं । भगवान् वेद के कर्म्मकाण्ड को लक्ष्य करके अर्जुन को उपदेश देते हैं:—

"त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।"

२ । ४५

"हे अर्जुन, वेद में तीन गुणों का ही वर्णन है तू इन तीनों गुणों से अतीत होजा ।"

गीता कर्म्मवादी मीमांसकों की ओर इशारा करती हुई कर्म्म की निन्दा करती है—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥

गीता, २ । ४२—४४ ।

"वेद के फलवाद में आसक्त होकर जो पुष्पित वाक्यों से कर्म्म की प्रशंसा करके कहते हैं कि इससे बढ़ कर और कुछ नहीं—वे अज्ञानी हैं।"

"जो कामात्मा हैं, स्वर्गपरायण हैं, भोग और ऐश्वर्य्य की क्रियाओं के साधक कर्म्म-काण्ड में अनुरक्त हैं उन फलासक्त मनुष्यों की बुद्धि समाधि में कभी स्थिर नहीं होती।"

गीता ने साफ़ साफ़ ही कर्म्मी का पतन प्रतिपादन किया है—

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देव भोगान् ॥
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं,
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्म्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते ॥ गीता, ६ । २०, २१ ॥

"कर्म्मकाण्डी सोमपान करने वाले याज्ञिक, पापों से छूट कर यज्ञ द्वारा स्वर्ग-प्राप्ति की कामना करते हैं। वे इन्द्रलोक में प्राप्त हो कर अनेक तरह के दिव्य भोगों को भोगते हैं।

'विशाल स्वर्गलोक में भोगों को भोग कर पुण्य क्षीण होने पर वे फिर मर्त्यलोक में आते हैं। इसी तरह सकाम-साधक बार बार आते और जाते हैं।'

कर्म्म बन्धन का कारण है—यह बात भी गीता में बार बार कही गई है—

"यज्ञार्थात् कर्म्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्म्मबन्धनः ।"

"ईश्वरोद्देश से जो कर्म्म किया जाता है उसको छोड़ कर और जितने कर्म्म हैं वे बन्धन के कारण हैं ।"

"अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ।"

"सकाम कर्म्म करने वाला फल में आसक्ति रखने के कारण बन्धन में पड़ता है ।"

गीता में यह भी लिखा है कि देवता के लिए जो यज्ञ किया जाता है उसका फल अच्छा नहीं होता । क्योंकि देवता को प्रसन्न करके देवता को ही प्राप्त करते हैं ईश्वर को नहीं । साधक का गम्यस्थान जब ईश्वर ही है तब देवता को भज कर विपथ में जाने से क्या लाभ ?

यान्ति देवव्रता देवान् पितृन् यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ।

गीता, ९ । २५

"जो देवताओं को भजते हैं वे देवताओं को प्राप्त होते हैं, जो पितरों को भजते हैं वे पितृगणों को प्राप्त होते हैं—जो भूत-गणों को भजते हैं—वे भूतों को प्राप्त करते हैं किन्तु जो मुझको भजते हैं वे मुझे ही प्राप्त होते हैं ।"

"देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ।

गीता, ७ । २३

"देवताओं को भजने वाले देवताओं को और मुझको भजने वाले मुझको प्राप्त होते हैं ।

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥

गीता, ९ । २३

"जो भक्त श्रद्धापूर्वक देवताओं का भजन करते हैं वे भी मेरी ही उपासना करते हैं किन्तु वह उपासना विधिपूर्वक नहीं होती।"

देवताओं को प्राप्त करने में और भगवान् को प्राप्त करने में कहना नहीं होगा—कि बहुत बड़ा भेद है। देवता को पाने का यही अर्थ है कि जिस देवता का भजन किया जाय उसका सालोक्य और कभी कभी सायुज्य-लाभ हो जाय। जो इन्द्र की उपासना करते हैं वे इन्द्रलोक को प्राप्त हो जाते हैं और यदि बहुत हुआ तो इन्द्र की सत्ता में उनकी सत्ता मिल जाती है, बस इससे अधिक नहीं। शास्त्रकार कहते हैं कि देवताओं का पतन भी होता है—

"बहूनीन्द्र सहस्राणि देवानाञ्च युगे युगे
कालेन समतीतानि कालोहि दुरतिक्रमः॥"*

'अनेक युगों में अनेक इन्द्र कालवश क्षय होते हैं। काल को कोई जीत नहीं सकता।'

अतएव, किसी देवता से सायुज्य-लाभ करने में कोई बड़ा लाभ नहीं। क्योंकि, देवता के पतन के साथ उसके उपासक का भी पतन होगा। तब फिर उसको संसार में आना पड़ेगा। गीता भी यही बात कहती है—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥ गीता, ८। १७
मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः।
गीता, ८। १५

---

* सांख्यकारिका की दूसरी कारिका पर गौड़पादभाष्य में उद्धृत वचन।

"हे अर्जुन, ब्रह्म लोक से भी जीव गिरता है पर मुझको पाकर उसका फिर पतन नहीं होता ।"

'महात्मा मुझको पाकर परमसिद्धि को प्राप्त हो जाते हैं फिर उनको दुःखों के घर रूप संसार में नहीं आना पड़ता ।'

तो क्या गीता यज्ञानुष्ठान का विरोध करती है ? गीता सकाम यज्ञ का तो ज़रूर विरोध करती है पर यज्ञ मात्र का विरोध नहीं करती । उसने जीव को यज्ञ में प्रवृत्त करने के लिए जहाँ तहाँ यज्ञ की प्रशंसा भी की है ।

> यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
> नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥
>
> गीता, ४ । ३१ ॥

'जो यज्ञ नहीं करता, उसका यह लोक भी नहीं, परलोक भी नहीं। जो यज्ञ में बचा भोजन खाते हैं वे ही सनातन ब्रह्म को प्राप्त करते हैं ।

> "यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः ।
> भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥
>
> गीता, ३ । १३

"जो अपने लिए भोजन पकाते हैं वे पापी हैं, पाप-भोजन करते हैं। पर जो यज्ञ से बचा हुआ भोजन करते हैं वे सब पापों से छूट जाते हैं ।"

इस सम्बन्ध में गीता का यही मत है कि जो यज्ञ स्वर्ग आदि को प्राप्त करने के लिए किया जाता है वह अच्छा नहीं । पर जो यज्ञ देवताओं के लिए पोषण, संचार-चक्र के प्रवर्त्तन के लिए किया जाता है वह अच्छा ही नहीं बल्कि उसका आचरण करना मनुष्य का कर्त्तव्य है ।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेषवोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥
देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥
इष्टान्भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥
गीता, ३ । १०—११—१२ ॥

"पूर्वकाल में प्रजापति ने जीव-सृष्टि के साथ ही यज्ञ को सृजन किया और जीवों को उपदेश दिया कि इस यज्ञ द्वारा ही तुम्हारी प्रजा-वृद्धि होगी । यह यज्ञ तुम्हारे लिए कामधेनु होगा । यज्ञ से तुम देवताओं को ख़ुश करो वे भी तुमको प्रसन्न रक्खेंगे । इस तरह तुम आपस में एक दूसरे का पोषण कर श्रेयो-लाभ करो । देवता, तुम्हारे यज्ञ करने से प्रसन्न होकर तुमको अभीष्ट फल देंगे । उनके दिये भोगों को उन्हें अर्पण न करके जो स्वयं भोग करेगा वह चोर कहलायगा ।"

इस बात का यही मतलब है कि देवलोक और नरलोक में बराबर आदान प्रदान चला करता है । देवता, अनेक तरह से वर्षा करके, धूप देकर, जल थल अन्तरिक्ष में अधिष्ठित रह कर जगत् का हित-साधन करते हैं । मनुष्य भी उनके इन उपकारों का कुछ न कुछ प्रत्युपकार कर ही सकता है । अर्थात् यज्ञ-द्वारा । यज्ञ के द्वारा जो अपूर्व फल की प्राप्ति होती है उससे देव-लोक की ज़रूर पुष्टि होती है । अतएव जिनके मन में देवताओं के लिए कृतज्ञता का भाव है उनको चाहिए कि वे यज्ञ द्वारा उनके ऋण को ज़रूर थोड़ा बहुत चुकायें ।

अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥ गीता ३। १४।
एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥ गीता, ३। १६।

'सारे प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं, अन्न अच्छी वर्षा होने से उत्पन्न होता है, अच्छी वर्षा यज्ञ से उत्पन्न होती है और यज्ञ कर्म्म से उत्पन्न होता है।'

'इस तरह चलने वाले चक्र की जो अवहेला करते हैं—इन्द्रिय-सुख पर वे जीव, वृथा ही अपना जीवन-भार वहन करते हैं।'

इस लिए गीता के मत में सुवृष्टि आदि प्राकृतिक व्यापार को ठीक ठीक निष्पन्न करने का उपाय यज्ञानुष्ठान ही है। सब को चाहिए कि यज्ञानुष्ठान द्वारा उस विषय को निर्विघ्न समापन होने दें। गीता इसी लिए सब को यथासाध्य यज्ञानुष्ठान करने के लिए उपदेश देती है।

यहाँ तक तो कर्म्मवाद के सम्बन्ध में गीता का क्या उपदेश है इसी बात की आलोचना हुई, अगले अध्याय में गीता में बताये अपूर्व "कर्म्मयोग" की यथा-सम्भव आलोचना की जायगी।

छठा अध्याय ।

कर्म्म और कर्म्मयोग ।

हमने देखा कि एक तरह के ज्ञानवदी साधक, कर्म्म-फल की भङ्गुरता, कर्म्मी का पतन, कर्म्म की बन्धन-योग्यता आदि दोषों को देख कर कर्म्मवर्जन करने का उपदेश करते हैं । इस श्रेणी के साधक अपने को कर्म्म-संन्यासी के नाम से प्रकट करते हैं । वे, नित्य, नैमित्तिक, और काम्य—किसी तरह के कर्म्म का अनुष्ठान नहीं करते । वे कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य सब तरह के कर्म्मों का ही वर्जन करते हैं ।

इनको लक्ष्य करके ही गीता कहती है—

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म्म प्राहुर्मनीषिणः ।

गीता, १८ । ३

'कोई कोई मनीषी कर्म्म को दोषयुक्त होने के कारण वर्जनीय कहते हैं ।'

किन्तु गीता इस मत को मानती नहीं—वह कहती है—

न कर्म्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥

गीता, ३ । ४ ।

'कर्म्म का अनुष्ठान किये बिना "नैष्कर्म्य" लाभ नहीं हो सकता । केवल संन्यास से ही सिद्धि प्राप्त नहीं होती ।

क्योंकि देखा जाता है जीव प्रायः देह को कर्म्म से विरत करके मन को कर्म्म में लगा देता है । बाहर से तो इन्द्रियों का संयम करता है पर भीतर से काम्य वस्तु का ध्यान करता रहता है । इस तरह के कर्म्म-संन्यासी को गीता मिथ्याचारी कहती है—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥

गीता, ३ । ६

'जो पुरुष कर्म्मेन्द्रिय को रोक कर मन में विषयों का स्मरण करता है—उस मूढ़ को मिथ्याचारी कहते हैं ।'

गीता के मत में जो पुरुष मन से इन्द्रियों को संयत करके कर्म्मेन्द्रियों से कर्म्मयोग का अनुष्ठान करता है—वही पुरुष प्रशंसा के योग्य है—

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्म्मेन्द्रियैः कर्म्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥

गीता, ३ । ७ ।

गीता फिर कहती है कि सम्पूर्ण रूप से कर्म्मों का त्याग मनुष्य के लिए मुमकिन् भी नहीं है । क्योंकि बिना कर्म्म किये मनुष्य एक क्षण भी नहीं रह सकता । प्रकृति के गुण, उससे इच्छा न रहते हुए भी—ज़बर्दस्ती कर्म्म कराते हैं;

नहि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्य्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥

गीता, १३ । ५

"नहि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।

गीता, १८ । ११

"देहधारी जीव कभी बिलकुल कर्म्मत्याग नहीं कर सकता।"

गीता के मत में कर्म्म में आसक्त होना जिस तरह बुरी बात है कर्म्म का छोड़ देना भी उसी तरह अच्छा नहीं है।

" मा कर्म्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि।"

गीता, २। ४७

'फल की आकांक्षा से भी कर्म्म मत करो और कर्म्मत्याग में भी आसक्त मत हो।'

इसलिए गीता कहती है—

"नियतं कुरु कर्म्म त्वं कर्म्म ज्यायो ह्यकर्मणः।"

गीता, ३। ८

'अकर्म्म से कर्म्म करना अच्छा है, इसीलिए तू बराबर कर्म करता रह।'

इस कर्म्म का रूप क्या है ? कर्म्म-काण्डियों के मत में तो इष्टापूर्त ही कर्म्म है। इष्ट से मतलब है अश्वमेध आदि यज्ञों से और पूर्त्त से वापी कूप तड़ाग का आशय है। इसी मत की ओर इशारा करती हुई गीता एक जगह कहती है—

"भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः।"

गीता, ८। ३

देवता के लिए जो द्रव्य दिया जाता है, जिससे भूतभावों का उद्भव होता है—उसी को कर्म्म कहते हैं। *

---

* विसर्गो विसर्जनं देवतोद्देशेन चरु पुरोडाशादेर्द्रव्यस्य परित्यागः। स एव विसर्गलक्षणो यज्ञः कर्म्मसंज्ञितः कर्म्मशब्दितः॥

शङ्करभाष्य।

किन्तु गीता कर्म्म की इस संकीर्ण संज्ञा का अनुमोदन नहीं करती । गीता के मत में सब तरह की क्रिया ही कर्म्म कहाती है । *

गीता कहती है—कर्म्म बन्धन का इसलिए कारण है कि जीव फल-प्राप्ति की आकांक्षा से आसक्त-चित्त से अहङ्कार-पूर्वक उसको करता है । किन्तु यदि जीव फल की इच्छा को छोड़ कर अनासक्त चित्त से क़र्त्तव्य समझ कर कर्म्म करे तब वह कर्म्म उसको नहीं बाँध सकता ।

"अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्नचाक्रियः ॥

गीता, ६ । १

'जो जीव, कर्म्म-फल की आकांक्षा को छोड़ कर कर्त्तव्य बुद्धि से कर्म्म करता है वही संन्यासी है, वही योगी है । कर्म्मत्यागी या अग्नि की परिचर्य्या न करने वाला असली संन्यासी नहीं है ।'

गीता कहती है जो जीव कर्म्म के विषय में राग द्वेष नहीं रखते वे ही सच्चे संन्यासी और वे ही द्वन्द्वातीत हैं ।

"ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥

गीता, ५ । ३ ।

फल-त्याग और आकांक्षा-वर्जन न हो तो फिर किस चीज़ का संन्यास किया जाय ? गीता के मत में संन्यास का अर्थ है—फल-संन्यास नकि कर्म्म-संन्यास ।

* गीता, ३ । ५, १८ । ११, २ । ४८, और ५ । ८—६

'यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगीभवति कश्चन ॥'

गीता, ६ । २

'हे पाण्डव, जिसको संन्यास कहते हैं वही योग, भी है । क्योंकि संकल्प संन्यास किये बिना कोई योगी नहीं बन सकता ।'

जल में कीड़े हैं इसलिए जल पीना नहीं चाहिए, हवा में भी कीड़े हैं इसलिए श्वास लेना नहीं चाहिए ठीक ऐसी ही वह बात होगी कि कर्म्मबन्धन का कारण है इसलिए कर्म भी नहीं करना चाहिए । यदि जल या वायु में दोष पैदा हो गया है तो चाहिए कि हम बुद्धि के साहाय्य से उसको साफ़ कर लें यह नहीं कि उनका त्याग करके निश्चेष्ट होकर आत्महत्या कर लें ।

इसी तरह यदि कर्म्म में वस्तुतः कोई दोष है तब उस दोष का परिहार कौशलपूर्वक करना चाहिए । यह उचित नहीं कि कर्म्मों के फल से भयभीत होकर अपने आपको जड़ पदार्थ बना लें ।

इसमें संदेह नहीं कि कर्म्म बन्धन का कारण ज़रूर होता है पर यदि वह बुद्धिमानी से किया जाय तो कर्म्म भी किया जा सकता है और उससे पैदा हुए बन्धन से भी छुटकारा मिल सकता है । इस "कर्म्मकौशल" को ही "कर्म्मयोग" कहते हैं ।

"योगः कर्म्मसु कौशलम् ।"

योगसंन्यस्तकर्म्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्म्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ॥

गीता, ४ । ४१ ।

"हे धनञ्जय, योग के द्वारा जिन्होंने कर्म्म-संन्यास किया है ज्ञान के द्वारा जिन्होंने संशय छिन्न कर लिये हैं ऐसे आत्मवान् पुरुष को कर्म्म कभी नहीं बाँध सकते।"

'योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्व भूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥

गीता, ५ । ७

योगयुक्त, विशुद्धात्मा, संयतात्मा, जितेन्द्रिय व्यक्ति—जिसका आत्मा सबके आत्मा के साथ मिल कर एक हो गया है—वह कर्म्म करके भी लिप्त नहीं होता।

गीता ने इसी कर्म्मयोग का प्रचार करके कर्म्म और अकर्म्म, कर्म्मानुष्ठान और कर्म्मसंन्यास इन दोनों का सामञ्जस्य कर दिया है। गीता के मत में कर्म्मयोग और कर्म्मसंन्यास—दोनों ही कल्याण के करने वाले हैं किन्तु कर्म्मसंन्यास से कर्म्मयोग ही अच्छा है। क्योंकि कर्म्मसंन्यास की मूल में स्वार्थपरता और कर्म्मयोग की मूल में सब जीवों की भलाई छिपी हुई है—

संन्यासः कर्म्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्म्मसंन्यासात्कर्म्मयोगो विशिष्यते ॥

गीता, ५ । २

जो साधनमार्ग में अग्रसर होकर जीवन्मुक्ति के अधिकारी हो गये हैं, यदि वे जगत् की भलाई के कर्म्म न करके सिर्फ़ अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए ही कर्म्मसंन्यास कर लें—अपनी मुक्ति को ही सब कुछ समझ बैठें तो क्या वे "आध्यात्मिक स्वार्थपरता" के दोष से बच सकते हैं? यदि वे कर्म्म न करें तो संसार का व्यापार

किस तरह चले ? मुक्त पुरुष ही तो जगत् की स्थिति के लिए विशेष विशेष अधिकार का भार वहन करते हैं। उनमें से कोई मनु, कोई सप्तर्षि, कोई इन्द्र, कोई चन्द्र, कोई वायु और कोई वरुण बन कर ईश्वर को संसार के पालनकार्य्य में सहायता देते हैं। भगवान् ने अपने कर्म करने के विषय में जो बात कही है उनके सम्बन्ध में भी वही बात कही जा सकती है।

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म्म चेदहम् ॥

गीता, ३ । २२—२४

"हे अर्जुन, तीन लोक में मुझको कुछ कर्त्तव्य नहीं, ऐसी कोई चीज़ नहीं जो मुझको मिली न हो—जिसके पाने के लिए मैं कर्म करूँ। फिर भी मैं कर्म्म करता हूँ । यदि मैं कर्म्म करना छोड़ दूँ तब मेरी देखादेखी और लोग भी कर्म्म-विमुख हो जायँ और ऐसा करने से उनका नाश हो जाय ।"

जिनका ज्ञान पक्का हो गया है—वही सच्चे कर्म्मयोगी हैं। उनके पक्ष में भी यह बात कही जा सकती है । जगत् में उनके लिए भी कुछ कर्त्तव्य कर्म्म नहीं, उनके लिए भी कोई वस्तु अप्राप्य नहीं, उनको भी किसी वस्तु से राग-द्वेष नहीं, फिर किस वस्तु के लिए वे कर्म्म करें ।

"यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥

गीता, ३ । १७—१८

'जो आत्मा में रहते हैं, आत्मा में तृप्त हैं, आत्मा में ही सन्तुष्ट हैं, उनको कोई कर्म्म नहीं। उनका कर्म्म और अकर्म्म दोनों में कोई स्वार्थ नहीं रहता। क्योंकि सारे भूतों में उसको कोई पदार्थ प्यारा नहीं।'

इसीलिए वह कर्म्म करने की इच्छा नहीं करता और त्याग करने के लिए भी उत्सुक नहीं होता।

"प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥

गीता, १४ । २२

'सत्व, रजस् और तमोगुण प्रवृत्त हों या निवृत्त हों, जिसका चित्त दोनों अवस्थाओं में एक सा रहता है—प्रवृत्त हों, तो द्वेष नहीं करता और निवृत्त हों तो इच्छा नहीं करता।' क्योंकि उनमें उसका कोई स्वार्थ नहीं होता है।

किन्तु स्वार्थ न होने पर भी वे भगवान् का अनुकरण करके जगत् का हित करने के लिए कर्म्मयोग द्वारा सदा कर्म्म किया करते हैं।

उनकी पवित्र आत्मा में से निकली शक्ति का पुण्यप्रवाह ईश्वर की ओर को धावित होता है। और यह शक्ति अध्यात्म-शक्ति में परिणत होकर जगत् के पालन-कार्य्य में जगदीश्वर की सहायता करने के लिए लग जाती है।

यह कर्म्मयोग किस तरह सीखा जाता है ?

कर्म्मयोग तक पहुँचने के लिए पहले तीन सीढ़ियों पर चढ़ना पड़ता है। वे सोपान ये हैं—पहला, फलों की आकांक्षा को छोड़ना। दूसरा, मैं करता हूँ यह अभिमान छोड़ना। तीसरा, ईश्वरार्पण। पहले दो उपदेश तो और शास्त्रों में भी मिलते हैं पर सर्वविध कर्म्मों को ईश्वरार्पण करने का उपदेश गीता का बिलकुल अपना उपदेश है।

प्रथम-फलाकांक्षा वर्जन के विषय में गीता कहती है—

कर्म्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

गीता, २ । ४७

'कर्म्म करने ही में तेरा अधिकार है कर्म्म फलों में आकांक्षा मत रखना।'

"तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म्म समाचर।"

गीता, ३ । १९

"इस लिए अनासक्त हो कर्तव्य समझ कर कर्म्म कर।"

एतान्यपि तु कर्म्माणि संग त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥

गीता, १८ । ६

"यज्ञ, तप और दान को त्यागना उचित नहीं। आसक्ति-रहित और फलाकांक्षा को छोड़ कर इनको करना बहुत अच्छा है।"

इस तरह जो कर्म्म कर सकते हैं वे ही यथार्थ में निष्काम कर्म्मी हैं। उनके सब कर्म्म कामना और संकल्प से हीन होते हैं। वे कर्म्म ज़रूर करते हैं पर वह कर्म्म उनका शरीर का व्यापारमात्र

ही होता है । उसके साथ उनके चित्त का ज़रा सा लगाव भी नहीं होता ।*

इसी तरह के निष्काम कर्म्मी को लक्ष्य करके गीता कहती है—

"यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥
त्यक्त्वा कर्म्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्म्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ॥
निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥

गीता, ४ । १९—२१ ।

'जिस पुरुष के सम्पूर्ण उद्योग कामनाओं से रहित हैं और जिसके सम्पूर्ण कर्म्म ज्ञान रूप अग्नि से भस्म हो गये हैं ज्ञानी लोग उसी को पण्डित कहते हैं ।'

'जो पुरुष कर्म्मों के फल में आसक्ति को त्याग कर सदा तृप्त

---

* गीता के अठारहवें अध्याय में सात्विक कर्त्ता और सात्विकत्याग के प्रसंग में इस बात का फिर उल्लेख हुआ है—

कार्य्यमित्येव यत्कर्म्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
संगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्विको मतः ॥ गीता, १८ । ९

'हे अर्जुन, आसक्ति और फल-त्याग करके कर्त्तव्य समझ कर जो कर्म्म किया जाता है वही सात्विक त्याग है ॥

मुक्त संगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्त्ता सात्विक उच्यते ॥ गी०, १८ । २६

'जो कर्त्ता, आसक्ति-शून्य, अभिमानरहित, धैर्य्य और उत्साहशील है और सिद्धि और असिद्धि में एक सा रहता है वही सात्विक कर्त्ता है ।'

और निराश्रय रहता है वह पुरुष कर्म्म करता हुआ भी मानो कुछ नहीं करता।'

'जिसने सम्पूर्ण कामनाओं को त्याग दिया है, जिसका चित्त और आत्मा स्वाधीन है, जो केवल शरीर की स्थिति के लिए ही कर्म्म करता है, वह पुरुष कर्म्म करते हुए भी पाप का भागी नहीं होता।'

"असक्तो ह्याचरन् कर्म्म परमाप्नोति पूरुषः।"

गीता, ३। १६

"बिना आसक्त हुए कर्म्म करने से जीव परम पद को प्राप्त कर लेता है।"

जब फल में आकांक्षा नहीं तब कर्म्मी के लिए सिद्धि, असिद्धि, जय, पराजय, सफलता, निष्फलता बराबर हो जाती हैं। इसीलिए भगवान्, अर्जुन को उपदेश देते हैं—

"सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैनं पापमवाप्स्यसि॥ गीता, २। ३८
योगस्थः कुरु कर्म्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समोभूत्वा समत्वं योग उच्यते॥ गीता, २। ४८

'सुख दुःख, लाभ हानि, हार जीत को बराबर समझ कर युद्ध में यदि प्रवृत्त होगे तो तुमको पाप स्पर्श नहीं करेगा'। 'आसक्ति छोड़ कर सिद्धि और असिद्धि को बराबर समझ योग में स्थिर होकर कर्म्म करो। इस समानता को ही योग कहते हैं।'

हम अनेक स्थलों में यह समझते हैं कि हम निष्काम भाव से कर्म्म कर रहे हैं पर यह बात ठीक नहीं। सकाम और निष्काम

कर्म्म जाँचने का एक यन्त्र है। वही कर्म्म निष्काम भाव से किया गया समझिए जिसकी सिद्धि असिद्धि हमको बराबर प्रतीत हो। सिद्धि द्वारा हम फूल कर आनन्द में मग्न न हो जायँ और असिद्धि द्वारा हम विषाद से म्रियमाण न हो जायँ। जब हमको अपने अनुष्ठित कर्म्म की सफलता निष्फलता बराबर मालूम होने लगे तब समझना चाहिए कि निष्काम कर्म्म की पहली सीढ़ी से हम ऊपर चढ़ आये।*

---

* कुछ आदमी कहते हैं कि जब कर्म्म में आसक्ति नहीं और कर्म्म-फल की आकांक्षा नहीं, तब कर्म्म किया किस उद्देश्य से जाय? वे निष्काम कर्म्म को उद्देश (motive) हीन कर्म्म समझते हैं और इसी लिए निष्काम कर्म्म करने को असम्भव व्यापार मानते हैं। पर निष्काम कर्म्म उद्देशहीन कर्म्म नहीं है। बिना उद्देश के कोई कर्म्म नहीं हो सकता।

"प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्त्तते।"

मूढ़ मनुष्य भी बिना उद्देश के कर्म्म नहीं करता।'

निष्काम कर्म्मी और सकाम कर्म्मी—दोनों ही किसी न किसी उद्देश से कर्म्म करते हैं। भेद इतना है कि निष्काम कर्म्मी फल की इच्छा नहीं करता इसी लिए उस कर्म्म की सफलता या निष्फलता उसको एक सी प्रतीत होती है। सकामकर्म्मी, फल में इच्छा रखता है इसलिए कर्म्म की सफलता उसको बहुत प्यारी लगती है और निष्फलता बहुत बुरी।

और भी एक बात है। कर्त्तव्य बुद्धि (duty) की प्रेरणा से कर्म्म करना और कर्म्मयोग एक बात नहीं है। कर्त्तव्य-पालन में एक तरह की कठोरता है। यह काम हमको करना चाहिए—इसलिए चाहे वह अनिष्ट है या प्रतिकूल है—पर हम उसको ज़रूर करेंगे। इस तरह औचित्य-ज्ञान से किये गये कर्म्म को 'कर्त्तव्य-पालन' कहते हैं। कर्त्तव्य-पालन करने में फलाकांक्षा का कभी कभी अभाव होता है पर फल के ऊपर साग्रह दृष्टि ज़रूर रहती है। और अन्त में प्रायः मन प्रसन्न होने के बजाय दुखी हो जाता है। कर्म्मयोग में कठोरता का लेश

जिसको सिद्धि और असिद्धि में तुल्य ज्ञान है, जिसके लिए लाभालाभ बराबर है गीता ऐसे साधक को 'योगारूढ़' कहती है—

'यदाहि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढ़स्तदोच्यते॥"

गीता, ६। ४

'जब साधक सब संकल्पों का संन्यास करके, विषय और कर्म्म में आसक्त नहीं होता है उस समय उसको योगारूढ़ कहते हैं।'

गीता के मत में असली संन्यास यही है।

"काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥"

गीता, १८। २

'तत्त्वदर्शी काम्य कर्म्म के त्याग को ही संन्यास कहते हैं, बुद्धिमान् पुरुष सब कर्म्म-फलों के त्याग को ही त्याग कहते हैं।'

"यस्तु कर्म्म-फलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते।"

गीता, १८। ११

'जो कर्म्म-फल का त्याग करने वाला है वही सच्चा त्यागी है।'

जिनका लाभ अलाभ में, सिद्धि असिद्धि में समान ज्ञान है वे कर्म्म का अनुष्ठान करके भी कर्म्म-पाश में बद्ध नहीं होते।

भी नहीं। वह तो बहुत ही रुचिकर पदार्थ है। दीन दुखी का दुःख दूर करने में दाता को जो आनन्द आता है, बच्चे को दूध पिलाने में माता को जो सुख मिलता है, कर्म्मयोग के अनुष्ठान में अनुष्ठाता को भी उसी तरह का आनन्द आता है।

"समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥"

गीता, ४ । २२

कर्म्मयोग का प्रथम सोपान यही है ।

द्वितीय । कर्म्मयोग का दूसरा सोपान—कर्त्तृत्वाभिमान परित्याग है ।

कर्म्म, पाश-रूप में बदल कर मनुष्य को बाँध लेता है—उसका प्रधान कारण जीव की अहङ्कार-बुद्धि है । हम कोई कर्म्म करें,—उसके साथ आत्मा का योग कर दें । हम सोचते हैं यह कर्म्म हमने किया । इसका यह फल होता है कि कर्म्म आत्मा को बाँध लेता है और उस कर्म्म का फलाफल उसको भोगना पड़ता है । इसी लिए कहा है—

"नाभुक्तं क्षीयते कर्म्म कल्पकोटिशतैरपि ।
अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म्म शुभाशुभम् ॥"

'बिना भोग के सौ करोड़ कल्प तक भी कर्म्म का नाश नहीं होता । जो कुछ किया है उसका फल ज़रूर भोगना पड़ेगा ।'

इस भोग का कारण कर्त्तृत्वाभिमान है—"मैं करता हूँ" यही अहङ्कार भोग का कारण है । जीव अभिमान के वशीभूत होकर सोचता है "मैं ही कर्त्ता हूँ" किन्तु वास्तव में जीव अकर्त्ता है । कायिक और मानसिक दोनों तरह के कर्म्म ही सत्व, रजस् और तमोगुण की प्रेरणा से सिद्ध होते हैं । विवेक-बुद्धि से विचार करने पर मालूम होता है कि आत्मा कर्त्ता नहीं है—वह तो स्वतन्त्र है । निष्काम कर्म्मी ही इस बात को समझते हैं । इसी लिए वे अपने को 'कर्त्ता' नहीं समझते । वे जानते हैं—

'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते॥'

गीता, ३। २७

'प्रकृति के गुणों से ही सब कर्म्म सिद्ध होते हैं, किन्तु अहङ्कार के वशीभूत होकर मूढ़ आदमी स्वयं अपने को कर्त्ता मान बैठता है।'

तत्रैवं सति कर्त्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥"

गीता, १८। १६

"जिस अवस्था में बुद्धि अपरिपक्व होने के कारण जो अपने को कार्य्य करने वाला समझता है, वह मूर्ख कुछ नहीं जानता।"

इस झूठे कर्त्तृत्वाभिमान को छोड़ कर प्रकृति को यथार्थ कर्त्ता और अपने को केवल द्रष्टा समझना चाहिए।

"नान्यं गुणेभ्यः कर्त्तारं यदा द्रष्टाऽनुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥

गीता, १४। १६

'जब द्रष्टा विवेक से जान लेता है कि जितने कार्य्य होते हैं उनके करने वाले गुण ही हैं और यह जानता है कि इन गुणों के परे एक सद्वस्तु है तब वह मेरे स्वरूप से मिल जाता है।'

"प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्त्तारं स पश्यति॥

गीता, १३। २६

'प्रकृति की सामर्थ्य से ही सब कर्म्म हो रहे हैं, यह जो जानता है और जो अपने को करने वाला नहीं समझता, वही ठीक जानता है।'

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्म्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥

गीता, ३ । २८

"पर, जो गुण और कर्म्म का वास्तविक तत्त्व जानता है—वही समझता है कि गुणों की प्रवृत्ति गुणों की ओर होती ही है अर्थात् इन्द्रियों का खिँचाव विषयों की ओर ही होता है और इसी व्यापार को कर्म्म कहते हैं; इसी लिए वह कर्म्म से अलिप्त रहता है।"

गीता अन्यत्र कहती है—

"नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥
प्रलपन्विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥ गीता, ५-९ ।

योग-युक्त पुरुष ही तत्त्व जानता है; वह जानता है कि मैं—कुछ नहीं करता। देखते, सुनते, छूते, सूँघते, खाते, सोते, सांस-लेते, बोलते, दान देते और लेते, आँख खोलते और बन्द करते भी मनुष्य की इन्द्रियाँ सब अवस्थाओं में अपने विषयों में प्रवृत्त रहती हैं, यह बात वह अच्छी तरह जानता है।

गीता फिर कहती है—

"यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमान् लोकान् न हन्ति न निबध्यते ॥

गीता, १८ । १७

'अहङ्कार के बिना और कर्म्म में आसक्त न होकर यदि कोई

इन लोगों को मार डाले, तो भी उसको हत्या का दोष नहीं लगेगा और वह बद्ध भी न होगा।'

इस तरह का निरभिमान और निर्लिप्त व्यक्ति ही सच्चा ज्ञानी है। ऐसे ज्ञानी को कर्म्म स्पर्श नहीं कर सकता।

"यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवम्,
एवं विदि पापं कर्म्म न श्लिष्यते।"

छान्दोग्य, ४ । १४ । ३

"जिस तरह कमल के पत्ते को जल नहीं स्पर्श करता उसी तरह ज्ञानी को पाप पुण्य रूप कर्म्म भी नहीं छूता।"

ज्ञानी जिन कर्मों को करता है वे भी उसे स्पर्श नहीं करते—यह बात तो है ही—उसके सञ्चित कर्म्म भी नष्ट हो जाते हैं।

"यथैधांसि समिद्धोग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा॥

गीता, ४ । ३७

'जैसे प्रदीप्तअग्नि काठ को जला कर भस्म कर डालती है, उसी प्रकार यह ज्ञान रूप अग्नि सब कर्मों को जला डालती है।'

"तद् यथेषीकातूलम् अग्नौ प्रोतं प्रदूयेत एवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते।" छान्दोग्य, ५ । २४ । ३

'जिस तरह तिनका अग्नि में पड़ते ही भस्म हो जाता है उसी प्रकार ज्ञानी के समस्त पाप भस्म हो जाते हैं।'

"क्षीयन्ते चास्य कर्म्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।"

मुण्डक, २ । २ । ८ ।

'उस परम वस्तु को देख कर सब कर्म्म क्षय हो जाते हैं ।'*

इस लिए ज्ञानी को फिर संसार में आना नहीं पड़ता । ज्ञान पाकर मनुष्य निर्वाण प्राप्त करता है ।

"विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निस्पृहः ।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति ॥"

गीता, २ । ७१

"जो पुरुष सब कामनाओं को छोड़ कर इच्छारहित हो जाता है, जिसमें मैं और मेरा भाव नहीं रहता उसी को शान्ति मिलती है ।" क्योंकि ज्ञानी को रागद्वेष नहीं होता इसी लिए सब इन्द्रियाँ उसके वश में होती हैं । विषय-भोग में भी उसकी शान्ति भङ्ग नहीं होती ।

"रागद्वेषविमुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥

गीता, २ । ६४

---

* ब्रह्मसूत्र में भी इस विषय का प्रतिपादन किया गया है—
"तदधिगम उत्तरपूर्व्वार्धयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात् ।"
"इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पातेतु ।"

ब्रह्मसूत्र, ४ । १ । १३—१४

कर्म्म तीन प्रकार के हैं प्रारब्ध, सञ्चित और क्रियमाण । साधारणतः भोग से प्रारब्ध कर्म्मों का क्षय होता है । पर ज्ञानोदय होने पर सञ्चित भी नष्ट हो जाते हैं और क्रियमाण भी । अर्थात् पूर्व जन्मार्जित कर्म्म (जिनको भोगने के लिए बार बार जन्म ग्रहण करना पड़ता है) नष्ट हो जाते हैं और इस जन्म में जिन कर्म्मों को किया जाता है वे भी बन्धन का कारण नहीं बनते ।

'अपने वश में की हुई—राग और द्वेष—दोनों ही से छुटकारा पाई हुई इन्द्रियों द्वारा विषय-भोग करता हुआ मनोजयी पुरुष ही शान्ति लाभ करता है ।'

जिस तरह अपार समुद्र में अनेक नदियों के गिरने से भी समुद्र का गाम्भीर्य्य नष्ट नहीं होता उसी तरह सब कामों को करते हुए भी कर्म्मयोगी की शान्ति नष्ट नहीं होती ।

निष्काम कर्म्मी की यही विशेषता है । सकाम व्यक्ति इस सौभाग्य का अधिकारी नहीं हो सकता ।

"आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं,
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ॥
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे,
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥

गीता, २ । ७० ।

किन्तु फल की आकांक्षा और कर्त्तृत्व का अभिमान छोड़ देने से भी कर्म्मयोग का पूरा अनुष्ठान नहीं हुआ । कर्म्मयोगी को इससे ऊपर भी एक सोपान पर चढ़ना पड़ता है । वह तीसरी सीढ़ी—ईश्वरार्पण है । ईश्वर को सब कर्म्म अर्पण कर देना अर्थात् यज्ञ के लिए कर्म्म का अनुष्ठान करना ।

मनुष्य साधारणतः स्वार्थ की प्रेरणा से अपनी संकल्प-सिद्धि के लिए कर्म्म करता है । उसके प्रत्येक कर्म्म की जड़ में स्वार्थ छिपा रहता है । वह अपने को केन्द्र बना कर कर्म्म किया करता है । इसी लिए उसका कर्म्म सकाम हो जाता है । गीता के उपदेशानुसार सब कर्म्म ईश्वर को अर्पण कर देने चाहिए । सब तरह से ईश्वर को

आत्म-समर्पण कर देना चाहिए। उसी के उद्देश्य से उसी का काम समझ कर जगत् की भलाई के लिए कर्म्म करना चाहिए। इसी लिए भगवान् अर्जुन को उपदेश देते हैं—

"मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥

गीता, ३। ३०

"मैं परमात्मा का ही एक अंश हूँ और वही मुझसे कर्म्म कराता है" यह निश्चय कर लो, सब कर्म्म मुझे अर्पण करो, फल की आशा छोड़ दो, अहङ्कार का त्याग करो और शोकरहित होकर युद्ध करो।"

"चेतसा सर्वकर्म्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥

गीता, १८। ५७

'सब कर्म्मफलों को चित्त से मुझको अर्पण कर मुझे ही परम प्राप्य समझ कर, निश्चयात्मक बुद्धि से मन को स्वाधीन कर चित्त को सदा मुझमें लगाओ।'

जो इस तरह कर्म्म करते हैं उनका उद्देश्य स्वार्थ-सिद्धि या आत्म-प्रीति नहीं है। उनका लक्ष्य है ईश्वर का काम करना। वह अपने को ईश्वर का करण समझते हैं। वह ईश्वर में अपनी क्षुद्र-सत्ता को डुबा देते हैं और अपने किये सब कर्म्मों के फल ईश्वर को ही अर्पण कर देते हैं।

जो इस तरह कर्म्म कर सकते हैं उनके सौभाग्य की कोई सीमा नहीं।

"सर्व्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥

गीता, १८। ५६

'सब समय अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हुए ही जो मेरी प्राप्ति की इच्छा करता है, वह मेरी कृपा से अनादि और अव्यय पद प्राप्त कर लेता है।

इस तरह कर्म्म करने से कर्म्म बन्धन का हेतु नहीं होता। क्योंकि करने वाले के साथ कर्म्म का कोई सम्बन्ध नहीं होता। इस तरह अनुष्ठित कर्म्म का सम्बन्ध होता है ईश्वर के साथ।

"ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥

गीता, ५। १०

'जो कर्म्मफल की इच्छा न करते हुए कर्म्म करता है और सब कर्म्म ब्रह्म को अर्पण करता है; वह पाप से वैसा ही अलग रहता है जैसा कमल का पत्ता पानी से।'

"यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः"

गीता, ३। ९

'यज्ञ के अतिरिक्त जो कर्म्म किये जाते हैं वे ही इस लोक में बन्धन के कारण होते हैं।'

"यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥

गीता, ४। २३

'जो केवल यज्ञ के लिए कर्म्म करता है, उसके समस्त कर्म्म लुप्त हो जाते हैं।'

इस 'यज्ञ' के अर्थ क्या हैं ? शङ्कराचार्य्य ने "यज्ञो वै विष्णुः" 'यज्ञ विष्णु है' इस श्रुति के आधार पर यज्ञ के अर्थ में ईश्वर माना है। उनके मत में यज्ञ के लिए कर्म्म करने का आशय है ईश्वर के लिए कर्म्म करने का या ईश्वर को कर्म्मफल अर्पण करने का। 'यज्ञ' शब्द का एक और तरह से भी अर्थ हो सकता है। यज्ञ शब्द का अर्थ आज कल हमने यह समझ रक्खा है कि अग्नि जला कर कुछ हवन कर देना या जिसमें से धुआं निकले वह कर्म्म। किन्तु पहले यज्ञ का यह अर्थ नहीं था। यज्ञ का असली भाव है त्याग (sacrifice); पूर्व समय में यज्ञ के करने से लोगों के मन में त्याग के भाव का ही उदय होता था। वास्तव में यज्ञ का प्रधान उपादान है भी त्याग ही। प्रजापति ने जिस विराट् यज्ञ को करके यह सृष्टि उत्पन्न की है पुरुषसूक्त में उसका ज़िक्र आया है। वह यज्ञ क्या था। सिर्फ़ जीव के लिए भगवान् का विपुल आत्मत्याग। जगत् की भलाई के लिए ईश्वर को उद्देश्य करके जो त्याग किया जाता था हमारे पुरखा उसी को यज्ञ कहते थे। इस तरह कर्म्मानुष्ठान करने से ही असली यज्ञ सम्पादित होता है। 'यज्ञ' शब्द के अँगरेज़ो अनुवाद 'sacrifice' में आज भी त्याग का वही भाव चमक रहा है। इस लिए, यज्ञ के लिए कर्म्म करने का यह अर्थ भी असङ्गत नहीं कि त्याग के भाव से (as a sacrifice) कर्म्म करना। जिस कर्म्म में स्वार्थ-सिद्धि का उद्देश नहीं, जिस कर्म्म की जड़ में सङ्कल्प-सिद्धि की प्रत्याशा नहीं, जो कर्म्म अहङ्काररहित होकर भगवान् को अर्पण किया जाता है, वही यज्ञकर्म्म है। इस तरह का कर्म्मानुष्ठान जब अभ्यास में परिणत हो जाता है तब

मानव जीवन एक महायज्ञ का आकार धारण कर लेता है। उस यज्ञ की वेदी 'जगत् का हित' है, त्याग आत्म-बलिदान है और यज्ञेश्वर स्वयं भगवान् हैं। भगवान् ने गीता में बार बार कहा है, कि मनुष्य जो कुछ कर्म्म करता है यदि वह सब कर्म्म मुझे ही अर्पण कर दे तब उसको कर्म्म-बन्धन में बँधना न पड़े।

"यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥

गीता, ९। २७—२८।

"हे कौन्तेय, तुम जो कुछ खाते हो, करते हो, आहुति देते हो, दान करते हो, वह सब मुझे अर्पण करो। ऐसा करने से शुभ और अशुभ फलरूप कर्म्मों के बन्धनों से छूट जाओगे और सब कर्म्म मुझको अर्पण करने की प्रवृत्ति होगी तथा मुक्त होकर मुझसे मिलोगे।"

इस विषय पर भागवत में भी एक बड़ा अच्छा दृष्टान्त दिया है—

एतत् संसूचितं ब्रह्मंस्तापत्रयचिकित्सितम्।
यदीश्वरे भगवति कर्म्म ब्रह्मणि भावितम् ॥
आमयो यश्च भूतानां जायते येन सुव्रत।
तदेव ह्यामयं द्रव्यं न पुनाति चिकित्सितम् ॥

श्रीमद्भागवत, १। ५। ३२। ३३

जिन पदार्थों से प्राणियों को रोग उत्पन्न होते हैं—वे ही पदार्थ रोग को दूर नहीं करते पर यदि अन्य पदार्थों का योग कर दिया जाय तो वे ही रोग का नाश कर देते हैं। इसी प्रकार मनुष्यों के कर्म्म संसार-बन्धन के कारण हैं वे ही कर्म्म यदि ईश्वर को अर्पण कर दिये जायँ तो वे (कर्म्म) अपना नाश कर लेते हैं।*

इस तरह कर्म्म करने से कर्म्मबन्धन के कारण नहीं बनते। जो इस तरह कर्म्म करते हैं उनके कर्म्म अकर्म्म हो जाते हैं। उनके लिए कर्म्मानुष्ठान और कर्म्म-संन्यास बराबर हो जाता है। कर्म्म और अकर्म्म में कोई भेद नहीं रहता। वे कर्म करके भी कर्म-फल-रूप बन्धन से नहीं बँधते।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥

गीता, ४। १८

'जो अकर्म में कर्म और कर्म में अकर्म देखते हैं वे ही मनुष्यों में बुद्धिमान् हैं, वे ही कर्मयोगी हैं, वे ही कर्म निष्पन्न करते हैं।'

---

* मीमांसाप्रकरण ग्रन्थ के रचयिता लौगाक्षिभास्कर अपने अर्थसंग्रह ग्रन्थ में इसी मत की पुष्टि करते हैं —

"सोऽयं धर्म्मो यदुद्दिश्य विहितस्तदुद्देशेन क्रियमाणस्तद्धेतुः।
ईश्वरार्पणबुद्ध्या क्रियमाणस्तु निःश्रेयसहेतुः।"

अर्थात् वेदोक्त धर्म्म स्वर्ग आदि की प्राप्ति के लिए किया जाय तो स्वर्गादि को देने वाला होता है किन्तु यदि वही ईश्वर को अर्पण कर दिया जाय तो मुक्ति का देने वाला होता है। मूलदर्शन में इस बात की गन्ध तक नहीं क्योंकि मूलदर्शन तो निरीश्वरवादी है।

गीता का उपदेश यही है कि जीव को कर्मयोग द्वारा कर्म करना चाहिए—ऐसा करने से वह भी कर्म-बन्धन में नहीं पड़ेगा और जगत् का काम भी चला जायगा। यही गीता का बताया कर्मयोग है।

सातवाँ अध्याय।

सांख्यदर्शन।

सांख्यदर्शन का संक्षिप्त विवरण।

सांख्यदर्शन के प्रवर्त्तक महर्षि कपिल हैं। उनके शिष्य आसुरि और आसुरि के शिष्य पञ्चशिखाचार्य्य हुए। इन लोगों ने सांख्यदर्शन पर अनेक ग्रन्थ लिख कर सांख्यदर्शन का ख़ूब प्रचार किया। इनके बनाये ग्रन्थ इस समय नहीं मिलते। पातञ्जलदर्शन के व्यासभाष्य में सिर्फ़ पञ्चशिख के कुछ वचन, उद्धृत हैं। इस समय सांख्यशास्त्र पर जो ग्रन्थ मिलते हैं उनमें 'तत्त्वसमास' ही सबसे प्राचीन है। कोई कोई इसी को कपिल प्रणीत मूल सांख्यसूत्र समझते हैं। * पर यह बात ठीक नहीं मालूम होती। 'तत्त्वसमास'

---

* महामहोपाध्याय चन्द्रकान्त तर्कालङ्कार-प्रणीत हिन्दूदर्शन, २५४ पृष्ठ देखिए। विज्ञानभिक्षु ने भी इसी मत का समर्थन किया है। "नन्वेवमपि तत्त्वसमासाख्यसूत्रैः सहास्याः षडध्याय्याः पौनरुक्तमितिचेत्। मैवम्। संक्षेपविस्तररूपेण उभयोरप्यपौनरुक्तात् ॥" (सांख्यप्रवचनभाष्य-भूमिका)। इसी सम्बन्ध में मैक्समूलर लिखते हैं:—

* I venture to call the "Tattwasamasa" the oldest record that has reached us of the Sankya Philosophy. * * These Samasa Sutras, it is true, are hardly more than a table of contents. —*Max Muller's Six Systems of Indian Philosophy, page 318.*

को दर्शन न कह कर दर्शन की विषयतालिका या सूचीपत्र कह सकते हैं। 'तत्त्वसमास' के कुछ सूत्र सुनिए—अष्टौ प्रकृतयः—१। षोडश विकाराः—२ । पुरुषः—३ ।—त्रैगुण्यम्—४ । सञ्चरः—५। प्रति सञ्चरः—६ । तत्त्वसमास की एक बढ़िया वृत्ति भी प्रचलित है। कोई कोई उसको आसुरिकृत बताते हैं। पर यह मत ठीक नहीं मालूम होता। क्योंकि इस वृत्ति में अपेक्षाकृत नये ग्रन्थों के वचन उद्धृत मिलते हैं। आजकल 'सांख्य-प्रवचनसूत्र' के नाम से ६ अध्यायों में विभक्त जो सांख्यदर्शन मिलता है वह अपेक्षाकृत बहुत नया ग्रन्थ है। इस बात को मानने के लिए बहुत से प्रमाण मौजूद हैं। श्रीशङ्कराचार्य्य, वाचस्पति मिश्र (ये ईसा की बारहवीं शताब्दी में वर्त्तमान थे) तथा चौदहवीं शताब्दी के माधवाचार्य्य ने भी इस दर्शन का कोई सूत्र अपने ग्रन्थों में उद्धृत नहीं किया । यदि सांख्य-प्रवचनसूत्र उनके समय में होता तो क्या वे एक सूत्र भी उससे उद्धृत न करते ? विज्ञानभिक्षु ने इसी प्रवचन-सूत्र पर एक अच्छा भाष्य लिखा है । अनिरुद्ध ने भी सांख्यदर्शन पर एक संक्षिप्त वृत्ति लिखी है।

सांख्यदर्शन के सम्बन्ध में ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका बहुत ही प्रामाणिक ग्रन्थ है। श्रीशङ्कराचार्य्य ने इस ग्रन्थ से अपने भाष्य में कुछ वचन उद्धृत किये हैं। माधवाचार्य्य ने भी अपना सर्व-दर्शन-संग्रह इसी कारिका का अनुसरण करके लिखा है। ईसा की छठी शताब्दी में इस कारिका का अनुवाद चीन की भाषा में हुआ। शङ्कराचार्य्य के गुरु के गुरु गौड़पादाचार्य्य ने इस कारिका पर भाष्य लिखा है । यह भाष्य भी बहुत ही प्रामाणिक ग्रन्थ है।

वाचस्पति मिश्र की सांख्यतत्त्वकौमुदी इसी कारिका की * बढ़िया टीका है । इनके अतिरिक्त विज्ञानभिक्षु का बनाया सांख्यसार भी सांख्यदर्शन के सम्बन्ध में अच्छा ग्रन्थ है ।

और दर्शनों की तरह सांख्यदर्शन का आरम्भ भी दुःखवाद से होता है । जीव-जगत् चिरकाल से दुःखसहन कर रहा है । दुःख तीन प्रकार का है; आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक । "त्रिविधं दुःखम्" तत्त्वसमास २५ । आध्यात्मिक दुःख दो प्रकार का है । रोगादि से उत्पन्न हुआ शारीरिक दुःख और काम-क्रोध आदि से उत्पन्न हुआ मानसिक दुःख । मनुष्य पशु और स्थावर से पैदा हुए दुःख को आधिभौतिक दुःख कहते हैं । शीत, गर्म्मी और वर्षा आदि से जो दुःख उत्पन्न होता है उसको आधिदैविक दुःख कहते हैं । जब तक शरीर है तब तक दुःख हैं । पर हम नहीं चाहते कि हमें दुःख मिलें । हमारी सदा यही इच्छा रहती है कि दुःखों का नाश हो । इस सम्बन्ध में ईश्वर कृष्ण लिखते हैं—

> 'तत्र जरामरणकृतं दुःखं प्राप्नोति चेतनः पुरुषः ।
> लिङ्गस्याविनिवृत्तेस्तस्माद्दुःखं स्वभावेन ॥'
>
> सांख्यकारिका, ५५

---

* प्रचलित सांख्यदर्शन से कारिका पुरानी है—इस बात का एक अखण्डनीय प्रमाण तो यही है कि दर्शन के कई सूत्रों में कारिका के छन्दोबद्ध अंश जैसे के तैसे उद्धृत हैं । विज्ञानभिक्षु ने इसी दर्शन को क्यों कपिलकृत माना है, यह समझ में नहीं आता । उन्होंने ६ अध्याय वाले इस दर्शन को लक्ष्य करके कहा है "कपिलमूर्त्ति भगवान् ने ६ अध्याय वाले विवेकशास्त्र के द्वारा श्रुति की अविरोधिनी युक्तियों से पूर्ण उपदेश दिये हैं ।" श्रुत्यविरोधिनीरुपपत्तीः षडध्यायीरूपेण विवेकशास्त्रेण कपिल मूर्त्तिर्भगवानुपदिदेश ।

'अर्थात् जीव जब तक शरीर धारण किये रहता है तब तक उसको जरामरण आदि दुःख भोगने पड़ते हैं। इसलिए दुःख भोग करना जीव का स्वभाव सिद्ध धर्म्म है।*

जगत् में सुख है ही नहीं—यह बात नहीं। किसी किसी विरले को ही सुख मिलता है। वह सुख भी बहुत ही कम होता है और दुःखमिश्रित रहता है। वह स्थायी भी नहीं। इसलिए वह सुख भी दुःख ही के बराबर है।

सूत्रकार कहते हैं:—

"कुत्रापि कोऽपि सुखीति। तदपि दुःखशबलम्।
इति दुःखपक्षे निक्षिपन्ते विवेचकाः॥"

सांख्यसूत्र, ६। ७—८

सभी तीनों प्रकार के दुःखों से बचना चाहते हैं। किन्तु सामयिक निवृत्ति से कुछ लाभ नहीं। ऐकान्तिक और आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति होनी चाहिए। जीव का यही पुरुषार्थ है।

"अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः।"

सांख्यसूत्र, १। १

अच्छा तो किस तरह इन तीनों तरह के दुःखों की निवृत्ति

---

* समानं जरामरणादिजं दुःखम्। सांख्यसूत्र, ३। ५३। "ऊर्ध्वाधोगतानां ब्रह्मादिस्थावरान्तानां सर्वेषामेव जरामरणादिजं दुःखम् साधारणम्।"—विज्ञानभिक्षु।

पहले कह चुके हैं कि गीता भी इस मत का अनुमोदन करती है, भगवान् ने भी संसार को दुःख का स्थान और क्षणभंगुर बताया है "पुनर्जन्म दुःखालय-मशाश्वतम्।" गीता में एक और जगह भी लिखा है—

'अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।'

"इस अनित्य और सुख-रहित संसार में आकर मेरा भजन करो।'

हो ? लौकिक उपायों से इनकी निवृत्ति सम्भव नहीं । ओषधि खाने या मन की बात पूरी होने से दुःख निवृत्त ज़रूर हो जाता है—पर हमेशा के लिए नहीं । और ये उपाय भी अमोघ उपाय नहीं । इस लिए लौकिक उपायों से दुःखों का निवृत्त होना मुमकिन नहीं । दुःख-निवृत्ति का एक वेदोक्त उपाय भी है । यज्ञादिक से स्वर्ग आदि लोकों की प्राप्ति होती है । पर वह उपाय भी ठीक नहीं । क्योंकि वह भी तीनों तरह के दोषों से युक्त है । कर्म्मों के तारतम्य से स्वर्गलोक में भी तारतम्यानुसार ही फल मिलता है । उसके फल से कोई स्वर्ग के नीचे और कोई ऊँचे स्थान में प्राप्त होते हैं । वहाँ भी परस्पर की छुटाई बड़ाई का दुःख भोगना पड़ता है । दूसरे, यज्ञ के लिए पशुहिंसा करना भी ज़रूरी है । हिंसा करने से जहाँ यज्ञ में पुण्य होता है वहाँ पाप भी थोड़ा बहुत ज़रूर होता है । उस पाप का फल भी भोगना पड़ता है । पर सबसे बड़ी त्रुटि यज्ञ आदि वेदोक्त कर्म्मों में यह है कि उनके फल भी स्थायी नहीं । पुण्य-फल के समाप्त होने पर कर्म्मी का ज़रूर पतन होता है । उसको फिर दुःखपूर्ण संसार में आना पड़ता है । इसी लिए सांख्याचार्य्य कहते हैं कि दुःख निवृत्ति के—क्या लौकिक और क्या वैदिक—दोनों तरह के उपाय यथेष्ट* नहीं । तो दुःख निवृत्ति का

* "दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ ।
दृष्टे सापार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावात् ॥" सांख्यकारिका, १
"दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः ।" सांख्यकारिका । २
"न दृष्टात्तत्सिद्धिर्निवृत्तेऽप्यनुवृत्तिदर्शनात् ।" सांख्यसूत्र । १ । २
"उत्कर्षादपि मोक्षस्य सर्वोत्कर्षश्रुतेः ॥" सांख्यसूत्र, ५
"अविशेषश्चोभयोः" सांख्यसूत्र, ६

उपाय है कौनसा ? उस उपाय का ही निर्धारण सांख्यशास्त्र करता है ।

सांख्यदर्शन के मत में दुःख-निवृत्ति का रामबाण उपाय ज्ञान-प्राप्ति है ।

"ज्ञानान्मुक्तिः ।" सांख्यसूत्र, ३ । २३

किसका ज्ञान ? प्रकृति और पुरुष का विवेक या पार्थक्य-ज्ञान † "तच्च (कैवल्यं) सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिनिबंधनम्" तत्त्व-कौमुदी, २१ ।

ईश्वरकृष्ण ने भी लिखा है:—

"तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्" सांख्यकारिका २ ।

प्रकृति और पुरुष के भेद का साक्षात्कार ही बढ़िया उपाय है । व्यक्त अव्यक्त और पुरुष के विशेष ज्ञान से वह पैदा होता है ।

---

† पतञ्जलि ने योग-सूत्र में भी इस मत का अनुमोदन किया है 'विवेक-ख्यातिरविप्लवाहानोपायः ।" (साधनपाद २६)

'विवेकख्यातिः = सत्वपुरुषान्यताप्रत्ययः"; अर्थात् प्रकृति और पुरुष का पार्थक्य-ज्ञान ही पक्का हो जाने पर दुःख-निवृत्ति का उपाय हो जाता है ।

गीता में भगवान् ने भी प्रकृति पुरुष के पार्थक्य ज्ञान की प्रशंसा की है—

'क्षेत्र क्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ।" गीता, १३ । २

अर्थात् क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ सम्बन्धी ज्ञान को ही मैं ज्ञान मानता हूँ ।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ।' गीता, १३ । ३

अर्थात् जो लोग ज्ञान-दृष्टि से क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का यह भेद समझ जाते हैं और भूतों की प्रकृति के अवलोकन से मोक्ष का उपाय जान लेते हैं—उनको परमपद मिलता है ।

"एवं तत्त्वाभ्यासान्नाऽस्मि न मे नाऽहमित्यपरिशेषम् ।
अविपर्य्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ॥"

सांख्यकारिका, ६४ ।

तत्त्व की बार बार चिन्ता करने से संशय और भ्रम से रहित शुद्ध विमल ज्ञान उत्पन्न होता है। उसको पाकर जोव जोवन्मुक्त हो जाता है। प्रारब्ध कर्म्म का जब तक क्षय नहीं होता तभी तक वह शरीर धारण करता है। उस समय जाव समझ सकता है कि मैं कर्ता नहीं, भोक्ता नहीं, मेरे लिए कुछ भी कर्तव्य नहीं। ऐसे निर्म्मम निरहङ्कार व्यक्ति के धर्म्माधर्म्म का भाव नष्ट हो जाता है। अर्थात् धर्म्माधर्म्म फिर जन्म रूप फल उत्पन्न नहीं कर सकते। वाचस्पति मिश्र कहते हैं—

क्लेशसलिलावसिक्तायां हि बुद्धिभूमौ कर्म्मबीजान्यङ्कुरं प्रसुवते तत्त्वज्ञाननिदाघनिपीतसकलसलिलायामूषरायां कुतः कर्म्मबीजानामङ्कुरप्रसवः ।

जलसिक्त खेत में बीज उगता है। सूर्य्य की प्रखर किरणें यदि जल को सोखलें तो क्या ऊसर भूमि में फिर अङ्कुरोद्गम हो सकता है ? अज्ञानसिक्त बुद्धि में ही कर्म्म फलते फूलते हैं किन्तु जब तत्त्वज्ञानरूप सूर्य्य अविवेक-रूप जल को सोख कर चित्त को ऊसर बना देता है तब फिर उस क्षेत्र में किस तरह कर्म्मबीज अङ्कुरित हो सकता है ? ऐसे विवेकी के ऊपर दृष्टि रख कर ही कारिका में कहा है—

"प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ ।
ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति ॥"

सांख्यकारिका, ६८ ।

'शरीर-नाश होने पर प्रकृति की प्रवृत्ति निवृत्त होने के कारण जीव ऐकान्तिक और आत्यन्तिक कैवल्य (तीन तरह के दुःखों की निवृत्ति) लाभ करता है ।' इस अवस्था में सुख-दुःख दोनों ही दूर हो जाते हैं ।

"नोभयञ्च तत्त्वाख्याने ॥" सांख्यसूत्र १ । १०७

'अर्थात् तत्त्व साक्षात्कार होने पर सुख दुःख दोनों ही दूर हो जाते हैं । इसी तरह के तत्त्वज्ञानी व्यक्ति के विषय में गौड़पादाचार्य्य ने नीचे लिखा श्लोक उद्धृत किया है ।—

"पञ्चविंशति तत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसेत् ।
जटी मुण्डी शिखी वापि मुच्यते नात्र संशयः ॥"

जिनको २५ तत्त्वों का ज्ञान हो गया है चाहे गृहस्थ हों चाहे संन्यासी हों उनको अवश्य मुक्तिलाभ होता है ।

ये पचीस तत्त्व कौन कौन से हैं ? विकार सहित—प्रकृति और पुरुष ।

"सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकार अहङ्कारात् पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुष इति पञ्चविंशति-र्गणाः ॥"

सांख्यसूत्र, १ । ६१

अर्थात् सत्व, रजस् और तमोगुण की साम्यावस्था रूप मूल-प्रकृति, उसका विकार महत्तत्त्व, महत् का विकार अहङ्कार तत्त्व, अहङ्कार का विकार पञ्चतन्मात्र और ११ इन्द्रियाँ, पञ्चतन्मात्र का विकार पञ्चमहाभूत और पुरुष ये पचीस तत्त्व हैं । तत्त्वसमास की भाषा में आठ तरह की प्रकृतियाँ, १६ विकार और १ पुरुष मिल कर २५ होते हैं ।

अष्टौ प्रकृतयः, षोडश विकाराः पुरुषः। तत्वसमास, १। २। ३

अव्यक्तं बुद्धिरहङ्कारः पञ्चतन्मात्राणि

इत्येता अष्टौ प्रकृतयः। सूत्रवृत्ति।

अव्यक्त मूल-प्रकृति, बुद्धि, अहङ्कार और पञ्चतन्मात्र ये आठ तरह की प्रकृतियाँ हुईं। मूल प्रकृति ही मुख्य प्रकृति है।

बुद्धि, अहङ्कार और पञ्चतन्मात्रायें, इन्द्रिय और महाभूत के उपादान होने के कारण गौण प्रकृति कहाती हैं।

एकादशेन्द्रियाणि पञ्च भूताश्चैते षोडश विकाराः। सूत्रवृत्ति।

पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्म्मेन्द्रियाँ और मन ये ११ इन्द्रियाँ और जल, तेज, पृथ्वी, आकाश, वायु—ये पाँच महाभूत—कुल मिल कर १६ विकार हुए। इन सब के ऊपर पुरुष है। वह न प्रकृति है और न विकृति।

ईश्वरकृष्ण ने इसी भाव को लेकर कहा है—

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।

षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥

सांख्यकारिका, ३।

इन २५ तत्त्वों के विषय में अब हम कुछ आलोचना करते हैं। प्रकृति क्या है? "प्रकरोति इति प्रकृतिः।" जिस उपादान से जगत् की सृष्टि हुई है वही प्रकृति है। सूत्रवृत्ति में प्रकृति का उल्लेख करते हुए यह पुराना वचन उद्धृत किया गया है—

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथा च नित्यं रसगन्धवर्जितम्।

अनादि मध्यं महतः परं ध्रुवं प्रधानमेतत् प्रवदन्ति सूरयः॥

अर्थात् प्रकृति नित्य है, अव्यय है। पाँचों इन्द्रियाँ उसको

ग्रहण नहीं कर सकतीं । पण्डित कहते हैं कि प्रकृति आदि मध्य से हीन है महत् से भी परे है और ध्रुव है ।

जगत् का जो अपरिच्छिन्न और निर्विशेष मूल उपादान है उसी को सांख्यशास्त्र प्रधान या प्रकृति कहता है * । उसका आदि नहीं है, अन्त भी नहीं है । वह अति सूक्ष्म है, अलिङ्ग है और निरवयव अर्थात् निर्विशेष (homogenous) है । यह विपुल जगत् उसी का परिणाम है ।

सूक्ष्ममलिंगमनादिनिधनं तथा प्रसवधर्म्मि ।
निरवयवमेकमेवहि साधारणमेतदव्यक्तम् ॥ सूत्रवृत्ति ।

प्रकृति का एक नाम अव्यक्त भी है । उसका अभिप्राय यही है कि सृष्टि से पहले जगत् अव्यक्त (unmanifest) अवस्था में रहता है । अव्यक्तावस्था का नाम सृष्टि है । गीता में भगवान् कहते हैं—

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
राज्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥
गीता, ८ । १८

अर्थात् प्रलय के अवसान में, अव्यक्त प्रकृति से व्यक्त जगत् का आविर्भाव होता है और सृष्टि के अवसान में व्यक्त जगत् फिर अव्यक्त-प्रकृति में लीन हो जाता है । तत्त्वसमास में इसी अनु-

* The mighty expanse of cosmic matter.
T. Subba Rao's Lectures on the Bhagawatgita.

"परिच्छिन्नं न सर्व्वोपादानम् ।" सांख्यसूत्र १ । ७६

सब का उपादान प्रधान परिच्छिन्न नहीं है । विज्ञानभिक्षु ।

"प्रकृतेराद्योपादानता" सांख्यसूत्र, ६ । ३२

प्रकृति ही जगत् का आद्य *उपादान है ।

* Primary material.

लोमक्रम को आविर्भाव-सञ्चर और विलोमक्रम को तिरोभाव-प्रति-सञ्चर कहा गया है।*

प्रकृति का एक नाम है अजा। इसका कारण यह है कि प्रकृति परिणाम रूप में सिर्फ़ बदल जाती है। वैसे उसका आदि अन्त नहीं है।† क्योंकि प्रकृति ध्रुव, नित्य और सद् वस्तु है। सांख्य के मत में सत् की उत्पत्ति भी नहीं है। इसी लिए उसका नाश भी नहीं है।

सांख्यवादी कहते हैं—

"नासदुत्पद्यते न सद् विनश्यति।"

अर्थात् असत् की उत्पत्ति नहीं और सत् का विनाश नहीं।

"प्रकृतिपुरुषयोरन्यत् सर्वमनित्यम्।" सांख्यसूत्र ५। ७२

अर्थात् प्रकृति—पुरुष नित्य हैं और सब अनित्य है।

विज्ञान भिक्षु ने इस मत का समर्थन करते हुए निम्नलिखित वचन उद्धृत किया है—

* सृष्टि का क्रम इस तरह है—प्रकृति से महत्तत्त्व, महत्तत्त्व से अहङ्कार-तत्त्व, अहङ्कार-तत्त्व से पञ्चतन्मात्र और ११ इन्द्रियाँ और पञ्चतन्मात्रों से पाँच महाभूतों का आविर्भाव होता है। प्रलय का क्रम इसका उलटा है। पहले पञ्च-महाभूत और ११ इन्द्रियाँ पञ्चतन्मात्रों में लीन होती हैं, पञ्चतन्मात्र अहङ्कार-तत्त्व में विलीन हो जाते हैं, अहङ्कार-तत्त्व महत्तत्त्व में और महत्तत्त्व प्रकृति में विलीन हो जाता है।

† "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः— श्वेताश्वतरोपनिषद्।" ४। ५

प्रकृति एक है, अज है, तीन गुण वाली है और सजातीय विविध विकारों की सृष्टि करने वाली है।

'अव्यक्तं कारणं यत् तन्नित्यं सदसदात्मकम् ।
प्रधानं प्रकृतिश्चेति यदाहुस्तत्त्वचिन्तकाः ॥'

जगत् का जो अव्यक्त कारण है वह नित्य है, सत् है और असत् भी है (क्योंकि वह अनादि और अनन्त होकर भी विकारशील है) तत्त्वज्ञानी उसी को प्रधान या प्रकृति कहते हैं।

गीता में भगवान् ने भी इस बात का समर्थन किया है—

"प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥"

गीता, १३ । १९

अर्थात् प्रकृति और पुरुष दोनों को अनादि समझो। समस्त विकार और गुण प्रकृति से ही उत्पन्न होते हैं।

पाश्चात्यविज्ञान भी इसी बात का अनुमोदन करता है। दार्शनिकप्रवर हर्बर्ट स्पेन्सर लिखते हैं कि प्रकृति (matter) की उत्पत्ति भी नहीं होती, विनाश भी नहीं होता। होता है केवल अवस्थान्तर।* प्रकृति ही जगत् का अमूल मूल या अद्वितीय उपादान है। सांख्य के इस मत के साथ बाहरी दृष्टि से रसायनविज्ञान का विरोध मालूम होता है। पाश्चात्यविज्ञान में यह बात

---

*Matter never either comes into existence or ceases to exist.** The seeming annihilations of matter turn out on close observation to be only changes of state. It has grown into an axiom of Science that, whatever metamorphoses matter, undergoes, its quantity is fixed.**The annihilation of matter is unthinkable, for the same reason that the creation of matter is unthinkable.—*Herbert Spencer's First Principles.—The indestructibility of matter.*

बहुत दिनों तक मानी जाती थी कि जड़ जगत् ७० मूलतत्त्वों के संयोग से बना है । इन सब मूलतत्त्वों के परमाणुओं को वे आपस में स्वतन्त्र और नित्य मानते थे पर उनकी यह कल्पना हमेशा से रही है कि या तो इन मूलतत्त्वों का भी कोई आदिकारण है या ये उसी अद्वितीय उपादान के अन्तिम परिणाम मात्र हैं । सर विलियम क्रुक्स (Sir William Crooks) ने इस स्वप्न को प्रत्यक्ष कर दिखाया ।* कुछ वर्ष पहले उन्होंने साबित कर दिया कि मूलभूतों या तत्त्वों के परमाणु वास्तव में स्वतन्त्र या नित्य नहीं । वे एक ही प्रधान महाभूत या तत्त्वों के विशेष विशेष संघातों से उत्पन्न हुए विकारमात्र हैं । उन्होंने इस महातत्त्व का नाम रक्खा है प्रोटाइल (Protyle)† प्रोटाइल और प्रकृति में बहुत कुछ सादृश्य है‡ । क्रुक्स साहब

*It is the dream of Science that all the recognised chemical elements will one day be found to be modifications of a single material element.—*World Life.*—page 48.

†Crooke's chemistry admits that the primary constituents of all matters, of all atoms, are identical in their nature and issue from one single basis called 'Protyle'; their difference of form and appearance, in molecules and compound bodies, being only the result of a difference in distribution or position.—*Dr. Marque's Scientific Corroborations.*—page 11.

‡ किन्तु प्रोटाइल और प्रकृति एक पदार्थ नहीं है । प्रोटाइल स्थूल जगत् का मूल उपादान है । विज्ञान स्थूल जगत् के सिवा और कुछ नहीं मानता इसलिए वैज्ञानिकों की दृष्टि में प्रोटाइल ही प्रकृति की समकक्ष चीज़ है । पर, वास्तव में स्थूल जगत् के ऊपर सूक्ष्म जगत् और उसके भी ऊपर कारण जगत् अवस्थित है । स्थूल जगत् का जो चरम उपादान या प्रोटाइल (Protyle) है—वह सूक्ष्म जगत् के चरम उपादान की तुलना में कभी मूलभूत नहीं हो सकता । फिर सूक्ष्मजगत् का जो चरम उपादान है वह भी

का मत इस समय वैज्ञानिक समाज में आदर की दृष्टि से देखा जाता है।

इँगलेंड के सर्वप्रधान वैज्ञानिक लार्ड केलविन ने भी इस मत का अनुमोदन किया है। वैज्ञानिक-शिरोमणि निकोला टेसला (Nikola Tesla) भी इस मत को सन्देह-रहित समझते हैं। इसलिए यह सिद्धान्त—कि ये सब जड़ पदार्थ एक ही अद्वितीय निर्विशेष चरम उपादान के विकार से गठित हैं—इस समय विज्ञान में संशय-विहीन सत्य में परिणत हो गया है। *

यह चरम उपादान या मूल पदार्थ ही प्रकृति है।

प्रकृति का एक नाम त्रैगुण्य भी है। क्योंकि प्रकृति तीनों गुणों की साम्यावस्था है। इन तीन गुणों के नाम सत्, रजस् और तमस् हैं।

सत्वरजस्तमांसीति त्रैगुण्यम्। सूत्रवृत्ति।

सत्व का स्वभाव प्रकाश, रज का स्वभाव प्रवृत्ति और तम का स्वभाव आवरण है।

कारण-जगत् के अति सूक्ष्म उपादान के सामने मूलभूत नहीं। इस सूक्ष्माति-सूक्ष्म कारण-जगत् का जो चरम उपादान है उसी की निर्विशेष, अव्याकृत, अव्यक्त और चरम अवस्था का नाम प्रकृति है। इसीलिए प्रोटाइल और प्रकृति में बहुत भेद है।

* According to the adopted theory, first clearly formulated by Lord Kelvin, all matter is composed of a primary substance of inconceivable tenuity, vaguely designated by the word 'Ether.' * * * All matter then is merely whirling Ether. By being set in movement, Ether becomes matter perceptible to our senses; the movement arrested, the primary substance reverts to its normal state and becomes imperceptible.—*Nikola Tesla.*

'सत्वं प्रकाशकं विद्यात् रजो विद्यात् प्रवर्त्तकम् ।
तमोऽप्रकाशकं विद्यात् त्रैगुण्यं नामसंज्ञितम् ॥

सांख्यवादी कहते हैं कि जिस तरह जीव की देह में कफ, वात और पित्त इन तीन विरोधी वस्तुओं का परस्पर संग्राम होता रहता है उसी तरह जगत् की मूल उपादान प्रकृति में भी ये तीन विरोधी गुण एक दूसरे का पराभव करने की चेष्टा करते रहते हैं। इस संग्राम में कभी सत्व विजयी होकर प्रकाश, सुख या लघुता उत्पन्न करता है, कभी रजोगुण प्रबल होकर प्रवृत्ति दुःख या चांचल्य उत्पन्न करता है और कभी तमोगुण उत्कट होकर जड़ता, मोह या गुरुत्व उत्पन्न करता है। ये तीन गुण प्रकृति की स्वभाव सिद्ध तीन तरह की विरोधी प्रवणतायें (tendency) हैं। तमः = resistance या inertia ; रजः = activity, एवं सत्व = harmony । प्रलय-काल में ये तीनों गुण साम्यावस्था में रहते हैं। अर्थात् तीनों प्रवणताओं में एक सा बल रहने के कारण कोई किसी का पराभव नहीं कर सकता।

सांख्यवादी कहते हैं कि प्रकृति का स्वभाव ही परिणाम है। इसी लिए सांख्य-शास्त्र में प्रकृति का एक सार्थक विशेषण है, 'प्रसव धर्म्मी'। जहाँ प्रकृति है वहाँ ही परिणाम है। परिणाम के साथ प्रकृति का नित्य सम्बन्ध है। *

---

* प्रसवधर्म्मी प्रसवरूपो धर्म्मो यः सोऽस्यास्तीति प्रसवधर्म्मी प्रसवधर्म्मेति वक्तव्ये, मत्वर्थीय प्रसवधर्मस्य नित्य योगमाख्यातुं सरूपविरूपपरिणामाभ्यां न कदाचिदपि वियुज्यते इत्यर्थः ।

ग्यारहवीं कारिका की तत्त्वकौमुदी ।

परिणाम के बिना प्रकृति एक क्षण भी नहीं रह सकती । † इसीलिए प्रकृति की साम्यावस्था में आप ही विच्युति हो जाती है । प्रकृति की साम्यावस्था के विच्युत होने पर जो पहला परिणाम होता है उसको 'महत्तत्त्व' कहते हैं । गीता में यही 'महद्ब्रह्म' कहा गया है । महत्तत्त्व भी विकार प्राप्त होने से नहीं बचता । महत्तत्त्व के विकार का नाम अहङ्कारतत्त्व है । अहङ्कारतत्त्व भी परिणाम को प्राप्त होता है ।

'प्रकृतेर्महान् ततोऽहङ्कारस्तस्मात् प्रणवश्च षोडशकः ॥

सांख्यकारिका । २२ ।

यही सात तत्त्व तन्त्र में आदि अनुपादक, आकाश, वायु, तेज, अप और क्षिति तत्त्व कहे गये हैं । ये जड़ की यथाक्रम सूक्ष्मातिसूक्ष्म अवस्थायें हैं । इस विषय पर श्रीमद्भागवत में भी एक श्लोक है—

---

† परिणामस्वभावा हि गुणानापरिणम्य क्षणमप्यवतिष्ठन्ते ।

सोलहवीं कारिका की तत्त्वकौमुदी ।

यदि प्रकृति सदा ही परिणामशील है तो प्रलयकाल में महत्तत्त्व आदि का आविर्भाव क्यों नहीं होता ? इस आपत्ति के उत्तर में सांख्य वाले कहते हैं कि प्रकृति के दो तरह के परिणाम होते हैं—सदृश परिणाम और विसदृश परिणाम । प्रलयकाल में सदृश परिणाम होता है । अर्थात् सत्त्व सत्त्वरूप में, रजस् रजोरूप में, और तमस् तमोरूप में परिणत हो जाता है ।

"प्रतिसर्गावस्थायां सत्त्वं च रजश्च तमश्च सदृशपरिणामानि भवन्ति, तस्मात् सत्त्वं सत्त्वरूपतया रजो रजोरूपतया, तमस्तमोरूपतया प्रतिसर्गावस्थायामपि प्रवर्त्तते ।" सोलहवीं कारिका की तत्त्वकौमुदी ।

सृष्टिकाल में विसदृश परिणाम होता है जिसके फल से साम्यावस्था की विच्युति हो कर महत्तत्त्व आदि का आविर्भाव होता है ।

'अण्डकोषे शरीरेस्मिन् सप्तावरणसंयुते ।
वैराजः पुरुषो योऽसौ भगवान् धारणाश्रयः ॥'

श्रीमद्भागवत, २१ । २५ ।

अर्थात् यह विश्व ब्रह्माण्ड विराट् पुरुष का शरीर है । इसमें ७ स्तर हैं । वे स्तर ही क्रमपूर्वक क्षिति, अप्, तेज, वायु, आकाश, अहङ्कार और महत्तत्त्व हैं ।*

सांख्यवादी ईश्वर को नहीं मानते । तत्त्वसमास और कारिका में ईश्वर का ज़िक्र तक नहीं है । सांख्यप्रवचनसूत्र में तो साफ़ साफ़ ही ईश्वर का प्रतिषेध किया गया है । † प्रकृति के परिणाम से ईश्वर का कोई सम्बन्ध है—यह बात सांख्यवादी नहीं मानते । वे कहते हैं कि प्रकृति स्वतः ही परिणत होती है । उस परिणाम के

---

* आज कल सांख्यवादी महत्तत्त्व के अर्थ में समष्टि बुद्धि और अहङ्कार के अर्थ में समष्टि अभिमान का ग्रहण करते हैं । यह मत ठीक नहीं मालूम होता । इस संबन्ध में अध्यापक मैक्समूलर ने भी सन्देह किया है । वे भी किसी ठीक परिणाम पर नहीं पहुँच सके हैं ।

Buddhi is generally taken in its subjective or psychological sense; but it is impossible that this should have been its original meaning in the mind of *Kapila* * * The *Buddhi* or the *Mahat* must here be a phase in the cosmic growth of the *universe*.* * We can hardly help taking this Great Principle, the *Mahat* in a cosmic sense.** *Ahankara* is in the *Sankhya* something developed out of primordial matter, after that matter has passed through *Buddhi*.—*Max Muller's Six Systems of Indian Philosophy*. *pp*. 323-27.

† सर्वदर्शनसंग्रहकार माधवाचार्य्य भी सांख्यदर्शन का परिचय देते हुए इस तरह लिखते हैं—"एतदर्थे निरीश्वरसांख्य-शास्त्रप्रवर्तक कपिलानुसारिणां मतमुपन्यस्तम् ।"

लिए प्रकृति किसी और कारण की अपेक्षा नहीं करती। प्रकृति यद्यपि जड़ (अचेतन) है परन्तु पुरुष के भोग और मोक्ष संपादन के लिए स्वयं सृष्टि करती है।

"प्रधानसृष्टिपरार्थस्वतोऽप्यभोक्तृत्वादुष्ट्रकुङ्कुमवहनवत् ॥ ५८ ॥

अचेतनत्वेऽपि क्षीरवत् चेष्टितं प्रधानस्य ॥ ५९ ॥

कर्म्मवद्दृष्टेर्वा कालादेः ॥ ६० ॥"

सांख्यप्रवचन सूत्र, तृतीय अध्याय।

अर्थात् प्रकृति स्वयं ही सृष्टि करती है, पर वह अपने लिए नहीं दूसरे के लिए। ("प्रधानस्य स्वत एव सृष्टिर्यद्यपि तथापि परार्थमन्यस्य भोगापवर्गार्थम्।" विज्ञान भिक्षु) उसका हाल उस ऊँट के सदृश है जो दूसरों के लिए ही कुंकुम का थैला अपनी पीठ पर लाद कर ले जाता है। उसका उद्देश जीव का भोग और मोक्ष का साधन है। इस पर यह आपत्ति हो सकती है कि अचेतन प्रकृति सृष्टिकार्य में स्वतः किस तरह प्रवृत्त होती है? इसके उत्तर में सांख्यवादी कहते हैं कि जिस तरह दूध स्वयं दही के रूप में परिणत हो जाता है और एक ऋतु के बाद दूसरी ऋतु स्वतः ही प्रवर्त्तित होती रहती है—प्रकृति का परिणाम भी उसी तरह होता है।

इस सम्बन्ध में सर्वदर्शनसंग्रहकार माधवाचार्य्य ने सांख्य मत को ज़रा खोल कर लिखा है।

अचेतन प्रकृति चेतन के अधिष्ठान के बिना महतत्त्व आदि के आविर्भाव-कार्य्य में प्रवृत्त नहीं हो सकती। इसलिए प्रकृति का कोई चेतन अधिष्ठाता ज़रूर है। इसी लिए सर्वज्ञ परमेश्वर का

अस्तित्व मानना पड़ेगा। यह आपत्ति सांख्य के मत में असंगत है। क्योंकि अचेतनता होने पर भी प्रकृति में प्रयोजनानुसार प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। चेतन अधिष्ठान की प्रेरणा के बिना ही अचेतन वस्तुओं में पुरुषार्थ-प्रवृत्ति उत्पन्न हो सकती है। इसके अनेक दृष्टान्त संसार में पाये जाते हैं। जिस तरह बच्चे की परवरिश के लिए अचेतन दुग्ध की प्रवृत्ति अथवा संसार के उपकार के लिए अचेतन जल की प्रवृत्ति होती है उसी तरह चेतना-रहित प्रकृति पुरुष के मोक्ष-साधन के लिए सृष्टिकार्य में प्रवृत्ति होती है। + + इस लिए अचेतन होने पर भी चेतन के अधिष्ठान के बिना प्रकृति का महदादि रूप में परिणत होना सिद्ध है। इस परिणाम का उद्देश पुरुष का अर्थ-साधन है और वह प्रकृति और पुरुष के संयोग के लिए है। जिस तरह व्यापारहीन चुम्बक के पास लोहा स्वयं ही खिंच जाता है उसी तरह निर्व्यापार पुरुष के पास होने के कारण प्रकृति का परिणाम होता है।*

---

* 'नन्वचेतनं प्रधानं चेतनानाधिष्ठितं महदादिकार्य्येण व्याप्रियते। अतः केनचित् चेतनेनाधिष्ठात्रा भवितव्यम्। तथा च सर्वार्थदर्शी परमेश्वरः स्वीकर्त्तव्यः स्यादितिचेत्, तदसङ्गतम्। अचेतनस्यापि प्रधानस्य प्रयोजनवशेन प्रवृत्त्युपपत्तेः। दृष्टश्च अचेतनं चेतनानधिष्ठितं पुरुषार्थाय प्रवर्त्तमानं यथा वत्सविवृद्धयर्थमचेतनं क्षीरं प्रवर्त्तते यथा जलमचेतनं लोकोपकाराय प्रवर्त्तते तथा च प्रकृतिरचेतनापि पुरुषविमोक्षाय प्रवर्त्स्यति। + + तस्मादचेतनस्यापि चेतनानधिष्ठितस्य प्रधानस्य महदादिरूपेण परिणामः पुरुषार्थप्रयुक्तः प्रधानपुरुषसंयोगनिमित्तः। यथा निर्व्यापारस्यापि अयस्कान्तस्य सन्निधानेन लोहस्य व्यापारः तथा निर्व्यापारस्य पुरुषस्य सन्निधानेन प्रधानव्यापारो युज्यते।'

सर्वदर्शनसंग्रहे सांख्यदर्शनम् ॥

इस विषय में सांख्यकारिका कहती है:—

"वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य ।
पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य ॥" सांख्यकारिका, ५७

अर्थात् बच्चे के पोषण के लिए जिस तरह अचेतन दुग्ध की प्रवृत्ति होती है उसी तरह पुरुष की मुक्ति के लिए अचेतन प्रकृति की भी प्रवृत्ति हुआ करती है।

इस कारिका की टीका में होरेसविलसन साहब ने सांख्य मत की इस युक्ति की इस तरह व्याख्या की है—"प्रकृति का परिणाम स्वतः सिद्ध है। उसके लिए प्रकृति किसी स्वतन्त्र चेतन कर्ता या अधिष्ठाता (ईश्वर या ब्रह्मा) की अपेक्षा नहीं करती। वास्तव में निरीश्वर सांख्य शास्त्र सृष्टि के व्यापार में किसी विधाता के हस्त-क्षेप की आवश्यकता नहीं समझता। उसके मत में यह संभव ही नहीं कि प्रकृति में प्रवृत्ति न हो।"*

ऊपर महत्तत्त्व, अहङ्कार तत्त्व और पञ्चतन्मात्रों का परिचय

---

* This (Nature's evolution) is the spontaneous act of Nature. It is not influenced by any external intelligent principle such as the Supreme Being or a subordinate agent as Brahma; it is without (external) cause.** The atheistical Sankhya, on the other hand, contends, that there is no occasion for a guiding Providence; but that the activity of nature for the purpose of accomplishing its end is an intuitive necessity. *The Sankhya Karika, by Horace H. Wilson, M.A., F.R.S.*

दिया गया। अब ११ इन्द्रयों और पाँच स्थूलभूतों का परिचय दिया जाता है।

सांख्यवादी कहते हैं कि अहङ्कार तत्त्व के विकार में तमोगुण प्रबल होने से पञ्चतन्मात्र, और सत्वगुण प्रबल होने से ११ इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं।

"सात्विक एकादशकः प्रवर्त्तते वैकृतादहङ्कारात् ॥" सांख्यकारिका, २५।

एकादश इन्द्रियों के नाम ये हैं— आँख, कान, नाक, जिह्वा और त्वक् ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं और हाथ, पाँव, वाक्, पायु और उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। इनके सिवा मन एकादश इन्द्रिय है। मन—उभयात्मक है। अर्थात् वह ज्ञान और कर्म दोनों का करण है। तन्मात्र सूक्ष्मभूत—स्थूल भूतों की अविशेष (homogeneous) अवस्था है।

पञ्चतन्मात्र, शब्दतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र और गन्धतन्मात्र ये पञ्चतन्मात्रायें यथाक्रम स्थूल पंचभूत अर्थात् आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी को उत्पन्न करती हैं। ये स्थूलभूत अविशेष नहीं विशेष हैं।*

"अविशेषाद् विशेषारम्भः।" सांख्यसूत्र, ३। १।

"तन्मात्राण्यविशेषास्तेभ्यो भूतानि पंच पञ्चभ्यः ॥"

सांख्यकारिका, ३८।

ये पञ्च महाभूत जब स्थूल विषय रूप में और जीव के शरीर रूप में प्रकट होते हैं तब वे हमारे उपभोग-योग्य होते हैं। इनमें

---

* प्रश्नोपनिषद् में भी (४। ८) स्थूल और सूक्ष्म भूतो में भेद दिखाया गया है। "पृथ्वी च पृथ्वी मात्रा च" इत्यादि।

कोई तो सुखकर होते हैं कोई दुःखकर और कोई मोहकर। इनके इन्हीं अवस्थाओं के—पारिभाषिक नाम हैं—शान्त, घोर और मूढ। सांख्य के मत में जगत् त्रिगुणात्मक है। जगत् की हर एक वस्तु तीनों गुणों के समवाय से गठित है। गीता इस मत का अनुमोदन करती है। उसमें लिखा है—

'न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात् त्रिभिर्गुणैः । १८ । ४४,

"अर्थात् न पृथ्वी में, न स्वर्ग में, न देवगणों में ही कोई वस्तु ऐसी है जो प्रकृति से उत्पन्न हुए इन तीन गुणों से मुक्त हो।'

अच्छा तो जब हर विषय में ही त्रिगुण का अधिष्ठान है तब एक ही विषय किसी के लिए सुखकर, किसी के लिए दुःखकर और किसी के लिए मोहकर क्यों होता है ? इसके उत्तर में सांख्य-वादी यह दृष्टान्त देते हैं कि जिस तरह एक ही सुन्दरी रमणी प्रियजन के लिए सुखकर सौत के लिए दुःखकर और निराश प्रेमिक के लिए मोहकर होती है। उसी तरह इस बात को भी समझिए। सांख्य में कहे २४ तत्त्वों का संक्षिप्त परिचय ऊपर दिया जा चुका है।* प्रकृत्ति का परिचय हो ही गया; अब पचीसवें तत्त्व—पुरुष—का कुछ परिचय दिया जाता है।

सांख्य के मत में प्रकृति और पुरुष दोनों ही नित्य, अनादि, अपरिच्छिन्न और निष्क्रिय हैं। दोनों ही स्वतन्त्र, लिङ्गहीन और

* गीता में भी सांख्योक्त २४ तत्त्वों का उल्लेख है—
महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥ १३ । ५

निरवयव हैं । * प्रकृति जड़ है; पुरुष चेतन है । प्रकृति परिणामी है; पुरुष निर्व्विकार है । प्रकृति गुणमयी है; पुरुष निर्गुण (गुणातीत) है । प्रकृति दृश्य है; पुरुष द्रष्टा है; प्रकृति भोग्य है, पुरुष भोक्ता है; प्रकृति विषय (Object) है, पुरुष विषयी (Subject) है । पुरुष कूटस्थ, केवल सुख दुःख से अतीत, नित्यमुक्त और असंग है । (असंगो ह्ययं पुरुषः) बृहदारण्यक । ३ । १५ †

तत्त्वसमास के वृत्तिकार ने पुरुष का परिचय देते हुए इस प्रकार लिखा है—

"अथाह कः पुरुष इत्युच्यते । पुरुषः अनादिः, सूक्ष्मः सर्वगतश्चेतनोऽगुणो नित्यो द्रष्टा भोक्ताऽकर्त्ता क्षेत्रविदमलो प्रसवधर्म्मीति ।

पुरुष कैसा है ? वह अनादि, सूक्ष्म, सर्व्वव्यापी, चेतन, निर्गुण नित्य, द्रष्टा, भोक्ता, अकर्त्ता, क्षेत्रज्ञ, अमल‡ और अपरिणामी है ।

गीता भी इस मत का अनुमोदन करती है । गीता के मत में भी आत्मा निर्गुण और निर्लेप है ।

---

* महत्तत्त्व आदि ठीक इसके विपरीत हैं; अर्थात्, वे अनित्य, सादि, परिच्छिन्न और सक्रिय हैं तथा सावयव, परतन्त्र और लयशील हैं । सांख्यकारिका की दशम कारिका देखिए ।

तत्त्वसमास के मत में क्षेत्रज्ञ और प्राण शब्द भी पुरुष के ही पर्य्यायवाची हैं ।

† तस्मात् विपर्य्ययात् सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य ।
कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च ॥ सांख्यकारिका, १९ ।

‡ कस्मादमलः शुभाशुभकर्म्माणि अस्मिन् पुरुषे न सन्ति इति अमलः ।
(तत्त्वसमास—सूत्र-वृत्ति)

"अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥"

गीता, १३ । ३१

अर्थात् अविकारी परमात्मा अनादि और निर्गुण होते हुए भी देह में स्थित होकर निष्क्रिय और निर्लेप है ।

सांख्य के मत में प्रकृति के गुण ही सब कार्य्य करते हैं । पुरुष केवल अकर्त्ता, उदासीन और साक्षी मात्र है ।

इस बात का समर्थन करते हुए वृत्तिकार लिखते हैं—

यदि कर्त्ता पुरुषः स्यात् शुभानि कुर्य्यात् न तु वृत्तित्रयम् ।
एतद् वृत्तित्रयं दृष्ट्वा लोके गुणानां कर्त्तृत्वं सिद्धिमितिचाकर्त्ता पुरुषः सिद्धो भवति ।

'अर्थात्—यदि पुरुष में कर्त्तृत्व होता तो तीन गुणों की वृत्ति द्वारा—कर्म्म निष्पन्न नहीं होता । वृत्ति की क्रिया को देख कर जगत् में तीनों गुणों का कर्त्तृत्व और पुरुष का अकर्त्तृत्व सिद्ध होता है ।'

गीता इस मत का अनुमोदन करती है—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्म्माणि सर्व्वशः ।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते ॥

गीता, ३ । २७ ।

'अर्थात् प्रकृति के गुणों के द्वारा ही सब कर्म्म निष्पन्न होते हैं किन्तु मूढ़ चित्त वाले अहङ्कारी व्यक्ति आत्मा को ही कर्त्ता मानते हैं ।'

"प्रकृत्यैव च कर्म्माणि क्रियमाणानि सर्व्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्त्तारं स पश्यति ॥"

गीता, १३ । २९

"अर्थात् प्रकृति ही सब कर्म्म करती है; आत्मा अकर्त्ता है। जो इस तरह देखते हैं वेही यथार्थदर्शी हैं।"

सांख्य के मत में प्रकृति एक है, पर पुरुष बहुत हैं। अथच हर एक पुरुष विश्वव्यापी है।

जन्मादिव्यवस्थातः पुरुषबहुत्वम्। सांख्यसूत्र, १। १४९।

पुरुषबहुत्वं व्यवस्थातः। सांख्यसूत्र, ६। ४५।

अर्थात् पुरुष की अनेकता न मानने से जन्म आदि की व्यवस्था ठीक नहीं हो सकती।

जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमात् अयुगपत् प्रवृत्तेश्च।

पुरुषबहुत्वं सिद्धिं त्रैगुण्यं विपर्य्ययाच्च।

सांख्यकारिका, १८।

सकल जीवों का एक ही साथ जन्म, मृत्यु या इन्द्रियों की विकलता नहीं देखी जाती। सब की एक ही समय में प्रवृत्ति भी नहीं दिखाई देती। एक पुरुष में एक गुण प्रबल है, दूसरे में दूसरा प्रबल है। इसीलिए पुरुष बहुत हैं।

इसी मर्म्म को तत्त्वसमास के वृत्तिकार ज़रा विस्तृत करके लिखते हैं—

सुखदुःखमोहसङ्करविशुद्ध करणापाटवजन्ममरणकरणानां नानात्वात्। पुरुषबहुत्वं सिद्धं लोकाश्रमवर्णभेदाच्च। यद्येकः पुरुषः स्यादेकस्मिन् सुखिनि सर्व एव सुखिनः स्युः। एकस्मिन् दुःखिनि सर्व एव दुःखिनः स्युः। एकस्मिन् मूढे सर्वे मूढाः स्युः। एकस्मिन् संकीर्णे सर्वे संकीर्णाः स्युः। एकस्मिन् विशुद्धे सर्व्वे विशुद्धाः स्युः। एकस्य करणापाटवे सर्वेषां करणापाटवं स्यात्। एकस्मिन् जाते सर्व्वे जायेरन्। एकस्मिन् मृते सर्व्वे म्रियेरन् इति न चैक इतश्च बहवः पुरुषाः सिद्धाः।

अर्थात् सुख, दुःख, मोह, शुद्धि, अशुद्धि, इन्द्रियों की विकलता, जन्म मृत्यु, करणों का भेद, वर्ण आश्रम और संसार का तार-तम्य देख कर पुरुष का अनेक होना ही सिद्ध होता है। यदि पुरुष अनेक न होकर एक ही होता, तो एक जीव के सुखी होने से सब सुखी होते, एक जीव के दुखी होने से सब दुखी होते, एक को मोह होने से सबको मोह होता, एक मनुष्य के शुद्ध होने से सब शुद्ध होते, इसी तरह एक के अशुद्ध होने से सब अशुद्ध होते, एक की इन्द्रिय में वैकल्य होने से सब की इन्द्रियाँ विकल हो जातीं। एक का जन्म होने से सब का जन्म होता, एक की मृत्यु होने से सब की मृत्यु होती। जब ऐसा नहीं होता तब पुरुषों का बहुत्व सिद्ध ही है।

सांख्य के मत में सृष्टिकाल में प्रकृति और पुरुष परस्पर संयुक्त रहते हैं। उसका यह फल होता है कि पुरुष के गुण प्रकृति में और प्रकृति के गुण पुरुष में संचरित हो जाते हैं। इसीलिए वास्तव में अचेतन प्रकृति तो चेतन और अकर्त्ता पुरुष कर्त्ता मालूम होता है।*

'तस्मात् तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम्।
गुणकर्तृत्वेऽपि तथा कर्त्तेव भवत्युदासीनः॥ "सांख्यकारिका, २।

गीता में भी लिखा है—

---

* एवं महदादिलिङ्गं पुरुषसंयोगात् चेतनावदिव भवति। × × यद्यपि लोके पुरुषः कर्त्ता गन्तेत्यादि प्रयुज्यते तथापि कर्त्ता पुरुषः। बीसवीं कारिका पर गौड़पाद भाष्य। "प्रधानेन स भिन्नः पुरुषस्तद्गतं स्वात्मन्यभिमन्यमानः कैवल्यं प्रार्थयते। तच्च सत्वपुरुषान्यताख्यातिनिबन्धनम्।" इक्कीसवीं कारिका की तत्त्वकौमुदी।

"पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान् गुणान् ।" गीता, १३ । २१ ।

अर्थात् पुरुष प्रकृति में अवस्थित होकर प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणों का भोग करता है ।

प्रकृतिपुरुष का यह भोग्य-भोक्तृभाव किस तरह सिद्ध होता है ? इस विषय में सांख्याचार्य्यों में मतभेद है । कोई कहते हैं कि इसका कारण कर्म्म है—कोई कहते हैं इसका कारण अविवेक है, कोई कहते हैं कि इसका कारण यह लिंग-शरीर है । (६ । ६७, ६८, ६९ सूत्र देखिए) विज्ञान-भिक्षु के मत में भोग्य-भोक्तृभाव का असली कारण अविवेक ही है । प्रकृति—पुरुष के भेद—ज्ञान के अभाव का ही नाम अविवेक है । 'अविवेकनिमित्तो वा स्वस्वामिभाव इति पञ्चशिख आह । तन्मतेऽपि अनादिरित्यर्थः । एतदेव स्वमतं प्रागुक्तत्वात् ।" प्रलय में भी यही अविवेक वासनारूप में पुरुष के साथ रहता है । और सृष्टि-काल में (यह वासना ही) प्रकृति के साथ भोग्य-भोक्तृभाव निष्पन्न करती है । सांख्यवादी फिर कहते हैं कि प्रकृति अचेतन है, इस लिए अन्धी है; पुरुष अकर्ता है, इस लिए लङ्गड़ा है । दोनों मिल कर एक दूसरे का अभाव मिटाते हैं । उनके मिलने से ही सृष्टि होती है । उस सृष्टि का उद्देश पुरुष का भोग और मोक्ष का साधन है ।

'पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य ।
पङ्ग्वन्धवत् उभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः ॥ सांख्यकारिका, २१ ।

तत्त्व-ज्ञान के द्वारा जिनका यह प्रयोजन सिद्ध हो गया है उनके लिए प्रकृति के साथ पुरुष का सम्बन्ध होते हुए भी फिर सृष्टि नहीं होती । जला हुआ बीज जिस तरह अङ्कुरित नहीं होता

उसी तरह ज्ञानाग्नि से दग्ध कर्माशय भी फिर संसार उत्पन्न नहीं करता ।

द्रष्टामयेत्युपेक्षक एको द्रष्टाहमित्युपरमत्यन्या ।
सति संयोगेऽपि तयोः प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य ॥ सांख्यकारिका ६६ ।
प्रकृतेर्द्विविधं प्रयोजनं शब्दविषयोपलब्धिर्गुणा पुरुषान्तरोपलब्धिश्च ।
उभयत्रापि चरितार्थत्वात् सर्गस्य नास्ति प्रयोजनम् ।

उक्त कारिका पर गौड़पादाचार्य्य का भाष्य ।*

अर्थात् प्रकृति के परिणाम के दो प्रयोजन हैं—प्रथम भोग, दूसरा प्रकृति-पुरुष का भेदज्ञान । जिसके पक्ष में दोनों प्रयोजन चरितार्थ हो गये हैं उसके लिए फिर सृष्टि की क्या आवश्यकता है ? † गौड़पाद ने एक जगह और लिखा है—जिस तरह अंधा और

---

* 'विविक्तबोधात् सृष्टिनिवृत्तिः प्रधानस्य सूदवत् पाके ।'
सांख्यसूत्र, ३ । ६३

"विमुक्तबोधात् न सृष्टिः प्रधानस्य लोकवत् ।" सांख्यसूत्र, ६ । ४३

अर्थात् जिस तरह भोजन बन जाने पर पाचक निवृत्त हो जाता है उसी तरह प्रकृति पुरुष का पृथक् ज्ञान उत्पन्न होते ही प्रकृति का सृष्टि-व्यापार निवृत्त हो जाता है ।

† इसी मर्म को कारिका कहती है—
"रंगस्य दर्शयित्वा निवर्त्तते नर्त्तकी यथा नृत्यात् ।
पुरुषस्य तथात्मानं प्रकाश्य विनिवर्त्तते प्रकृतिः ॥" सांख्यकारिका, ५९ ।
"प्रकृतेः सुकुमारतरं न किञ्चिदस्तीति मे मतिर्भवति ।
या द्रष्टास्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य ॥" सांख्यकारिका, ६१ ।

'अर्थात् जिस तरह नाचने वाली दर्शकों को अपना नाच दिखा कर निवृत्त हो जाती है उसी तरह प्रकृति भी पुरुष को अपना रूप दिखा कर निवृत्त हो जाती है । प्रकृति से बढ़ कर नाजुक मिज़ाज और कोई नहीं

लंगड़ा सामयिक प्रयोजन के लिए संयुक्त होकर फिर प्रयोजन सिद्ध होने पर अलग अलग हो जाते हैं उसी तरह प्रकृति, पुरुष का मोक्ष-साधन करके निवृत्त हो जाती है और पुरुष भी प्रकृति का दर्शन करके कैवल्य को प्राप्त कर लेता है। तब दोनों के प्रयोजन सिद्ध हो जाने पर उनका वियोग होता ही है। * सांख्य मत में यही कैवल्य या मोक्ष की अवस्था है।

यहाँ तक सांख्य-दर्शन के संक्षिप्त परिचय के साथ साथ जहाँ जहाँ गीता के साथ सांख्यमत का ऐक्य है वह दिखाया गया। दूसरे अध्याय में गीता के साथ सांख्य-दर्शन का भेद और अनैक्य दिखाया जायगा।

क्योंकि पुरुष यदि उसको एक बार भी देख ले तो फिर वह कभी उसको दिखाई नहीं देती। "नर्त्तकीवत् प्रवृत्तस्यापि निवृत्तिश्चारितार्थ्यात् ॥"

दोषबोधेऽपि नोपसर्पणं प्रधानस्य। सांख्यसूत्र, ६। ३६

कुलवधूवत्। सांख्यसूत्र, ३। ७०

* यथावानयोः पङ्ग्वन्धयोः कृतार्थयोर्विभागो भविष्यतीप्सितस्थानप्राप्तयोरेवं प्रधानमपि पुरुषस्य मोक्षं कृत्वा निवर्त्तते, पुरुषोऽपि प्रधानं दृष्ट्वा कैवल्यं गच्छति; तयोः कृतार्थयोर्विभागो भविष्यति।"

इक्कीसवीं कारिका पर गौड़पाद भाष्य।

आठवाँ अध्याय।

सांख्यदर्शन।

सांख्यदर्शन और गीता।

पूर्व अध्याय में सांख्यदर्शन का संक्षिप्त परिचय देते हुए उसका गीता के साथ जहाँ ऐक्य है, उसका भी उल्लेख किया गया था। अब गीता के साथ सांख्यदर्शन का भेद और अनैक्य दिखाया जाता है।

हमने देखा है कि सांख्य मत में ज्ञान का फल मुक्ति है। सांख्य-मतानुसार यह ज्ञान पच्चीस तत्त्वों के विचार और प्रकृति पुरुष के विवेक से उत्पन्न होता है।

गीता ज्ञान का विरोध नहीं करती। उसने ज्ञान की जहाँ तहाँ बहुत प्रशंसा की है।

"नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।" गीता, ४। ३८

'इस लोक में ज्ञान के समान पवित्र और कुछ भी नहीं है।'

"सर्वंकर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।" गीता, ४। ३३

'ज्ञान पर सब कर्म्मों की समाप्ति होती है।

"सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि।"

ज्ञानरूप नौका से पापरूप समुद्र तरा जाता है।'

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥" गीता, ४। ३७

हे अर्जुन, जिस जिस तरह अग्नि काठ को भस्म कर देती है उसी तरह ज्ञान कर्म्म का नाश कर देता है।

"ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति। गीता, ४। ३९।

'ज्ञानलाभ होते ही परम शान्ति प्राप्त होती है।'

किन्तु गीता में जिस ज्ञान की ओर इशारा है वह तत्त्वज्ञान है उसी को परा विद्या भी कहते हैं। वह ज्ञान अपरा विद्या या अवर ज्ञान नहीं है*। परा विद्या किसे कहते हैं? जिसके द्वारा उस अक्षर पुरुष को पाया जाय।

"अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते।" मुण्डकोपनिषद्, १। १। ५

तत्त्वज्ञान का अर्थ है 'तत्' का ज्ञान। तत् = वह; ओं तत्सत् = वही सच्चिदानन्द भगवान्। गीता कहती है कि ज्ञान उसी को कहते हैं, जिसके द्वारा जीव पहले तो सबको अपने में और बाद को ईश्वर में दर्शन करे।

"येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥ गीता, ४। ३५

---

* Madame Blavatsky ने तिब्बती भाषा में लिखे Book of Golden Precepts नामक ग्रन्थ से जो अपूर्व सारसंग्रह "(Voice of the Silence" प्रकाशित किया है उसमें भी इस अवरज्ञान (Head-learning) और तत्त्वज्ञान (Soul-wisdom) का भेद दिखाया है।

"Learn to discern the real from the false, the ever fleeting from the ever-lasting. Learn above all to separate Head-learning from Soul-wisdom, the "Eye" from the 'Heart' doctrine."—Voice of the Silence.

इस लिए तत्त्वज्ञानी बिना भगवद्भक्त हुए नहीं रह सकता क्योंकि उसको जान कर उसके प्रति परा अनुरक्ति या परम प्रेम का उदय होगा ही । इस लिए ज्ञानी को भक्त होना ही पड़ेगा ।*

इसी लिए भगवान् ने गीता में चार तरह के भक्तों का ज़िक्र करते हुए ज्ञानी को ही श्रेष्ठ भक्त बताया है । ये चार तरह के भक्त क्रम-पूर्वक इस तरह हैं (१) आर्त्त (जिस तरह कुरु-सभा में द्रौपदी); (२) अर्थार्थी (जिस तरह उत्तम स्थान का आकांक्षी ध्रुव) (३) जिज्ञासु (जिस तरह उद्धव और अर्जुन) और (४) ज्ञानी (जिस तरह प्रह्लाद, शुक, नारद आदि) । इन सब में ज्ञानी ही श्रेष्ठ है । क्योंकि ज्ञानी को भगवान् ही सब से ज़्यादा प्यारे हैं । इसी लिए भगवान् भी ज्ञानी के प्रति प्रीतिमान् हैं ।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियोहि ज्ञानिनोत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः सहि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥

गीता, ७ । १६—१८

---

* इसी लिए गीता ने ज्ञान का लक्षण बताते हुए भगवान् की एकान्त एकाग्र भक्ति का उल्लेख किया है ।

"मयिचानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।" गीता, १३ । १०

और ज्ञानी के सम्बन्ध में कहा है कि ज्ञानी ज्ञान-यज्ञ के द्वारा भगवान् की उपासना करें ।

"ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ॥" गीता, ९ । १५

चारों श्रेणियों के भक्त उत्कृष्ट हैं। किन्तु गीता कहती है कि ज्ञानी तो मानो भगवान् का आत्मा ही है। वह भगवान् को ही परमगति मान कर एकाग्रचित्त से उनका आश्रय ग्रहण करता है। इसमें शक नहीं कि ऐसे तत्त्वज्ञानी जगत् में विरले ही हैं। किन्तु बहुत से जन्मों की साधना के फल से जो तत्त्वज्ञान के यथार्थ अधिकारी हो गये हैं वे जगत् में सब कहीं भगवान् की सत्ता ही अनुभव करते हैं और अन्त में भगवान् को प्राप्त होते हैं।

"बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥"

गीता, ७ । १९

"अनेक जन्मों के बाद ज्ञानवान् मुझको प्राप्त होता है। वासुदेव ही सब कुछ हैं ऐसा अनुभव करने वाले महात्मा बहुत कम हैं।

हमने देखा है कि सांख्य के मत में प्रकृति या प्रधान एक है पर पुरुष बहुत हैं। और हर एक पुरुष विश्वव्यापी है। *

---

*इस मत की अयौक्तिकता प्रतिपादन करने के लिए अध्यापक मैक्समूलर लिखते हैं—

" If the *Purusha* was meant as absolute, as eternal, immortal and unconditioned, it ought to have been clear to *Kapila* that the plurality of such a *Purusha*, would involve its being limited, determined or conditioned, and would render the character of it self-contradictory.* * * Many *Purushas*, from a metaphysical point of view, necessitate the admission of one *Purusha*.** Because, if the Purushas were supposed to be many, they would not be *Purushas*,

सूत्र में और कारिका में पुरुष का बहुत्व स्पष्ट ही लिखा है। गौड़पाद भी इसी मत को मानते हैं। कारिका के भाष्य में कहीं भी उन्होंने पुरुष बहुत्व के मत का प्रतिवाद नहीं किया। तो भी भाष्य में एक जगह पुरुष एक ही है यह बात मजबूरन् उनको मानना पड़ो है।

"अनेकं व्यक्तं एकमव्यक्तं तथाच पुमानप्येकः।" व्यक्त (विकृति) अनेक हैं किन्तु अव्यक्त (प्रकृति) एक है और पुरुष भी एक है। मालूम होता है पूर्वकाल में यही मत प्रचलित था। क्योंकि सांख्य वाले जिस श्रुति को सांख्यशास्त्र की भित्ति समझते हैं उसमें भी पुरुष का एकत्व साफ़ साफ़ ही बताया गया है।

"अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां
बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोनुशेते
जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥"
श्वेताश्वतरोपनिषद्, ४। ५।

'प्रकृति अजा (नित्या) है, एका (अद्वितीया) है, लोहित शुक्ल कृष्णा—(त्रिगुणमयी) है, अनेक विकारों की जननी है; पुरुष अज (नित्य) है, एक (अद्वितीय) है। पुरुष भोग करने के लिए इस प्रकृति को आलिङ्गन करता है जब भोग कर चुकता है तब इसको छोड़ देता है।'

---

and being *Purusha*, they would by necessity cease to be many.—*Max Muller's Six Systems of Indian Philosophy*, page 375.

'गीता पुरुष का बहुत्व नहीं मानती । गीता कहती है कि जिस तरह एक सूर्य्य सारे जगत् को प्रकाशित करता है उसी तरह एक मात्र पुरुष समस्त क्षेत्र (प्रकृति) को प्रकाशित करता है ।'

"यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥" गीता, १३ । ३३

क्षेत्री = क्षेत्रज्ञ = पुरुष ।

गीता के मत में भगवान् ही क्षेत्रज्ञ के रूप में सब क्षेत्रों में विराजमान हैं । वह एक ही हैं, बहु किस तरह हो सकते हैं ?

'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।' गीता, १३ । २

भगवान् कहते हैं "प्रत्येक क्षेत्र में मुझे ही क्षेत्रज्ञ समझो ।" वे सर्वव्यापी हैं, अपरिच्छिन्न हैं और अविभक्त हैं—वे उपाधि-भेद से एक होते हुए भी बहु दीखते हैं ।

'अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् । गीता, १३ । १६

'वे अविभक्त होते हुए भी भूतों में विभक्त हुए से स्थित हैं ।' शास्त्र में और जगह भी लिखा है—

"एकं बहुधा निहितं गुहायाम् ।"

'वह एक है पर गुहा-भेद से बहु दिखाई देता है ।' गीता में आत्मा का परिचय देते हुए लिखा है—

"अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥ १७ ॥
न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ २० ॥"

"नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥ २४ ॥"

"अव्यक्तोयमचिंत्योयमविकार्योऽयमुच्यते ॥ २५ ॥

गीता, २ अध्याय ।

'जिसके बल से समस्त जगत् चल रहा है, उसका कभी नाश नहीं हो सकता, वह अव्यय है उसका कोई नाश नहीं कर सकता ।' 'आत्मा न कभी जन्म लेती है, न मरती है; यह न कभी जन्मी थी और न कभी मरेगी; यह अजन्मा, चिरस्थायी कभी न घटने बढ़ने वाली और सनातन है । शरीर के मरने पर भी यह नहीं मरती ।'

'वह अनन्त है, सर्वगत है, स्थिर है, अचल है, सनातन है, अव्यक्त है, अचिन्त्य है और निर्विकार है ।

इस वाक्य द्वारा गीता ने पुरुष को छः तरह के विकारों से वर्जित * बता कर सांख्य मत की पुष्टि की है । पर जीवात्मा के साथ परमात्मा के, सांख्योक्त पुरुष के साथ पुरुषोत्तम के अभेद को भी दिखाया है । गीता में और जगह साफ़ साफ़ ही लिखा है—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः । १० । २० ।

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः । १५ । १५ ।

भगवान् अर्जुन से कहते हैं कि सब की बुद्धियों में मैं आत्मा के रूप में विराजित हूँ । सबके हृदयों में मैं अधिष्ठित हूँ ।

हमने देखा है कि सांख्य के मत में प्रकृति का स्वभाव ही

---

* सांख्यवादी कहते हैं, कि पुरुष छः तरह के विकारों से वर्जित है । ये छः विकार क्या हैं ? "जायते, अस्ति, वर्द्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, नश्यति ।" जन्म, स्थिति, वृद्धि, परिणाम, क्षय और विनाश । सांख्य के मत में पुरुष को इन छः विकारों में से कोई भी छू तक नहीं सकता ।

परिणाम है। अर्थात् प्रकृति के तीनों गुणों की साम्यावस्था (equilibrium) की स्वतः ही विच्युति होती है। इसलिए प्रकृति को विकार के लिए किसी अन्य कारण की अपेक्षा नहीं करना पड़ती।

सांख्यवादी यह भी कहते हैं, कि पुरुष के भोग और मोक्ष के लिए प्रकृति का परिणाम होता है। यही प्रकृति के परिणाम का उद्देश, फल वा अभिप्राय कहा जा सकता है। किन्तु प्रकृति के परिणाम से जो प्रयोजन सिद्ध होता है उसको भी परिणाम के कारणों में गिना जा सकता है क्या?

प्रकृति का परिणाम स्वयं होता है इस मत का गीता समर्थन नहीं करती। गीता कहती है, कि प्रकृति का परिणाम पुरुष के अधिष्ठान से होता है।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥ गीता, ९। १०

'हे कौन्तेय, समस्त संसार का स्वामी मैं हूँ, मेरा आश्रय ग्रहण करके प्रकृति चराचर जगत् को उत्पन्न करती है और इसीलिए जगत् का परिणाम (विकार) संघटित होता है।'

"यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञ संयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ॥" गीता, १३। २६

'हे अर्जुन, स्थावर अथवा जङ्गम सब प्रकार के प्राणी क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से ही उत्पन्न होते हैं।'*

---

* 'स ईक्षत' 'स ईक्षाञ्चक्रे' इत्यादि वाक्यों से श्रुति इस मत को पोषण करती है।

यहाँ क्षेत्र प्रकृति के लिए और क्षेत्रज्ञ पुरुष (ईश्वर) के लिए आया है। सांख्य-शास्त्र में भी इस कथा का आभास मिलता है। सांख्यवादी भी कहते हैं, कि सृष्टि प्रकृति और पुरुष के संयोग का फल है (तत्कृतः सर्गः)। प्रचलित सांख्यमत में जब ईश्वर माना ही नहीं जाता तब सांख्य वाले इस जगह पुरुष को ईश्वर के अर्थ में नहीं बल्कि जीव के अर्थ में मानेंगे। मूल तत्त्व के विकृत हो जाने से सांख्य मत ने अब ऐसा आकार धारण कर लिया है कि वह जीव और प्रकृति के संयोग से ही सृष्टि की उत्पत्ति मानता है। यदि यही ठीक है तब प्रकृति के स्वतः परिणामवाद की क्या गति होगी। दूसरी बात यह है कि सांख्य के मत में पुरुष बहु हैं। प्रत्येक पुरुष ही सर्वव्यापी है। ऐसी अवस्था में जब तक समस्त पुरुषों की मुक्ति न हो जाय तब तक प्रकृति का परिणाम निवृत्त नहीं हो सकता। सांख्यवादी और भी कहते हैं किसी जीव के विवेक ज्ञान कर लेने से प्रकृति का काम निवृत्त हो जाता है* पर उस समय भी तो किसी न किसी पुरुष का प्रकृति के साथ संबन्ध रहेगा ही। किन्तु यह हो किस तरह सकता है? सांख्यवादी इसके उत्तर में यह कह सकते हैं कि तत्त्वज्ञानी के सम्बन्ध में जिस प्रकृति का परिणाम निरुद्ध हो जाता है वह समष्टि प्रकृति नहीं बल्कि व्यष्टि प्रकृति है। अर्थात् प्रकृति का जो भग्नांश तत्त्वज्ञानी के लिंग-शरीर के रूप में प्रविभक्त था उसी का परिणाम तो निरुद्ध हो गया किन्तु अखण्ड प्रकृति के इधर उधर जो परिणाम हो रहा था वह जैसे का तैसा

---

* ६५ कारिका की "निवृत्तिप्रसवा" और ६८ कारिका के "प्रधान-विनिवृत्तौ" शब्दों को देखिए।

रहा । ज्ञानी के मोक्ष के विषय में यदि प्रकृति का ऐसा सङ्कीर्ण अर्थ किया जाता है तो जहाँ प्रकृति-पुरुष के संयोग को सृष्टि का कारण बताया गया है उस जगह भी ऐसा ही संकीर्ण अर्थ फिर क्यों न किया जाय ? पुरुष या जीव के साथ मिल कर प्रकृति का जो परिणाम होता है वह अखण्ड प्रकृति नहीं है—उसका जो भग्नांश है वह सिर्फ़ जीव की कारण शरीर रूपी व्यष्टि प्रकृति है। इसी संयोग को लक्ष्य करके सांख्यवादी जीव को अयस्कान्त मणि की तरह सन्निधिमात्र-उपकारी बताते हैं। अर्थात् जिस तरह अयस्कान्त मणि दूर से ही लोहे को गतिशील कर देती है उसी तरह पुरुष निष्क्रिय होते हुए भी सन्निधि मात्र से ही प्रकृति को परिणामशील बना देते हैं।*

किन्तु जिस प्रकृति और पुरुष के संयोग से सृष्टि का कार्य्य निष्पन्न होता है वह प्रकृति अखण्ड प्रकृति है और वह पुरुष पुरुषोत्तम है।†

* सांख्यवादियों का अयस्कान्त मणि वाला दृष्टान्त ठीक नहीं है। सांख्य के मत में पुरुष निरा निष्क्रिय और निर्व्यापार है। अयस्कान्त मणि भी क्या वैसी ही है ? हमने विज्ञान की सहायता से जान पाया है, कि अयस्कान्तमणि क्रियाशील चुम्बक शक्ति का केन्द्र-स्थल है। सांख्योक्त पुरुष जो चिन्मात्र (true monad) है वह निष्क्रिय भी ज़रूर है। पर जो सन्निधिमात्र के उपकारी हैं—जिनके अधिष्ठान और ईक्षण से प्रकृति का परिणाम होता है—वह पुरुष नहीं है—पुरुषोत्तम है। वह निष्क्रिय नहीं है, वह है "अपाणिपादो जवनो गृहीता।"

† पुरुष की सन्निधि के अतिरिक्त यदि प्रकृति का परिणाम सिद्ध न हो, तब सांख्यवादी—प्रलय काल में जब कि प्रकृति के साथ पुरुष का कुछ

वास्तव में ईश्वर का अधिष्ठान ही प्रकृति के सृष्टिरूप परिणाम का असली कारण है। प्रलय में यह अधिष्ठान अपसृत हो जाता है। इसी लिए उस समय प्रकृति की साम्यावस्था रहती है। प्रलय में प्रकृति का सदृश परिणाम होता है यह बात सांख्यवादियों की निरी कल्पना है। सृष्टि से पहले भगवान् प्रकृति को "ईक्षण" करते हैं। उसी से प्रकृति की साम्यावस्था टूट कर उसका परिणाम आरम्भ होता है। भगवान् ने इसी को गीता में "प्रकृति का गर्भाधान" कहा है।

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्त्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥

गीता, १४। ३—४

'भगवान् अर्जुन से कहते हैं, कि महद् ब्रह्म मेरा गर्भ रखने का स्थान है, उसमें मैं गर्भ रखता हूँ और उसी से सब भूतों की उत्पत्ति होती है। जगत् में जो कुछ उत्पन्न होता है प्रकृति उसकी योनि है और मैं उसमें बीज रखने वाला पिता हूँ।*'

सम्बन्ध रहता ही नहीं उस समय प्रकृति का स्वतःसिद्ध सदृश परिणाम किस तरह सिद्ध करेंगे? या तो उक्त परिणाम कल्पनामात्र है या प्रकृति पुरुष का संयोग परिणाम का प्रकृत कारण नहीं।

* महद् ब्रह्म = अचेतना प्रकृति।
गर्भ = चेतना प्रकृति, पुरुष।
मदीया माया त्रिगुणात्मिका प्रकृतिः—शङ्कर। प्रकृतिरित्यर्थः। श्रीधर।
अव्याकृतम् प्रकृतिः त्रिगुणात्मिका माया।—मधुसूदन।

भगवान् मनु ने भी कहा है,—

अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ।—मनुसंहिता ।

'भगवान् ने सृष्टि की इच्छा करने के बाद सबसे पहले अप (प्रकृति) बनाया और फिर उसमें बीज बोया ।'

उपनिषद् में भी लिखा है कि जगत् को बना कर भगवान् ने उसमें प्रवेश किया ।

तत्सृष्ट्वातदेवानुप्राविशत् । तैत्तिरीय उपनिषद् २ । ६ । १

अनेन जीवेन आत्मनानुप्रविश्य नामरूप व्याकरवाणि ।

छान्दोग्य उपनिषद् ६ । ३ । २

भगवान् ने जीव रूप में जगत् में प्रविष्ट होकर नाम रूप का विकार सिद्ध किया । इसी लिए भगवान् ने गीता में लिखा है, कि मैंने अव्यक्त सूक्ष्म मूर्त्ति से सारे संसार को ढक रक्खा है ।

पुरुष के अधिष्ठान से ही प्रकृति का परिणाम होता है—यह बात भागवत में भी साफ़ साफ़ लिखी है ।

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञप्रकृतिद्वयशक्तिमान् ईश्वरोऽहम् × × क्षेत्रज्ञं क्षेत्रेण संयोजयामि [शङ्कर]

जगद्विस्तारहेतुं चिदाभासं क्षेत्रज्ञं सृष्टिसमये भोगयोग्येन क्षेत्रेण संयोजयामि । श्रीधर ।

क्षेत्रज्ञं सृष्टिसमये भोग्येन क्षेत्रेण कार्य्यकारणसंघातेन संयोजयितुम् ।
चिदाभासाख्यरेतःसेकपूर्वकं मायावृत्तिरूपं गर्भमहं आदधामीति ॥

मधुसूदन ।

"इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे परां जीवभूतां" इति चेतनपुंजरूपा या प्रकृतिः निर्दिष्टा सेह सकलप्राणिबीजतया गर्भशब्देन उच्यते । तस्मिन्नचेतने योनिभूते महति ब्रह्मणि चेतन पुञ्जरूपं गर्भं दधामि ।—रामानुज ।

कालवृत्त्या तु मायायां गुणमय्यामधोक्षजः।

पुरुषेणात्म भूतेनवीर्य्यमाधत्त वीर्य्यवान्॥

ततो भवेत् महत्तत्त्वम्।—श्रीमद्भागवत। ३। ५। २६,७

'समय जाने पर अतीन्द्रिय शक्तिमान् परमात्मा ने गुणमयी माया में आत्मभूत पुरुष रूप से वीर्य्यदान किया। उसी से फिर महत्तत्त्व उत्पन्न हुआ।'

कालात् गुणव्यतिकरः परिणामः स्वभावतः।

कर्म्मणो जन्म महतः पुरुषाधिष्ठितादभूत्॥ भागवत, २। ५। २२

अर्थात्, सृष्टि के तीन प्रधान कारण हैं। काल, कर्म्म और प्रकृति। प्रलय का निर्दिष्ट समय जब बीत गया, तब पूर्व कल्प के अभुक्त कर्म्मों के भोगने के लिए प्रकृति का फिर परिणाम हुआ।

अर्थात्, सृष्टि का उपादान कारण प्रकृति है, एवं निमित्त-कारणों में अन्यतम कारण है जीव का अदृष्ट। जीव के पूर्व कल्प में जो अभुक्त कर्म्म रह गये थे वे सृष्टि के निमित्त कारण हैं—इस बात का तत्त्वसमास या कारिका में इशारा तक नहीं। किन्तु पौराणिक मत का स्मरण करके अपेक्षाकृत आधुनिक सांख्य-प्रवचन-सूत्र में जहाँ तहाँ इस मत का समावेश किया गया है।

न कर्म्मण उपादानव्यायोगात्।—सांख्यसूत्र, १। ८१

कर्म्मणोपि न वस्तुसिद्धिर्निमित्तकारणस्य कर्म्मणो न मूलकारणत्वं गुणानां द्रव्योपादानव्यायोगात्॥ (ऊपर के सूत्र पर विज्ञानभिक्षु का भाष्य)

व्यक्तिभेदः कर्म्मविशेषात्। सांख्यसूत्र, ३। १०

अत्र विशेषवचनात् समष्टि सृष्टिर्जीवानां साधारणैः कर्म्मभिर्भवतीत्यायातम्। (इस सूत्र पर विज्ञानभिक्षु का भाष्य)

कर्म्माकृष्टेर्वानादितः। सांख्यसूत्र, ३। ६२

यतः कर्म्मानादि अतः कर्म्मभिराकर्षणादपि प्रधानस्यावश्यकी व्यवस्थिता च प्रवृत्तिः। (विज्ञानभिक्षु)

कर्म्म अनादि हैं, तो कर्म्म के आकर्षण से भी प्रकृति की प्रवृत्ति सिद्ध हो सकती है।

कर्म्मनिमित्तः प्रकृतेः स्वस्वामिभावोप्यनादिर्वीजाङ्कुरवत्॥*

सांख्यसूत्र, ६। ६७

इन स्थानों में कर्म्म को सृष्टि का कारण बताया गया है। दूसरी जगह पर लिखा है कि प्रकृति का परिणाम किसी अन्य कारण की अपेक्षा नहीं करता।

कर्म्मवत् दृष्टेर्वा कालादेः—३। ६० सूत्र।

कालादेः कर्म्मवद्वा स्वतः प्रधानस्य चेष्टितं सिद्ध्यति।—विज्ञानभिक्षु।

अर्थात्, प्रधान का व्यापार आप ही आप सिद्ध होता है—जिस तरह ऋतु आदि स्वयं बदलती रहती हैं।

अदृष्टोद्भूतिवत् समानत्वम्। सांख्यसूत्र, ६। ६२।

यथा सर्गादिषु प्रकृतिक्षोभककर्म्माभिव्यक्तिः कालविशेषमात्राद् भवति तदुद्बोधककर्म्मान्तरस्य कल्पनेऽनवस्थाप्रसंगात् तथैवाहङ्कारः कालमात्रनिमित्तादेव जायते नतु तस्यापि कर्त्रन्तरमस्तीति समानत्वमावयोरित्यर्थः।

(इसी सूत्र पर विज्ञानभिक्षु का भाष्य)

अर्थात्, सृष्टि के आरम्भ में जो प्रकृति का क्षोभ वा परिणाम

---

* येषां सांख्यैकदेशिनां प्रकृतेः पुरुषस्य च स्वस्वामिभावो भोग्यभोक्तृभावः कर्म्मनिमित्तकस्तन्मतेपि स प्रवाहरूपेणानादिरेव। सांख्यसूत्र, १३। ६७ पर विज्ञानभिक्षु का भाष्य।

ज़ाहिर होता है वह काल पाकर स्वयं ही होता है उसके लिए कारणान्तर की अपेक्षा नहीं करनी पड़ती ।

दूसरी जगह सूत्रकार साफ़ साफ़ ही कहते हैं—

"प्रधानसृष्टिः परार्थं स्वतः । सांख्यसूत्र, ३ । ५८ ।

"प्रधान का परिणाम स्वतःसिद्ध है ।" उसका प्रयोजन दूसरे की अर्थसिद्धि (भोग और मोक्ष-साधन) है । *

फिर एक जगह अविवेक या तृष्णा को ही सृष्टि का निमित्त कारण बताया है:—

सृष्टेर्मुख्यं निमित्तकारणमाह—

"रागविरागयोर्योगः सृष्टिः ॥" सांख्यसूत्र, २ । ९ ।

रागे सृष्टि वैराग्ये च योगः स्वरूपेऽवस्थानम् ।

(इस सूत्र पर विज्ञानभिक्षु का भाष्य)

अर्थात्—सृष्टि का मुख्य निमित्त कारण राग और तृष्णा है ।

---

* सांख्य के मत में प्रकृति का परिणाम बिना किसी अन्य कारण के स्वतः ही होता है—श्रीमत् शङ्कराचार्य्य भी इस बात को मानते हैं । वेदान्त के भाष्य में वे सांख्य मत का इस तरह विवरण देते हैं—

"यथा तृणपल्लवोदकादिनिमित्तान्तरनिरपेक्षं स्वभावादेव क्षीराद्याकारेण परिणमते, एवं प्रधानमपि महदाद्याकारेण परिणंस्यत इति × × यथा क्षीरमचेतनं स्वभावेनैव वत्सविवृद्ध्यर्थं प्रवर्त्तते, यथा च जलमचेतनं स्वभावेनैव लोकोपकाराय स्पन्दते, एवं प्रधानमचेतनं स्वभावेनैव पुरुषार्थसिद्धये प्रवर्त्तिष्यत इति × × सांख्यानां त्रयो गुणाः साम्येनावतिष्ठमानाः प्रधानं, नतु तद् व्यतिरेकेण प्रधानस्य प्रवर्त्तकं निवर्त्तकंवा किञ्चित् बाह्यमपेक्ष्यमवस्थितमस्ति ।

२ । २ । ३—५ ब्रह्मसूत्र पर शाङ्करभाष्य ।

अविवेकनिमित्तो वा पञ्चशिखः । सांख्यसूत्र, ६ । ६८ ।

अविवेकनिमित्तो वा स्वस्वामिभाव इति पञ्चशिख आह ।

तन्मतेऽप्यनादिरित्यर्थः । एतदेव स्वमतं प्रागुक्तत्वात् ।

(इस सूत्र पर विज्ञानभिक्षु का भाष्य)

अर्थात्, 'पुरुष अविवेक के वशीभूत होकर अपने को प्रकृति के साथ सरूप समझता है । उसी से सृष्टि होती है ।' इस तरह हम देखते हैं कि सांख्यसूत्र में जगह जगह पर विरोधी मतों के समावेश हो जाने से असङ्गति हो गई है । कुछ ही क्यों न हो बिना पुरुष के अधिष्ठान के प्रकृति का परिणाम सिद्ध नहीं हो सकता । इस विषय में सन्देह करने का कोई कारण नहीं । वह पुरुष पुरुषोत्तम हैं ।

जातक्षोभाद् भगवतो महानासीत् गुणत्रयात् । भागवत, ३ । २० । १२ ।

'भगवान् के क्षोभ से ही महत् का प्रादुर्भाव होता है ।' मालूम होता है सांख्य का प्राचीन मत यही है । तत्त्वसमास की वृत्ति में महत्तत्त्व या बुद्धि की उत्पत्ति के प्रसङ्ग में इस तरह लिखा है—

अव्यक्तात् प्रागुपदिष्टात् सर्व्वगतपुरुषेण परेणाधिष्ठितात् बुद्धिरुत्पद्यते ।

अर्थात्, सर्वगत पर पुरुष के अधिष्ठान द्वारा अव्यक्त से बुद्धि उत्पन्न होती है । 'यह सर्वगत पर पुरुष' सर्वव्यापी पुरुषोत्तम भगवान् के सिवा क्या कोई अन्य हो सकता है ? किसी किसी सांख्य ग्रन्थ में यह श्रुति भी उद्धृत दिखाई देती है—"अग्रे तम आसन्, तद्धै परेनेरितम्, विषमत्वं प्रायात् तद्धै रजो रूपम् । तत्परेनेरितं विषमत्वं प्रायात् तद्धै सत्वरूपम् ।"

जिसकी प्रेरणा से सृष्टि होती है वह और कोई नहीं परमेश्वर है। सिद्धान्तशिरोमणि भी इस मत का अनुसरण करती हुई लिखती है—

सांख्यादियोगशास्त्रेपु श्रुतिपुराणेपु चादिसर्गो यथोदितं तदत्रोच्यते । तत्र प्रकृतिर्नामाव्यक्तमव्याकृतं गुणसाम्यं कारणं इत्यादयः प्रकृतेः पर्य्यायाः । तस्याः प्रकृतेरन्तर्भगवान् सर्वव्यापकः पुरुषोऽस्ति । सिद्धान्तशिरोमणि; गोलाध्याय; भुवनकोश ।

अर्थात् सांख्यादि शास्त्रो में और श्रुति पुराण में सृष्टि के उत्पन्न होने का जो प्रकार वर्णित है वह लिखा जाता है। मूल कारण प्रकृति है। अव्यक्त, अव्याकृत, गुणसाम्य आदि प्रकृति के ही भिन्न भिन्न नाम हैं। इस प्रकृति के भीतर भगवान् सर्वव्यापी पुरुष अधिष्ठान करते हैं। इसी कारण से सृष्टि होती है।

गौड़पादाचार्य्य लिखते हैं—

यथा स्त्रीपुरुषसंयोगात् सुतोत्पत्तिस्तथा प्रधानपुरुषसंयोगात् सर्गस्य उत्पत्तिः । [इक्कीसवीं कारिका पर भाष्य]

'जिस तरह स्त्री-पुरुष के संयोग से संतान उत्पन्न होती है उसी तरह प्रकृति और पुरुष के संयोग से सृष्टि की उत्पत्ति होती है।' यदि यह बात सच है तब पुरुष निष्क्रिय है और सन्निधि मात्र में उपकारी है इस मत की क्या दशा होगी ?

प्रकृति का परिणाम अपने आप नहीं हो सकता—यह बात युक्ति द्वारा भी सिद्ध की जा सकती है। हम जानते हैं कि प्रकृति जगत् का निर्विशेष उपादान (homogeneous root-matter) है। वह उपादान जब निर्विशेष (homogeneous) है तब उसकी साम्यावस्था

स्थायी नहीं हो सकती, वह है भङ्गुर (unstable equilibrium)। जब कि वह साम्यावस्था का भङ्गुर है तब इसमें सन्देह नहीं कि इस अवस्था में शक्तिसमूह का समाञ्जस्य रहता ज़रूर है किन्तु यदि बाहर की कोई शक्ति (वह शक्ति चाहे कितनी सामान्य क्यों न हो) उसके बीच में आ पड़े तब उसी समय उसकी साम्यावस्था टूट जायगी और वह निर्विशेष उपादान परिणामोन्मुख होकर विकार-ग्रस्त हो जायगा और उसका यह फल होगा, कि क्रमशः अविशेष से विशेष का आरम्भ होने लगेगा [अविशेषात् विशेषारम्भः] एवं उस विशेषभाव की उत्तरोत्तर वृद्धि होती जायगी तथा विशेष सविशेष में परिणत हो जायगा ।*

यह अतिरिक्त शक्ति (further force) जिसके बिना आये निर्विशेष सविशेष में परिणत हो नहीं सकता, कहाँ से आती है ?

गीता कहती है—ईश्वर से ।

---

* इस विषय में हर्बर्ट स्पेन्सर ने जो कुछ लिखा है वह भी हमारे ध्यान देने योग्य है—

The condition of homogeneity is a condition of unstable equilibrium. The phrase 'unstable equilibrium' is one used in mechanics to express a balance of forces of such kind that the interference of any further force, however minute, will destroy the arrangement previously subsisting and bring about a totally different arrangement.

It is clear that not only the homogeneous must lapse into the non-homogeneous, but that the more homogeneous must tend ever to become less homogeneous.—*Herbert Spencer's First Principles; the instability of the homogeneous, p. 358.*

"यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी।"

'भगवत् से ही पुराणी प्रवृत्ति प्रसृत होती है।' *

इस लिए, प्रकृति का परिणाम स्वयं होता है यह बात कभी सिद्ध नहीं हो सकती।

सांख्यवादी ईश्वर का स्वीकार नहीं करते। सांख्यशास्त्र निरीश्वर शास्त्र है। तत्त्वसमास या कारिका में ईश्वर का कोई भी प्रसंग नहीं मिलता। प्रवचनसूत्र में ईश्वर स्वीकृत नहीं हुए हैं पर उनका ज़िक्र आया है। इस लिए पातञ्जलदर्शन (जिसमें ईश्वर माना गया है) से कापिलदर्शन को अलग करके इसको निरीश्वर सांख्य और और योगदर्शन को सेश्वरसांख्य कहा गया है। विज्ञानभिक्षु कहते हैं, कि सूत्रकार ने "अभ्युपगमवाद" का अवलम्बन करके ईश्वर का प्रत्याख्यान किया है। उनके मत में सूत्रकार का अभिप्राय यही था कि यदि थोड़ी देर के लिए मान भी लिया जाय कि ईश्वर सिद्ध नहीं हो सकता तो भी मुक्ति में कोई बाधा नहीं पड़ती। पर वाचस्पति मिश्र यह बात नहीं मानते। उनके मत में सांख्य निरीश्वरवादी है। माधवाचार्य्य ने भी "सर्वदर्शन संग्रह" में वाचस्पति

---

* इस विषय में श्रीमती एनीबेसंट अपने 'Esoteric Christianety' ग्रन्थ में इस तरह लिखती हैं—

When the three qualities are in equilibrium there is the one, the virgin matter, unproductive; when the power of the Highest overshadows Her and the breath of the spirit comes upon Her, the qualities are thrown out of equilibrium and She becomes the Divine Mother of the worlds.

मिश्र के मत का ही अनुमोदन किया है। * इस सम्बन्ध में सांख्यसूत्र की ओर दृष्टिपात करने से ज़रा सा भी संदेह नहीं रहता।

ईश्वरासिद्धेः। सांख्य सूत्र १। ६२।

मुक्तबद्धयोरन्यतराभावात् न तत्सिद्धिः। १। ६३॥

---

* महामहोपाध्याय चन्द्रकान्त तर्कालङ्कार अपने "हिन्दूदर्शन" में इसी मत की पोषकता करते हैं। हिन्दूदर्शन—२२४ पृष्ठ।

प्रसिद्ध टीकाकार श्रीधरस्वामी और मधुसूदन सरस्वती का भी यही मत था। गीता के १४। १ श्लोक की टीका में वे लिखते हैं,—

सर्वक्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः संयोगो निरीश्वरसांख्यानामिव 'न स्वातन्त्र्येण किन्तु ईश्वरेच्छयैव।' श्रीधर॥ 'तत्र निरीश्वरसांख्यमतनिराकरणेन क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगस्य ईश्वराधीनत्वं वक्तव्यम्।' मधूसूदन॥ अर्थात्, निरीश्वर सांख्यवादी प्रकृति पुरुष के संयोग को जो स्वतन्त्र मानते हैं—यह ठीक नहीं। वह संयोग ईश्वर के अधिष्ठान के बिना नहीं हो सकता। मैक्समूलर ने किन्तु विज्ञानभिक्षु के मत का ही अनुसरण किया है,—

It is true that the Sankhya Philosophy was accused of atheism, but that atheism was very different from what we mean by it. It was the negation of the necessity of admitting an active or limited personal God [*Indian Philosophy, p.* 865].

Nor does he enter on any arguments to disprove the existence of one only God. He simply says—and in that respect he does not differ much from Kant—that there are no logical proofs to establish that existence, but neither does he offer any such proofs for denying it [*Max Muller*, Indian Philosophy—p. 397].

उभयथाप्यसत्करत्वम्। १। ६४।

प्रमाणाभावान्न तत्सिद्धिः। ५। १०।

अहङ्कारकर्माधीना कार्य्यसिद्धिः। ५। ११।

नेश्वराधीना प्रमाणाभावात्। ६। ६४।

अर्थात् ईश्वर को सिद्ध करने के लिए कोई प्रमाण नहीं। ईश्वर जगत् के सृष्टिकर्त्ता हो नहीं सकते क्योंकि उनमें किसी तरह की क्रिया वा व्यापार नहीं है। फिर जगत् की सृष्टि की ओर उनकी प्रवृत्ति किस तरह होगी? यदि उनको बद्ध कहा जाय तभी उनमें प्रवृत्ति का होना सम्भव है! पर बद्ध होने पर वह सर्वज्ञ नहीं हो सकते। इस लिए इस विषय में वे अक्षम हैं। और यदि कहो कि ईश्वर मुक्त हैं तब वे पूर्ण आप्तकाम तो ज़रूर हुए पर उनको कोई प्रयोजन या इच्छा नहीं होनी चाहिए। फिर वे सृष्टिकार्य्य में कैसे प्रवृत्त हुए। यदि कहो कि दूसरे के दुःख दूर करने के लिए ही उनकी प्रवृत्ति हुई तो यह बात भी ठीक नहीं। क्योंकि यदि वे करुणामय थे तब उन्होंने दुःख बनाया ही क्यों? जीवों के कर्म्मानुसार उन्होंने विचित्र जगत् को बनाया—यह बात भी संगत नहीं। क्योंकि कर्म्म अचेतन हैं, वे चेतन के अधिष्ठान के बिना किस तरह फल उत्पन्न कर सकते हैं? इत्यादि *।

* सांख्यवादियों ने नित्य ईश्वर का प्रत्याख्यान करके जन्म ईश्वर को स्वीकार किया है। (नित्येश्वरस्यैव विवादास्पदत्वात्—३। ५७ सूत्र के भाष्य पर विज्ञानभिक्षु)। वे कहते हैं कि जो जीव पूर्वकल्प में प्रकृति में लय प्राप्त करते हैं वे ही दूसरे कल्प में सर्ववित्, सर्वकर्त्ता आदि पुरुष के रूप में आविर्भूत होते हैं। इस तरह जन्य ईश्वर ही सिद्ध होते हैं।

इन सब दुर्बल और असार युक्तियों की अवतारणा करके सांख्यवादियों ने ईश्वर का प्रत्याख्यान किया है । इन युक्तियों को उन्होंने न मालूम क्यों समीचीन समझा ।

पहले ही कह चुके हैं कि गीता ईश्वरवाद से समुज्ज्वल है । ईश्वर को बिना माने गीता एक पद भी आगे को नहीं बढ़ती । सांख्य-शास्त्र में कैवल्य लाभ के जो उपाय बताये हैं—उनके साथ ईश्वर का कुछ भी सम्पर्क नहीं है । ईश्वर है ही नहीं—यदि होता भी—तो भी सांख्य-शास्त्र में बताई प्रणाली को अनुसरण करने में जीव को उसके साथ कोई सम्बन्ध स्थापन करने की ज़रूरत नहीं

ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा । स हि सर्ववित् सर्व्वकर्त्ता ।
सांख्यसूत्र ३ । ५६५७

वे कहते हैं कि वेद में ईश्वर की प्रतिपादक जो श्रुतियाँ मिलती हैं वे ऐसे ही मुक्त पुरुष (जन्य ईश्वर) की प्रशंसा वा उपासना की सूचक हैं ।

मुक्तात्मनः प्रशंसा उपासासिद्धस्य वा । [सांख्यसूत्र, १ । ६५]

विज्ञानभिक्षु ने कहीं कहीं तो सांख्यसूत्र में ब्रह्मा, विष्णु आदि पौराणिक त्रिमूर्त्ति का साक्षात् लाभ किया है । "अहङ्कारकर्त्रधीना कार्य्यसिद्धिः नेश्वराधीना प्रमाणाभावात्' (६ । ६४) इसी सूत्र के भाष्य में वे लिखते हैं "अनेन सूत्रेण अहङ्कारोपाधिकं ब्रह्मरुद्रयोः सृष्टिसंहारकर्त्तृत्वं श्रुतिस्मृति-सिद्धमपि प्रतिपादितम् ।" फिर "महतोऽन्यं (६ । ६६)" के भाष्य में लिखते हैं—अनेन च सूत्रेण महत्तत्त्वोपाधिकं विष्णोः पालकत्वमुपपादितम् । इसी लिए उनके मत में प्रवचन सूत्र में ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र के उपदेश भरे हुए हैं । किन्तु विज्ञानभिक्षु के भाष्यालोक से बिना आलोकित हुए इन सूत्रों में हम त्रिमूर्त्ति के दर्शन कर सकते वा नहीं इस विषय में बहुत कुछ सन्देह है ।

होती। * क्योंकि सांख्यदर्शन के मत में २५ तरह के तत्त्वों का (जिनमें ईश्वर नहीं है) उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त कर लेने से जीव दुःखों से अत्यन्त निवृत्त होकर कैवल्य लाभ कर सकता है। सांख्य का बताया मुक्ति-पथ यही है। कहने की ज़रूरत नहीं कि गीता का बताया हुआ पथ इससे बिलकुल अलग है। ईश्वर को लक्ष्य करके उसी के भाव से भावित होकर उस पथ पर पर्य्यटन करना होता है।

सांख्य के मत में प्रकृति पुरुष विश्व के चरम द्वैत (ultimate duality) हैं। प्रकृति जड़ है, वह जगत् की मूल विहीन मूल है,† और पुरुष जड़ के विपरीत चेतन है। प्रकृति और पुरुष के महाद्वैत में ही सांख्यशास्त्र समाप्त हो गया है। इन दोनों का समन्वय (synthesis) करके जिस चरम एकत्व पर उपनीत हुआ जा सकता है सांख्यशास्त्र में उसका आभास तक भी नहीं। किन्तु गीता उस एकत्व का साफ़ साफ़ उपदेश देती है। गीता के मत में सांख्य में कहे प्रकृति और पुरुष ईश्वर के सिर्फ़ दो विभाव (aspect) हैं।

---

* इस विषय में मैक्समूलर इस तरह लिखते हैं—

There is a place in his system for any number of subordinate Devas, but there is none for God, whether as the creator or as the ruler of all things. There is no direct denial of such a being, no outspoken atheism in that sense, but there is simply no place left for Him in the system of the world, as elaborated by the old Philosopher.—*Indian Philosophy, Atheism of Kapila*—*page* 397.

† मूले मूलाभावात् अमूलं मूलम्। सांख्यसूत्र, १। ६७।

अमूल मूल = Rootless root.

समानप्रकृतेर्द्वयोः—१। ६१ सूत्र।

गीता कहती है कि भगवत् की दो तरह की प्रकृति है—एक अपरा दूसरी परा। अपरा प्रकृति = सांख्योक्त प्रधान; परा प्रकृति = सांख्योक्त पुरुष। ये गीता के मत में कोई चरम तत्त्व नहीं है ये तो सिर्फ़ भगवत् का विलासमात्र है।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनोबुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मेऽपराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥
एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥
मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥
गीता, ७। ४—७।

भगवान् कहते हैं 'मेरी दो प्रकृति हैं अपरा और परा। अपरा प्रकृति क्षिति, अप, तेज, मरुत्, व्योम, मन, बुद्धि, अहङ्कार इन आठ विभागों में विभक्त है, और परा प्रकृति—जीव भूता है। जिसके द्वारा यह जगत् चल रहा है जगत् में जो भी कुछ पदार्थ हैं वे सब इन्हीं दो प्रकृतियों से उत्पन्न हैं। सब जगत् की मुझसे उत्पत्ति है और मुझी से निवृत्ति है। मैं ही चरम तत्त्व हूँ। मुझसे परे और कुछ नहीं है। जिस तरह सूत्र में मणियाँ गुथी रहती हैं उसी तरह मुझमें यह विश्व गुथ रहा है।'

अर्थात् गीता के मत में भगवान् ही चरम तत्त्व हैं; प्रकृति पुरुष नहीं है—वे स्वतंत्र नहीं—ईश्वर परतंत्र हैं।* जड़वर्ग

* अथवा ईश्वरपरतंत्रयोः क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्जगत् कारणत्वं न तु सांख्यानामिव स्वतंत्रयोः—गीता पर शाङ्करभाष्य।

का उपादान उसकी अपरा प्रकृति है और जीवरूपी पुरुष उसकी परा प्रकृति है। आधुनिक सांख्यवादी पुरुष के अर्थ में केवल चित् (monad) को समझते हैं। गीता जिसको परा प्रकृति वा क्षेत्रज्ञ कहती है, जो जगत् को धारण किये हुए है—जीव (monad) उसका भग्नांश मात्र है। ईश्वर क्षेत्रज्ञ के रूप में चराचर समस्त विश्व में अनुस्यूत हो रहे हैं।†

जीव और जड़ उसके विभाव मात्र हैं। दूसरी जगह गीता ने इन्हीं परा और अपरा प्रकृति को क्षर और अक्षर पुरुष का नाम दिया है। क्षर पुरुष = प्रधान, अक्षर पुरुष = क्षेत्रज्ञ।† और ईश्वर को क्षर से अतीत और अक्षर से भी उत्तम परमात्मा पुरुषोत्तम बताया है।

* हर्बर्ट स्पेन्सर ने विश्वव्यापी power का जैसा परिचय दिया है उसको देख कर मन में होता है कि मानो उनको गीता में वर्णित परा प्रकृति का कुछ पता लग गया हो।

The Power which manifests itself in Consciousness is but a differently conditioned form of the power which manifests itself beyond consciousness. --H. Spenser's *Ecclesiastical Institutions*, page 838.

The power which manifests throughout the universe distinguished as material is the same power which in ourselves wells up under the form of conciousness.—*Ibid*, page 839.

† क्षरं जडवर्गं अतिक्रान्तोऽहं नित्यमुक्तत्वात्। अक्षराच्चेतनवर्गादप्युत्तमश्च नियन्तृत्वात्। १९ और १८ श्लोक की श्रीधर कृत टीका।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्त्यव्यय ईश्वरः ॥
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तः ॥
गीता, १५ । १६—१८

"क्षर और अक्षर दो पुरुष संसार में प्रसिद्ध हैं । उनमें समस्त भूत क्षर पुरुष हैं—और कूटस्थ अक्षर पुरुष है । इनसे भिन्न जो उत्तम पुरुष है वह परमात्मा है । वही अव्यय ईश्वर त्रैलोक्य में व्याप्त रह कर उसका धारण पोषण करता है । क्षर से परे और

'आत्मत्वेन क्षराद् अचेतनाद् विलक्षणः परमत्वेन अक्षराच्चेतनात् भोक्तु-विलक्षण इत्यर्थः' १५ । १७ श्लोक की टीका में श्रीधर । तत्र क्षरो पुरुषो नाम सर्वानि भूतानि ब्रह्मादिस्थावरान्तानि शरीराणि × × कूटस्थश्चेतनो भोक्ता । स तु अक्षरः पुरुष इत्युच्यते विवेकिभिः ।' १५ । १६ श्लोक की श्रीधर कृत टीका । किन्तु शङ्कराचार्य्य और मधुसूदन सरस्वती ने क्षर पुरुष और अक्षर पुरुष का भिन्न अर्थ किया है । उनके मत में अक्षर पुरुष = ईश्वर की माया-शक्ति और क्षर पुरुष = उसका विकार वा विवर्त्त—समस्त कार्य्य राशि । पर मधुसूदन ने उस मत का उल्लेख ज़रूर किया है । "केचित्तु क्षरशब्देन अचेतनवर्गमुक्त्वा कूटस्थोक्षर उच्यत इत्यनेन जीवमाहुः । तन्न सम्यक् ।" अर्थात्, कोई कोई क्षर शब्द से जड़ का अर्थ लेते हैं और कूटस्थ अक्षर से जीव को समझते हैं । पर यह ठीक नहीं है ।' और यह भी नोट करने योग्य बात है कि "क्षर प्रधानं अमृताक्षरं हरः" इस श्रुति का भाष्य करते हुए क्षराक्षर का अर्थ प्रधान और पुरुष किया गया है । इस लिए श्रीधर स्वामी का मत ग्रहण करने योग्य न हो यह बात नहीं ।

अक्षर से उत्तम होने के कारण वेदों में और लोक में भी वह पुरुषोत्तम कहाता है।" इसलिए गीता के मत में प्रकृति पुरुष चरम तत्त्व नहीं हैं। ईश्वर ही चरम तत्त्व है।

और शास्त्र भी इसी मत का समर्थन करते हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद् में ईश्वर को "प्रधान क्षेत्रज्ञपति" विशेषण से विशेषित किया है विष्णुपुराण में प्रह्लाद ईश्वर की स्तुति करता हुआ कहता है "यतः प्रधानपुरुषौ" जिससे प्रधान और पुरुष का आविर्भाव होता है।

स्कन्द पुराण में लिखा है कि जब ईश्वर ने सृष्टि की इच्छा की तब उनकी प्रकृति परा और अपरा रूप में बट गई।

या परापरसंभिन्ना प्रकृतिस्ते सिसृक्षया। उत्कल खण्ड, २। २६।

विष्णुपुराण के छठे अंश में पराशर कहते हैं—

एकः शुद्धः क्षरो नित्यः सर्व्वव्यापी पुरातनः।
सोऽप्यंशः सर्वभूतस्य मैत्रेय परमात्मनः॥
प्रकृतिर्या मयाख्याता व्यक्ताव्यक्तस्वरूपिणी।
पुरुषश्चाप्युभावेतौ लीयेते परमात्मनि॥ ६। ४। ३५, ३८।

"पुरुष एक है * शुद्ध है, अक्षर है, नित्य है और सर्वव्यापी है, और यह कि वह सर्वभूत-मय परमात्मा का अंश है। मैंने जिस व्यक्त और अव्यक्त स्वरूपा प्रकृति के विषय में कहा वह प्रकृति और यह पुरुष दोनों ही परमात्मा में विलीन हो जाते हैं।†

* पुरुष एक है बहु नहीं हैं, विष्णुपुराण भी इसी मत का पोषक है।

† विष्णुपुराण में एक और जगह भी लिखा है—

स एव क्षोभको ब्रह्मन् क्षोभ्यश्च पुरुषोत्तमः।
स संकोचविकाशाभ्यां प्रधानत्वेऽपि च स्थितः॥

इससे भी मालूम हुआ कि प्रकृति पुरुष चरम द्वैत नहीं हैं तो सिर्फ़ परमात्मा के विभास या प्रकार मात्र हैं।

श्रुति भी इसी उपदेश का समर्थन करती है—

क्षरं प्रधानं अमृताक्षरं हरः

क्षरात्मानौ ईशते देव एकः। श्वेताश्वतर, १। १०

क्षर प्रकृति (प्रधान) है, क्षर अमृत * है; जो अद्वितीय देव इन दोनों—क्षर और आत्मा—के प्रभु हैं वे ही ईश्वर हर हैं।

इस प्रकृति-पुरुष का परिचय नाना शास्त्रों में अनेक संज्ञाओं के द्वारा किया गया है। कहीं इनको क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ, कहीं मूल प्रकृति और प्रत्यगात्मा, कहीं अन्न और अन्नाद; कहीं स्वधा और प्रयति; कहीं रयि और प्राण और कहीं अप् और मातरिश्वा कहा गया है। पर कहीं किसी ही नाम से इनका ज़िक्र क्यों न आया हो—शास्त्र ने कहीं इन दोनों को चरम तत्त्व नहीं कहा है।

प्रजाकामो वै प्रजापतिः।

स मिथुनमुत्पादयते + + + रयिं च प्राणञ्चेति।

एतौ मे बहुधा प्रजा करिष्यत इति। प्रश्न, १। ४

'प्रजापति ने प्रजा की कामना से रयि और प्राण—ये दोनों चीज़ें—बनाईं। इन से ही हमारे लिए अनेक प्रजायें उत्पन्न हुईं।'

एतावद्वा इदं सर्वम्। अन्नं चैवान्नादश्च। सोम एवान्नं अग्निरन्नाद॥ बृहदारण्यक, १। ४। ६

---

* स ईश्वरः क्षरात्मानौ प्रधान पुरुषौ ईशते ईष्टदेव एकश्चित् सदानन्द-द्वितीयः परमात्मा। शङ्कर-भाष्य।

अन्न और अन्नाद—इन दो चीज़ों से मिल कर ही सब जगत् बना है । 'सोम—अन्न है और अग्नि—अन्नाद है ।'

तस्मिन् अपो मातरिश्वा दधाति । ईश, ४ ।

'मातरिश्वा (प्राण) ईश्वर में अप निहित करता है ।' अप् = कारणार्णव = अव्यक्त प्रकृति । मातरिश्वा = प्राण = पुरुष । प्रलय में प्रकृति और पुरुष दोनों ही भगवान् में विलीन हो जाते हैं ।

'अक्षरं तमसि लीयते, तमः परे देवे एकी भवति'—श्रुति ।

अक्षर तमस् में लीन हो जाता है और तमस् परमेश्वर में मिल कर एक हो जाता है । तमस् प्रकृति की ही एक पारिभाषिक संज्ञा है ॐ प्रलय में प्रकृति पुरुष महेश्वर में विलीन हो जाते हैं, श्रुति में यही उपदेश किया गया है। इसीलिए ईश्वर का एक नाम नारायण भी है । नारायण = नार का अयन या आश्रय । नार = अप् वा कारणार्णव (आपो नारा इति प्रोक्तः—मनु)

ऊपर लिखी शास्त्र-पर्य्यालोचना से सिद्ध हुआ कि इस विषय में गीता का मत ही सब शास्त्रों से अनुमोदित है ।

---

† आसीदिदं तमोभूतं (मनु); तम आसीत्तमसा गूढमग्रे (ऋग्वेद नासत्-सूक्त) अग्रे तम आसन् आदि वाक्यों से यह बात प्रमाणित होती है कि प्रकृति के लिए ही यहाँ तमस् आया है । तत्त्वसमास की वृत्ति में भी एक जगह तमस् प्रकृति के पर्य्याय में आया है । 'अव्यक्तं प्रधानं अक्षरं क्षेत्रं तमः प्रसूतमिति ।'

नवाँ अध्याय ।

पातञ्जल-दर्शन ।

पातञ्जल-दर्शन का संक्षिप्त विवरण ।

पातञ्जल-दर्शन के प्रणेता भगवान् पतञ्जलि हैं । पातञ्जल-दर्शन में कुल मिला कर १९५ सूत्र हैं । यह दर्शन चार पादों में विभक्त है; उनके नाम इस प्रकार हैं—समाधिपाद, साधनपाद, विभूतिपाद और कैवल्यपाद । पातञ्जल-दर्शन पर एक प्राचीन और प्रामाणिक भाष्य प्रचलित है । दार्शनिकों में वह 'व्यासभाष्य' के नाम से परिचित है । वाचस्पतिमिश्र ने "तत्त्ववैशारदी" और विज्ञानभिक्षु ने "योगवार्त्तिक" नाम की टीकायें व्यास-भाष्य पर लिखी हैं । पातञ्जलदर्शन पर भोजराज-कृत एक संक्षिप्त पर बहुत ही उपादेय वृत्ति भी है । इस विषय में विज्ञानभिक्षु का "योगसारसंग्रह" भी उल्लेख-योग्य ग्रन्थ है ।

पातञ्जल-दर्शन का दूसरा नाम सांख्य-प्रवचन भी है । इसका कारण यही है कि भगवान् पतञ्जलि ने सांख्यदर्शन के प्रवर्त्तक महर्षि कपिल के दार्शनिक सिद्धान्तों का ग्रहण और अङ्गीकार कर लिया है । सांख्योक्त २५ तत्त्व (पुरुष, प्रकृति, महत्तत्त्व, अहङ्कार, पञ्चतन्मात्र, एकादश इन्द्रियाँ और पञ्चमहाभूत) इस दर्शन में भी

माने गये हैं *। किन्तु पतञ्जलि ने इन तत्त्वों के सिवा एक और तत्त्व भी माना है। और वह ईश्वर है। ईश्वर सांख्य में कहा पुरुष नहीं है †; वह हैं पुरुषविशेष। इसी लिए निरीश्वर सांख्य से पातञ्जल-दर्शन को अलग करने के लिए इसको 'सेश्वरसांख्य' कहा जाता है।

* पातञ्जलदर्शन में सांख्यदर्शन में कही पदार्थावली मानी गई है। इनके सिवा सांख्यदर्शन के अनङ्गीकृत और प्रत्याख्यात ईश्वर भी पातञ्जलदर्शन में माने गये हैं। महामहोपाध्याय चन्द्रकान्त तर्कालङ्कार-कृत हिन्दूदर्शन, प्रथम भाग, ३२१ पृष्ठ। इस प्रसङ्ग में यह बात भी उल्लेखयोग्य प्रतीत होती है कि ब्रह्मसूत्र में सांख्य मत का निरास (खण्डन) करके सूत्रकार लिखते हैं,— अनेन योगः प्रत्युक्तः अर्थात् इसी द्वारा योगदर्शन का भी निराकरण हुआ समझिए। इसका मतलब यही है, कि जब पातञ्जलदर्शन, सांख्यदर्शन में कही हुई पदार्थावली पर ही अवलम्बित है तब साङ्ख्य के निराकृत कर देने से पातञ्जल भी निराकृत हो गया। इसी सूत्र के भाष्य में भगवान् शङ्कराचार्य्य कहते हैं, 'एतेन सांख्यस्मृतिप्रत्याख्यानेन योगस्मृतिरपि प्रत्याख्याता द्रष्टव्या इत्यति दिशति तत्रापि श्रुतिविरोधेन प्रधानं स्वतन्त्रमेव कारणं महदादीनि च कार्य्याणि अलोकवेदप्रसिद्धानि कल्पते। इसी सम्बन्ध में मैक्समूलर लिखते हैं,

The Sankhya is always pre-supposed by the Yoga and Yoga is, indeed, as the Brahmans says, Sankhya, only modified, particularly in one point, namely, in its attempt to develop and systematise an ascetic discipline by which concentration of thought could be attained and by admitting devotion of the Lord as part of that discipline.—[Indian Philosophy, p. 409 and p. 417.]

†व्यास-भाष्य में ईश्वर का प्रसङ्ग इस तरह उत्थापित हुआ है—"अथ प्रधानपुरुषव्यतिरिक्तः को ईश्वरो नाम" अर्थात् प्रकृति और पुरुष से अलग जो ईश्वर है वह क्या है ?

यदि पातञ्जल-दर्शन में से ईश्वरतत्त्व और चित्तनिरोध के उपाय निकाल दिये जायँ तब उसमें फिर कोई ऐसी बात नहीं रहती जिससे उसमें और सांख्य-दर्शन में भेद दिखाया जा सके । *

यह ईश्वरतत्त्व क्या है? पतञ्जलि ने ईश्वर का इस तरह लक्षण किया है—

क्लेशकर्म्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥—१ । २४ ।

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् । १ । २५ ।

स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् । १ । २६ ।

जो पुरुषविशेष, क्लेश, कर्म्म, विपाक और आशय के सम्पर्क से शून्य है वही ईश्वर है ।

'उसमें ज्ञान का चरम उत्कर्ष है, वह सर्वज्ञ है ।'

'वह (ब्रह्मादि) पहले आचार्य्यगणों का भी गुरु है; क्योंकि वह काल से अतीत है ।'

साधारण पुरुष क्लेश, कर्म्म-विपाक और आशय के सम्पर्क से युक्त हैं । क्लेश पांच तरह का है; अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश । अविद्या = मिथ्याज्ञान, अस्मिता = विभिन्न वस्तु में अभेद की प्रतीति, राग = अनुराग, द्वेष = विराग, अभिनिवेश = मरने का भय । कर्म्म दो प्रकार का है—सुकृत और दुष्कृत

---

† If we took away these two characteristic features of the Yoga, the wish to establish the existence of an Iswara against all comers, and to teach the means of restraining the affections and passions of the soul, as a preparation for true knowledge, such as taught by the Sankhya Philosophy, little would seem to remain that is peculiar to Patanjali.—Max Muller's *Indian Philosophy*, pp. 412-13.

(पाप और पुण्य), विपाक = कर्म्मफल। कर्म्म का फल तीन तरह का है; जन्म, आयु, और भोग। आशय = विपाक के अनुरूप संस्कार। साधारण आदमी इन सबसे किसी तरह नहीं बच सकते। मुक्त पुरुष इनसे छूट जाते हैं सही, पर मुक्ति से पहले वे इन्हीं के अधीन रहते हैं। किन्तु पुरुष-विशेष ईश्वर में किसी समय इन (क्लेशादि) का संस्पर्श नहीं था। क्योंकि वह नित्यमुक्त है। पुरुष (जीव) जिस तरह बहुत हैं पुरुष-विशेष (ईश्वर) उस तरह बहु नहीं हैं। वह एक है और अद्वितीय है। ईश्वर कालद्वारा अवच्छिन्न नहीं है। भूत, भविष्य और वर्तमान—वह इन तीनों कालों से अतीत है। कल्प—मन्वन्तर के प्रारम्भ में ब्रह्मा, मनु सप्तर्षि आदि ने जो कुछ शास्त्रादि का उपदेश प्राप्त किया था उनको वह ज्ञान कहाँ से मिला था? ईश्वर से ही, इसीलिए वह पूर्व गुरुओं का भी गुरु है।

जगत् में परिमाण का तारतम्य दिखाई देता है। छोटे तालाब से नदी का परिमाण बड़ा है और नदी से समुद्र का बड़ा है। इसी तरह ज्ञान के परिमाण का भी तारतम्य है। मूर्ख की अपेक्षा पण्डित का और पण्डित की अपेक्षा सुपण्डित का ज्ञान बड़ा होता है।

जिसमें ज्ञान की पराकाष्ठा हो गई है, जिसमें ज्ञान की मात्रा चरम सीमा पर पहुँच गई है—वही सर्वज्ञ ईश्वर है।

इसलिए पातञ्जलदर्शन के मत में तत्त्व २५ नहीं २६ हैं। पर इन सब तत्त्वों की आलोचना करना—इस दर्शन का मुख्य विषय नहीं है—वे तो केवल गौण प्रतिपाद्य विषय हैं—आनुषङ्गिक या

अवान्तर बातें हैं । उसका मुख्य प्रतिपाद्य-विषय योग ही है, इसीलिए उसका दूसरा नाम योग-दर्शन भी है । वाचस्पति मिश्र कहते हैं "न चैतानि प्रधानादिसद्भावपराणि किन्तु योगस्वरूपतत्साधनतदवान्तरफलविभूति-तत्परमफलकैवल्यव्युत्पादनपराणि ।" अर्थात्, प्रधान का प्रतिपादन करना योग-शास्त्र का मुख्य विषय नहीं है किन्तु योग का स्वरूप, उसके साधन विभूति आदि उसके गौण फल और योग का मुख्य फल कैवल्य का निरूपण करना ही योग-शास्त्र के प्रतिपाद्य विषय हैं ।

योग-शास्त्र में चार पर्व हैं, हेय, हेयहेतु, हान और हानोपाय । और दर्शनों की तरह पातञ्जल-दर्शन के मत में भी संसार दुःखमय है; अतएव हेय है । (दुःखमेव सर्वं विवेकिनः । हेयं दुःखमनागतम् । २ । १५, १६) । इस हेय संसार का निदान वा हेतु क्या है ? प्रकृति पुरुष का संयोग; (द्रग्दृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः) किन्तु प्रकृति-पुरुष के संयोग से पैदा हुए इस संसार का अत्यन्त उच्छेद सम्भव है—इसी से हेय की निवृत्ति हो सकती है—इसका नाम हान है । तदभावात् संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम् । २ । २५) । इस हान का उपाय क्या है ? प्रकृति-पुरुष का निश्चय भेदज्ञान (विवेकख्यातिः अविप्लवा हानोपायः—१ । २६)*

* यथा चिकित्साशास्त्रं चतुर्व्यूहं रोगः, रोगहेतुः, आरोग्यं, भैषज्यमिति । एवमिदमपि शास्त्रं चतुर्व्यूहमेव तद्यथा संसारः, संसारहेतुः, मोक्षः, मोक्षोपाय इति । तत्र दुःखबहुलो संसारः हेयः, प्रधानपुरुषयोः संयोगो हेयहेतुः, संयोगस्यात्यन्तिकी निवृत्तिर्हानं, हानोपायः सम्यग् दर्शनम् ।—२ । १५ सूत्र पर व्यासभाष्य ।

प्रकृति-पुरुष का निश्चल भेदज्ञान जो पातञ्जलमत में मोक्ष-प्राप्ति का अद्वितीय मार्ग है उसकी प्राप्ति का उपाय क्या है ? सांख्यवादी कहते हैं कि २५ तत्त्वों का ज्ञान होते ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है पर पातञ्जल के मत में यह बात ठीक नहीं है । इसीलिए योग-शास्त्र की अवतारणा हुई है । क्योंकि पतञ्जलि के मत में प्रकृति-पुरुष के निश्चल भेदज्ञान का एक मात्र उपाय है योग * । यह योग क्या है ?

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः । १२

अर्थात् जिस तरह चिकित्सा-शास्त्र, रोग, निदान, आरोग्य और औषध इन चार अध्यायों में विभक्त है, उसी तरह योग-शास्त्र भी चार अध्यायों में विभक्त है; यथा, "संसार, संसार का हेतु, मुक्ति और मुक्ति का उपाय । दुःख-पूर्ण संसार—हेय, प्रकृति-पुरुष का संयोग-संसार का हेतु, संयोग की निवृत्ति-हान, हान का उपाय सम्यग् दर्शन ।" भगवान् बुद्धदेव ने जिस आर्य्यसत्यचतुष्टय का प्रचार किया है वह बौद्धधर्म्म की मूल भित्ति है पर है वह इसी मत की प्रतिध्वनि ।

* Granted that this discrimination, this subduing and drawing away of the Self from all that is not-Self is the highest object of Philosophy. How it is to be reached? And even when reached, how is it to be maintained? By knowledge chiefly, would be answer of Kapila By ascetic exercises delivering the Self from the fetters of the body and the bodily senses, adds Patanjali.—Max Müller's Indian Philosophy, p. 407.

"The chief object it (Yoga) had in view was to realize the distinction between the experiencer and the experienced, or, as we should call it, between the subject and the object.—Max Müller's Indian Philosophy, pp. 465-66."

'चित्त की वृत्तियों के निरोध का नाम योग है'। चित्त की ५ तरह की अवस्थायें लक्षित होती हैं (१) क्षिप्त (जब कि रजोगुण के आधिक्य से चित्त विशेष चंचल रहता है), (२) मूढ (जब कि तमोगुण के आधिक्य से चित्त मोहाच्छन्न रहता है), (३) विक्षिप्त (जब कि सत्वगुण के उद्रेक से चित्त कभी स्थिर और कभी अस्थिर रहता है), (४) एकाग्र (जब ध्येय वस्तु में चित्त लग जाता है), और (५) निरुद्ध (जब कि वृत्ति का निरोध होकर केवल वृत्ति का संस्कार अवशिष्ट रह जाता है)। क्षिप्त और मूढ़ चित्त के लिए योग असम्भव है। विक्षिप्त चित्त में योग आरम्भ होता है। विक्षिप्त चित्त को "क्रियायोग"* द्वारा एकाग्र बनाना होता है। एकाग्र चित्त होने पर साधक फिर योग का अधिकारी बन जाता है। क्योंकि एकाग्र और निरुद्ध-चित्त ही योग के अधिकारी हैं।

चित्त की वृत्ति ५ प्रकार की है,—प्रमाण, विपर्य्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। (१। ६। सूत्र)। प्रमाण ३ प्रकार का है—प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम। विपर्य्यय = मिथ्याज्ञान। विषय के न

---

*तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः।—साधनपाद १।

तपस्या, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान को क्रियायोग कहते हैं। स्वाध्याय = ओङ्कारादि-मंत्र-जप वा मोक्षशास्त्र का अध्ययन। ईश्वरप्रणिधान = ईश्वर में समस्त कर्मों का अर्पण (फलसंन्यास)। साधक, क्रियायोग को किस तरह करता है ? समाधिभावनार्थः क्लेशतनुकरणार्थश्च (२। २। सूत्र) स हि आसेव्यमानः समाधिं भावयति क्लेशांश्च प्रतनुकरोति (व्यासभाष्य)।

भली प्रकार इस क्रियायोग के अनुष्ठान से समाधि की प्राप्ति होती है और अविद्यादि पाँच क्लेश हीनबल हो जाते हैं।

होने पर शब्दज्ञान के प्रभाव से जो वृत्ति उत्पन्न होती है उसका नाम विकल्प है, जिस तरह आकाशकुसुम और नर-शृङ्ग । निद्रा = सुषुप्ति । स्मृति = अनुभूत विषयों का स्मरण । इन पाँच तरह की वृत्तियों को छोड़ कर और किसी तरह की वृत्ति नहीं है । चित्त के साथ पुरुष का संयोग होने से चित्त में वृत्तियों का उदय होता है । पुरुष स्वच्छ है, केवल है, निर्गुण है । जिस तरह स्वच्छ स्फटिक के पास लाल चीज़ लाने से स्फटिक लाल हो जाता है, इसी तरह नीली चीज़ आने से स्फटिक नीला हो जाता है, वास्तव में स्फटिक का कोई वर्ण नहीं, उपाधि का वर्ण सिर्फ़ उसमें लक्षित हो जाता है ।

इसी तरह केवल निर्म्मल पुरुष में जब सुख दुःख मोह आदि चित्तवृत्तियाँ प्रतिविम्बित होती हैं तब पुरुष उनके साथ सारूप्य लाभ करके अपने को सुखी दुःखी मान लेता है । वास्तव में, पुरुष में सुख-दुःख कुछ नहीं है । यह सब कुछ वृत्ति का उपराग मात्र है । योग द्वारा चित्त की वृत्तियाँ निरुद्ध होने पर फिर उनकी छाया पुरुष में नहीं पड़ती । उस समय पुरुष अपने स्वरूप में अवस्थान करता है ।

"तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् । वृत्ति सारूप्यम् इतरत्र ।" १४

१ । ३ । ४ सूत्र ।

चित्तवृत्ति के निरोध का उपाय क्या है ? पतञ्जलि ने इसके लिए कई उपाय बताये हैं । समाधिपाद में इस विषय का विस्तृत विवरण है ।

अथ आसां निरोधे क उपाय इति ।

'चित्त की वृत्तियों के निरोध का उपाय क्या है ? इस प्रसङ्ग में पतञ्जलि प्रथम उपदेश देते हैं—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ।—१ । १२ । सूत्र ।

'अभ्यास और वैराग्य के द्वारा चित्तवृत्ति का निरोध हो सकता है ।'*

अभ्यास और वैराग्य के द्वारा योगी को पहले पहल श्रद्धा, उत्साह, स्मृति, एकाग्रता और विवेक की सहायता से "सम्प्रज्ञात" समाधि मिलती है और बाद को जब कि अभ्यास की दृढ़ता और वैराग्य की पराकाष्ठा हो जाती है तब उसको 'असम्प्रज्ञात' समाधि की प्राप्ति होती है । यही योग का चरम फल है ।

श्रद्धावीर्य्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्व्वकइतरेष्यम् । १ । २० सूत्र ।
त एते सम्प्रज्ञातसमाधे उपायाः ।
तस्याभ्यासात् पराञ्च वैराग्यात् भवत्यासंप्रज्ञातः ॥ भोजवृत्तिः ॥
तदभ्यासात्तत्द्विषयाच्च वैराग्यात्
असंप्रज्ञातः समाधिर्भवति । व्यासभाष्य ।

जो योगी 'तीव्रसंग' है अर्थात् जिनका योग में अत्यन्त उत्साह है उनको ही समाधि की प्राप्ति शीघ्र होती है ।

तीव्रसंवेगानामासन्नः ।—१ । २१ सूत्र ।

तस्मादधिमात्रतीव्रसंवेगस्याधिमात्रोपायस्याप्यासन्नतमः समाधिलाभः समाधिफलं चेति । व्यासभाष्य ।

---

* भगवान् ने गीता में भी अभ्यास और वैराग्य को मन की चञ्चलता दूर करने के उपाय बताये हैं—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ गीता, ६ । ३५

क्या समाधिसिद्धि का एकमात्र उपाय यही है, या कोई और उपाय भी है ? इसके उत्तर में पतञ्जलि कहते हैं—

१८ ईश्वरप्रणिधानाद्वा ।*—१ । २३ सूत्र ।

ईश्वरप्रणिधान द्वारा भी समाधि की प्राप्ति होती है ।

इस सूत्र पर व्यास का भाष्य इस तरह है—

किमेतस्मादेवासन्नतमः समाधिर्भवति, अथास्य लाभे भवति अन्योऽपि कश्चिदुपायो न वेति । ईश्वरप्रणिधानाद् वा । प्रणिधानाद् भक्तिविशेषाद् आवर्जित ईश्वरस्तमनुगृह्णाति; अभिध्यानमात्रेण, तदभिध्यानादपि योगिन आसन्नतमः समाधिलाभः फलञ्च भवतीति"—१ । २३ सूत्र पर व्यासभाष्य ।

अर्थात्, 'पूर्वोक्त उपायों द्वारा ही अचिर समाधि की प्राप्ति होती है या इसके लिए किसी अन्य उपाय के अवलम्ब करने की भी आवश्यकता है ?' इसके उत्तर में कहा जाता है कि ईश्वर को यदि विशेष भक्ति के साथ प्रसन्न किया जाय तब ईश्वर "इसकी अभीष्ट सिद्धि हो" ऐसे सङ्कल्प के द्वारा योगी के प्रति अनुग्रह प्रकाश करता है । ईश्वर की ऐसी इच्छा होते ही योगी को समाधि-लाभ हो जाता है ।

इससे मालूम हुआ, कि पतञ्जलि के मत में अभ्यास और वैराग्य द्वारा पहले तो चित्त-वृत्ति का निरोध करना पड़ता है बाद को जब अभ्यास की दृढ़ता और वैराग्य की पराकाष्ठा प्राप्त हो

---

* इस सूत्र की भोज वृत्ति इस तरह है—

'इदानीं तदुपाय विलक्षणं सुगममुपायान्तरमाह' । पर मूल में 'सुगम' शब्द नहीं है ।

जाती है तब योगी समाधि को प्राप्त कर लेता है। ईश्वरप्रणिधान भी आसन्नतम समाधि-लाभ का अन्यतम उपाय है।

ईश्वरप्रणिधान करने से योगी को किस फल की प्राप्ति होती है?

ततः प्रत्यक् चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥ १। २९ सूत्र।

ये तावदान्तराया व्याधिप्रभृतयस्ते तावत् ईश्वरप्रणिधानात् न भवन्ति। स्वरूपदर्शनमपि अस्य भवति। इसी सूत्र पर व्यासभाष्य।

पतञ्जलि ने चित्त-विक्षेप को दूर करने के लिए ईश्वरप्रणिधान के सिवा और भी कई उपाय बताये हैं। यथा

१। तत्प्रतिषेधार्थं एकतत्त्वाभ्यासः। १। ३२ सूत्र।

'चित्त-विक्षेप को दूर करने के लिए एक तत्त्व का अभ्यास करना चाहिए।"

२। मैत्री करुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्।—१। ३३, सूत्र।

सुखी दुखी, पुण्यात्मा और पापी के विषय में, क्रमपूर्वक मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा—की भावना से चित्त को शान्ति होती है। उसके फल से भी चित्त में एकाग्रता होकर स्थैर्य्य की प्राप्ति होती है।

३। प्रच्छर्दन विधारणाभ्यां वा प्राणस्य।—१। ३४, सूत्र।

ताभ्यां वा मनसः स्थितिं सम्पादयेत्। व्यासभाष्य।

'अथवा प्राण के रोकने और छोड़ने से चित्त स्थिर हो सकता है।'

४। विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी—

१। ३५ सूत्र।

अथवा 'इन्द्रिय विशेष में धारणा करने से गन्धादि विषय का साक्षात्कार होते हुए भी चित्त स्थिर हो जाता है ।' अर्थात्, नासाग्र या जिह्वा मूल में धारणा करने से योगी अलौकिक गन्ध, रूप, रस, स्पर्श और शब्द आदि का अनुभव करते हैं। ऐसा करने से उनका चित्त स्थिर हो जाता है। इस लिए चित्त के स्थैर्य्य का यह भी एक उपाय है।

५ । विशोका वा ज्योतिष्मती ।—१ । ३६, सूत्र ।

'(हृत्पद्म में धारणा करने से) जिस शोकरहित ज्योति का प्रकाश होता है, उसके द्वारा भी चित्त की स्थिरता हो जाती है ।' अर्थात् ज्योति का साक्षात्कार भी चित्त स्थैर्य्य का अन्यतम उपाय है।

६ । वीतरागविषयं वा चित्तम् ।—१ । ३७ सूत्र ।

अथवा, 'वीतराग पुरुषों का ध्यान करने से भी चित्त स्थिर हो जाता है ।' अर्थात् निष्काम महात्माओं का ध्यान भी चित्त-स्थैर्य्य का अन्यतम उपाय है।

७ । स्वप्ननिद्राज्ञानावलम्बनं वा । १ । ३८ सूत्र ।

अथवा, 'स्वप्नज्ञान या निद्राज्ञान का अवलम्ब करने से भी चित्त स्थिर हो जाता है ।' अर्थात् स्वप्न में मूर्त्ति-विशेष या सात्विक-वृत्ति का आश्रय करके भी चित्त-स्थैर्य्य लाभ किया जा सकता है।

८ । यथाभिमतध्यानाद्वा । १ । ३९ सूत्र ।

'अभिमत विषय का ध्यान करने से भी चित्त स्थिर हो जाता है ।' अर्थात्, अभिमत ध्यान भी चित्त-स्थैर्य्य का एक उपाय है।

इस तरह चित्त की स्थिति को प्राप्त करके योगी फिर उस

(चित्त) को स्थूल, सूक्ष्म, सुसूक्ष्म आदि जिस जिस आलम्बन में प्रतिष्ठित करता है उसी के अनुसार उसका चित्त आकार धारण करता है। इस अवस्था का नाम 'समापत्ति' है। यह चार प्रकार की है। सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार और निर्विचार। ये, सबीज या सम्प्रज्ञात समाधि के नामान्तर हैं।

ता एव सबीजः समाधिः १। ४६ सूत्र।

इसके द्वारा योगी को (ऋतम्भरा) प्रज्ञा की प्राप्ति होती है। इस प्रज्ञा से पैदा हुए संस्कार द्वारा और संस्कारों की हानि हो जाती है।

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी।—१। ५० सूत्र।

योगी जब इस संस्कार का भी निरोध कर लेता है तब उसको निर्बीज वा असम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति होती है। यही योग की चरम अवस्था है।

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधात् निर्बीजः समाधिः।—१। ५१ सूत्र।

इससे सिद्ध हुआ कि पतञ्जलि के मत में, अभ्यास वैराग्य की पराकाष्ठा या ईश्वरप्रणिधान को छोड़ कर अन्य उपायों के द्वारा भी योगी को निर्बीज समाधि की प्राप्ति हो सकती है।

साधनावस्था में, योगाभ्यास के फल से योगी में कुछ अलौकिक शक्तियों का सञ्चार होता है। इन्हीं को विभूति वा सिद्धि कहते हैं। पातञ्जलदर्शन के तीसरे पाद में इन सिद्धियों का सविस्तर वर्णन मिलता है। पर वास्तव में योग की साधना में ये सहायक नहीं बल्कि बाधक हैं।

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः। ३। ३२ सूत्र।

अर्थात्, जिनको समाधि नहीं हुई है उनको तो ये सिद्धियाँ विभूति मालूम होती हैं पर जिनको समाधि प्राप्त हो गई है उनके लिए ये उपद्रव से बढ़ कर और कुछ नहीं हैं।

यह योग आठ तरह का है।

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ।

२ । २९ सूत्र ।

"यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि योग के ये आठ अङ्ग हैं।" इनमें यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार ये पाँच बहिरङ्ग हैं और धारणा, ध्यान और समाधि ये तीन अन्तरङ्ग हैं।"

अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य्य और अपरिग्रह (विषय का ग्रहण न करना) ये यम हैं। शौच (भीतरी और बाहरी शुद्धि), सन्तोष, तपस्या, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान ये नियम हैं। पद्मासन और वीरासन आदि आसन हैं [स्थिर सुखमासनम् २ । ४६ सूत्र]। प्राणवायु के संयम को प्राणायाम कहते हैं (श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः—२ । ४९ सूत्र)। इन्द्रियों के निरोध का नाम प्रत्याहार है। एक जगह चित्त के धारण करने को धारणा कहते हैं [देशबद्धः चित्तस्य धारणा—३ । १ सूत्र]। चित्तवृत्ति के एक से प्रवाह का नाम ध्यान है।

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् । ३ । २ सूत्र ।

ध्यान परिपक्व होकर जब ध्येयाकार में परिणत हो जाता है, चित्तवृत्ति होते हुए भी न होती हुई सी दिखाई देती है उसी अवस्था का नाम समाधि है।

तदेवार्थमात्र निर्भास स्वरूपशून्यमिव समाधिः।—३।३ सूत्र।

यह समाधि जैसा कि ऊपर कह चुके हैं, दो प्रकार की है। सबीज और निर्बीज। सबीज समाधि में चित्त का सहारा रहता है। उस अवस्था में चित्त की सूक्ष्म सात्त्विक वृत्ति तिरोहित नहीं होती। इसी लिए सबीज समाधि का दूसरा नाम सम्प्रज्ञात समाधि भी है। निर्बीज समाधि में चित्त की समस्त वृत्तियाँ तिरोहित हो जाती हैं, अवशिष्ट रह जाता है सिर्फ़ संस्कार, इसी लिए इस समाधि को असम्प्रज्ञात समाधि भी कहते हैं।

वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् सम्प्रज्ञातः। सूत्र, १।१७।

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः। सूत्र, १।१८।

व्यासभाष्य में समाधि का लक्षण इस तरह किया है—

ध्यानमेव ध्येयाकारनिर्भासं प्रत्ययात्मकेन स्वरूपेण शून्यमिव यदा भवति ध्येयस्वभावावेशात् तदा समाधिरित्युच्यते।

महामहोपाध्याय पण्डित चन्द्रकान्त तर्कालङ्कार लिखते हैं,—"योग दो प्रकार का है; सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात। एकाग्र चित्त का योग सम्प्रज्ञात कहाता है। क्योंकि उस समय ध्येय वस्तु सम्यक् रूप में प्रज्ञात होती है। निरुद्धचित्त के योग को असम्प्रज्ञात कहते हैं। क्योंकि उस समय ध्येयविषयक वृत्ति का भी निरोध हो जाता है और इसी लिए कुछ प्रज्ञात नहीं होता है। इन दोनों योगों का साधारण नाम समाधियोग है।"

(हिन्दूदर्शन, ३०, ३१ पृष्ठ)

सम्प्रज्ञात समाधि चार तरह की है, सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार और निर्विचार। इसी को सबीज कहते हैं।

"ता एव सबीजः समाधिः",—१ । ४६ सूत्र

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधात् निर्बीजः समाधिः ।—१ । ५१ सूत्र ।

"उसके निरोध करने से सब कुछ निरुद्ध हो जाता है और यही निर्बीज समाधि है ।" निर्बीज समाधि ही पतञ्जलि का अनुमोदित योग है । इस समाधि को सिद्ध कराने के लिए ही पातञ्जलदर्शन की अवतारणा की गई है ।

इस निर्बीज समाधि या योग के प्राप्त होने पर पुरुष का स्वरूप में अवस्थान होता है । तब पुरुष को शुद्ध मुक्त कहा जाता है ।* इसी का नाम कैवल्य सिद्धि है । पातञ्जलदर्शन का यही चरम लक्ष्य है ।

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति । † ३ । ५५ सूत्र ।

---

* तस्मिन्निवृत्तेः पुरुषः स्वरूपप्रतिष्ठः, अतः शुद्धो मुक्त इत्युच्यते । १ । ५ सूत्र पर व्यास का भाष्य ।

† इस सूत्र के व्यासभाष्य में इस तरह लिखा हुआ है—

"ज्ञानाददर्शनं निवर्त्तते, तस्मिन्निवृत्ते न सन्तीतरे क्लेशाः क्लेशाभावात् कर्म्मविपाकाभावः, चरिताधिकाराश्चैतस्यामवस्थायां गुणा न पुरुषस्य पुनर्दृश्यत्वेनोपतिष्ठन्ते, तत्पुरुषस्य कैवल्यम्, तदा पुरुषः स्वरूपमात्रज्योतिरमलः केवली भवति । ३ । ५५ सूत्र पर व्यासभाष्य ।

अर्थात् ज्ञान उत्पन्न होने पर अदर्शन (अविद्या) की निवृत्ति हो जाती है, अविद्या की निवृत्ति के साथ साथ पाँच तरह के क्लेशों की भी निवृत्ति हो जाती है । क्लेशों के निवृत्त हो जाने से कर्म्मों का परिपाक नहीं होता और इसी लिए वे (कर्म्म) (किसी तरह के) फल उत्पन्न नहीं कर सकते । इस अवस्था में पहुँचने पर, प्रयोजन सिद्ध हो जाने पर, प्रकृति फिर पुरुष को दिखाई नहीं पड़ती । पुरुष उस समय केवल (स्वतंत्र) हो जाता है और निर्म्मल ज्योतिः स्वरूप में अवस्थान करता है ।

कैवल्यसिद्धि होने से क्या लाभ है ?

तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम्। ४। ३१ सूत्र।

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति। ४। ३४ सूत्र।

अर्थात्, उस समाधियोग की अवस्था में, चित्तसत्त्व, अविद्यादि समस्त क्लेश और कर्म्मरूप आवरणों से दूर हो जाने के कारण, उसका सर्वत्र प्रसार हो जाता है। तब उसकी ज्योति सब कहीं फैल जाती है, उस समय कोई विषय योगी से छिपा नहीं रहता। जिसमें ऐसा तत्त्वज्ञान उत्पन्न हो गया है उसके लिए प्रकृति फिर परिणत होकर भोग वा अपवर्ग पैदा नहीं कर सकती। यही कैवल्य है। यही पातञ्जल-दर्शनोक्त मुक्ति है। इसी अवस्था में, चितिशक्ति (पुरुष) का स्वरूप में अधिष्ठान होता है।*

यहाँ तक पातञ्जल-दर्शन का संक्षिप्त विवरण दिया गया है। दूसरे अध्याय में इस दर्शन के साथ गीता का सम्बन्ध दिखाया जायगा।

---

* Kaivalya, from Kevala, alone, means the isolation of the Soul from the universe and its return to itself, and not any other being, whether Ishvara, Brahma, or any one else.

Max Müller's Indian Philosophy, p. 438.

दसवाँ अध्याय ।

पातञ्जलदर्शन ।

पातञ्जलदर्शन और गीता !

पातञ्जल दर्शन ने जिस योग-प्रणाली का उपदेश किया है, उसके सम्बन्ध में गीता का मत क्या है ? गीता ने योग-प्रणाली का अनुमोदन किया है । यहां तक कि योगी को तपस्वो, ज्ञानी और कर्मी से भी बढ़ कर बताया है—

तपस्विभ्योधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोधिकः ।
कर्म्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद् योगी भवार्जुन ॥ गीता, ६ । ४६ ।

तपस्वी, ज्ञानी और कर्म्मी से भी योगी श्रेष्ठ है । इस लिए हे अर्जुन ! तुम भी योगी बनो ।

गीता के छठे अध्याय में ध्यान-योग का सविस्तर वर्णन है । उसकी आलोचना करने से मालूम होता है कि भगवान् ने पातञ्जल-प्रदर्शित अष्टाङ्ग-योग का साधारणतः अनुमोदन किया है ।

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ।
शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥
समंकायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥

गीता, ६ । १०—१४ ।

संकल्पप्रभवान् कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥
शनैः शनैरुपरमेद् बुद्धया धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥
यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥

गीता ६ । २४—२६ ।

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥

गीता, ५ । २७—२८ ।

'योगी को एकान्त में बैठ कर मन और देह दोनों को भली भाँति वश कर, सब वासनाओं को दूर कर, समस्त प्रपञ्च का त्याग कर, मन को शान्त रखना चाहिए ।'

'योगी को निर्म्मल स्थान में आसन लगाना चाहिए, आसन अधिक ऊँचा और नीचा न होना चाहिए; उस पर कुश और उस पर वस्त्र बिछा कर बैठना चाहिए, चित्त और इन्द्रियों

की क्रियाओं को रोक कर, मन को एकाग्र कर अन्तःकरण की शुद्धि के लिए योग करना चाहिए।'

'शरीर, मस्तक और गर्दन यथा-स्थान रख कर, निश्चल होकर, इधर उधर न देखते हुए, शान्त-चित्त हो अपनी नाक के अग्रभाग पर भली भाँति दृष्टि लगा कर, अन्तःकरण को शान्त रख कर, भय का त्याग कर, ब्रह्मचर्य्य धारण कर, मन को अपने अधीन कर, चित्त को भगवान् में लगा कर और उनको ही सर्वस्व समझ कर योग साधन करना चाहिए।'

'सङ्कल्प से उत्पन्न होने वाली समस्त कामनाओं का त्याग कर, इधर उधर भटकने वाली इन्द्रियों को मन के अधीन कर, धैर्य्य द्वारा बुद्धि को अपने अधीन कर, धीरे धीरे विषयों से दूर हटना चाहिए, मन को भली भाँति आत्मा में स्थिर करना चाहिए और किसी भी बात की चिन्ता न करते हुए शान्त हो जाना चाहिए।'

'चंचल और अस्थिर मन जिधर जिधर जाय, उधर उधर से उसे खींच कर आत्मा के वश करना चाहिए।'

'बाहरी बातों से अलग होकर दोनों भौंहों के बीच में दृष्टि लगाकर, प्राण वायु और अपान वायु को एक सा बना कर जो मनुष्य मन इन्द्रियाँ और बुद्धि को अपने अधीन कर लेता है; इच्छा, भय और क्रोध को जिसने दूर कर दिया है, जिसे मोक्ष ही एक मात्र उपार्जन करने योग्य पदार्थ मालूम होता है, वह सर्वदा मुक्त ही है।'

उल्लिखित श्लोकों में गीता ने संक्षेप में अष्टाङ्ग योग का उप-

देश किया है । 'योगी को निर्मल स्थान में आसन लगाना चाहिए ।' यह आसन के विषय में उपदेश हुआ । 'नाक के भीतर प्राण और अपान को एक सा करे'—यह प्राणायाम का उपदेश हुआ । 'बाह्य विषयों से सम्बन्ध छोड़ दे ।' यह प्रत्याहार की बात हुई । इन्द्रिय का वशीकरण, चंचल मन का संयम, आशा का परित्याग, इत्यादि नियम के उपदेश हैं । नासिकाग्र में दृष्टि लगाना, मन को आत्मा में संस्थापन करना इत्यादि धारणा के उपदेश हैं । "भगवान् में चित्त स्थापन, मन की एकाग्रता-साधन" इत्यादि ध्यान के उपदेश हैं । "सब चिन्ताओं को छोड़ कर आत्मा में मन लगाओ" इत्यादि समाधि के उपदेश हैं ।

हमने देखा कि पतञ्जलि के मत में योग की चरम अवस्था में पुरुष का स्वरूप में अधिष्ठान होता है । पतञ्जलि कहते हैं कि पुरुष चित्स्वरूप है, (द्रष्टा दृशि मात्रः) उनके मत में वह आनन्द-घन नहीं है, अतएव पातञ्जलोक्त मुक्ति—सुख-दुःख से अतीत कैवल्य अवस्था है । इससे दुःखों की निवृत्ति तो ज़रूर हो जाती है किन्तु सुखों की प्राप्ति नहीं होती । गीता, योग का चरम दूसरी तरह कहती है ।

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥
तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगी निर्विण्णचेतसा ॥

गीता, १६ । २१—२३ ।

'जिस अवस्था में वह सुख प्राप्त होता है कि जिसकी कोई सीमा ही नहीं है, जो केवल बुद्धि से जाना जाता है, पर इन्द्रियों से नहीं जाना जा सकता और जिस दशा में मनुष्य आत्म-स्वरूप से विचलित नहीं होता, जो दशा दुःख से इतनी दूर है कि मनुष्य को उससे मिलने पर उससे बढ़ कर और कोई लाभ ही नहीं मालूम होता, और जिस दशा में रहते मनुष्य को विचलित करना बड़े से बड़े दुःख के लिए भी असम्भव हो जाता है उस अवस्था को योग कहते हैं। आलस्यहीन होकर और मन का दृढ़ निश्चय करके योग का अभ्यास करना चाहिए।' अतएव गीता के मत में योग अवस्था में निरतिशय सुख लाभ होता है। योग सिद्ध होने पर यही सुख और घनीभूत हो जाता है और फिर यही सुख ब्रह्मानन्द में परिणत हो जाता है।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥
युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥

गीता, ६ । २७—२८ ।

'प्रशान्तचित्त, रजोविहीन, निष्पाप, ब्रह्म-प्राप्त योगी उत्तम सुख अनुभव करता है।'

'निष्पाप योगी इस प्रकार नियत आत्मा को योग-युक्त करके अनायास ब्रह्म-संस्पर्श रूप अत्यन्त सुख को प्राप्त करता है।'

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षय्यमश्नुते ॥

गीता, ५ । २१ ।

बाहरी पदार्थों में चित्त को अनासक्त रख कर, जो भीतरी सुख का अनुभव करता है वह ब्रह्म में अन्तःकरण को मिला कर अक्षय सुख लाभ करता है ।'

जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है पतञ्जलि के मत में जीव और ईश्वर भिन्न हैं। योग की जो चरम अवस्था निर्बीज समाधि है उसमें सिर्फ़ आत्मा का साक्षात्कार होता है, ईश्वर की प्राप्ति नहीं होती। गीता के मत में किन्तु योग के द्वारा भगवान् का साथ या साक्षात्कार लाभ होता है ।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥

गीता ६ । १५ ।

'इस प्रकार चित्त का निरोध कर जो सब समय मन को अपने अधीन रखता है वह मुझ में मिल कर अन्त में परम निर्वाण पाता है ।'

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्व्वत्र समदर्शनः ॥ गीता, ६ । २ ।

'जिसका मन योग में स्थिर हो गया है, उसकी दृष्टि सर्वत्र समान रहती है और वह अपने को सब भूतों में तथा सब भूतों को अपने में देखता है ।' सर्वभूतस्थित आत्मा जिसको योगावस्था में प्राप्त योगी देखता है वह परमात्मा से भिन्न और कौन हो सकता है ?

हमने देखा कि पातञ्जल-प्रदर्शित योग का अर्थ संयोग नहीं है वरन् वियोग वा उद्योग है। भोजवृत्ति में लिखा है,—

पुंप्रकृत्योर्वियोगोऽपि योग इत्युदितो यथा।

अर्थात्, प्रकृति पुरुष का जो वियोग या विवेक ज्ञान है, पातञ्जल शास्त्र उसी को योग कहता है। स्वर्गीय राजेन्द्रलाल मित्र इसी प्रसंग की आलोचना करते हुए लिखते हैं 'पतञ्जलि के मत में योग शब्द का अर्थ ईश्वर के साथ संयोग का नहीं है, किन्तु उससे चित्त-वृत्ति के निरोध का उद्योग या साधारण व्यापार ही समझा जाता है।*

पुराणादि शास्त्रों में किन्तु योग शब्द का अर्थ संयोग ही किया गया है। याज्ञवल्क्य कहते हैं,—

संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः।

'जीवात्मा और परमात्मा के संयोग को ही योग कहते हैं।' यह कहने की ज़रूरत नहीं कि वह संयोग बिना प्रयत्न या उद्योग के सिद्ध नहीं हो सकता।

आत्मप्रयत्नसापेक्षा विशिष्टा या मनोगतिः।
तस्या ब्रह्मणि संयोगो योग इत्यभिधीयते॥

विष्णुपुराण, ६। ७। ३१।

---

* "Yoga in the Philosophy of Patanjali does not mean union with God or anything but effort (Udyoga), pulling oneself together, exertion, concentration. The idea of absorption into the Supreme Godhead forms no part of the Yoga theory. Patanjali, like Kapila, rests satisfied with the Soul and does not pry into the how and where the Soul abides after separation."

"The highest object of the Yogin was freedom, aloneness, aloofness or self-centeredness."

Max Müller's Indian Philosophy, pp. 426.

अर्थात्, आत्मा की प्राप्ति के लिए जो विशेष मनोवृत्ति है उसका भगवान् के साथ संयुक्त होना ही योग कहाता है। गीता में भगवान् ने योग का जो परिचय दिया है वह इसी मत से मिलता जुलता है। क्योंकि गीता में योगी को मनःसंयम करके ईश्वर में चित्त लगाने का उपदेश है।

मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः।

गीता, ६। १४॥

गीता में यह भी लिखा है कि योगी योगफल से जो शान्ति-लाभ करता है वह शान्ति भी भगवान् की स्थिति का ही फल है।

"शान्तिं निर्वाण परमांमत्संस्थामधिगच्छति।"

गीता, ६। १५।

पतञ्जलि ने अन्य उपायों के साथ योग प्राप्ति के लिए 'ईश्वर-प्रणिधान' भी एक उपाय बताया है।* यह उपाय सबसे बढ़िया है—इस बात को पतञ्जलि ने स्वीकार नहीं किया। योगी, चित्त-निरोध करने के लिए जिस तरह और किसी उपाय का अवलम्बन कर सकते हैं उसी तरह यदि वे चाहें तब ईश्वरप्रणिधान भी कर सकते हैं।†

---

* ईश्वर प्रणिधानाद्वा के "वा" पर ज़ोर देते हुए कुछ यह भी कहते हैं कि पतञ्जलि ने इसी उपाय को योग-प्राप्ति का मुख्य उपाय बताया है। उन्होंने और जो उपाय बताये हैं वे गौण उपाय हैं, यही चरम मुख्य उपाय है। यह बात ठीक मालूम नहीं होती। वा शब्द का अर्थ है विकल्प। इसमें गौण मुख्य की कोई बात नहीं है।

† I have given this extract in order to show how subordinate a position is occupied in Patanjali's mind by the

पतञ्जलि ने विक्षिप्त चित्त को एकाग्र करने के लिए साधक को "क्रियायोग" का उपदेश दिया है। तपः, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान—इनका नाम ही क्रियायोग है [योगसूत्र, २। १]। क्रियायोग सिद्ध होने पर चित्त-समाधि के अनुकूल हो जाता है। पतञ्जलि ने जिस अष्टाङ्ग योग का प्रचार किया है उसका एक अङ्ग नियम भी है। पतञ्जलि के मत में—नियम-योग का बहिरङ्ग साधन है। नियम के पांच भेद हैं;—शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान।

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।

योगसूत्र, २। ३२।

अतएव पतञ्जलि के मत में ईश्वरप्रणिधान अष्टांग योग के बहिरङ्ग साधन में से सिर्फ़ एक साधन है। इस लिए कहा गया कि पातञ्जलदर्शन में ईश्वर का स्थान बहुत ही गौण है। ईश्वर को छोड़ देने से भी इस दर्शन के मतानुसार योगसिद्धि हो सकती है।

---

devotion to Isvara. It is but one of the means (not even the most efficacious of all—p. 426) for steadying the mind, and thus realising that *Viveka* or discrimination between the true man (*Purusha*) and the objective world (*Prakriti*). This remains in *Yoga*, as it was in the *Samkhya*, the Summum Bonum of mankind. I do not think, therefore, that Rajendralal Mittra was right when in his abstract of the *Yoga* (p. iii) he represented this belief in one Supreme God as the first and most important tenet of Patanjali's Philosophy.

Max Müller's Indian Philosophy, pp. 424-5.

क्योंकि योगसिद्धि के अनेक उपायों में ईश्वरप्रणिधान भी एक साधारण उपाय है ।

यह बात भी स्मरण रखने योग्य है कि पतञ्जलि के मत में ईश्वरप्रणिधान का अर्थ ईश्वर में चित्त लगाना नहीं, बल्कि ईश्वर में सिर्फ़ कर्म्मार्पण करना है ।* ईश्वरप्रणिधान का उपदेश देकर भगवान् ने योगी को भगवान् का ध्यान करने का उपदेश नहीं दिया है, दिया है सिर्फ़ कर्म्मसंन्यास करने का ।

यही गीता का कर्म्मयोग है । भगवान् अर्जुन से कहते हैं,—

कर्म्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन । गीता ।

'कर्म्म में ही तुम्हारा अधिकार है, फल में नहीं ।'

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ गीता, ९ । २७ ।

'जो कुछ करो, खाओ, पियो, यज्ञ करो, दान दो, वह मेरे ही अर्पण करो ।'

पतञ्जलि का 'ईश्वरप्रणिधान' इसी के जोड़ [illegible] चीज़ है । ध्यानयोग इससे दूसरी चीज़ है । पतञ्जलि के मत में [illegible]सी विषय के 'एकतानचिन्तन' को ही ध्यान कहते हैं । भगवान् ही ध्येय हैं, उन्हीं का ध्यान करना चाहिए—ऐसा कोई नियम नहीं है ।†

* ईश्वरप्रणिधान शब्द का असली अर्थ इस अध्याय के परिशिष्ट में लिखा जायगा ।

† पातञ्जलोक्त ध्यान धारणा में ईश्वर का सम्पर्क कुछ अवश्यम्भावी नहीं है । उसको विज्ञानभिक्षु ने भी लक्ष्य किया है । "देशबन्धश्चित्तस्य धारणा" (योगसूत्र, ३ । १) सूत्र के वार्त्तिक में उन्होंने लिखा है—इदं च धारणालक्षणं

व्यासभाष्य में हम देखते हैं कि ईश्वरप्रणिधान के फल से ईश्वर प्रसन्न होकर यह इच्छा करते हैं कि इस (योगी) को समाधिलाभ हो। उसके फल से योगी को शीघ्र समाधिलाभ होता है [प्रणिधानाद् भक्तिविशेषाद् आवर्जित ईश्वरस्तमनुगृह्णात्यभिधानमात्रेण. तद् अभिध्यानादपि योगिन आसन्नतमः समाधिलाभः फलं च भवतीति—२ योगसूत्र के १। २३ सूत्र पर व्यासभाष्य]। अर्थात् पातंजलोक्त ईश्वर प्रणिधान—भगवान् में चित्तार्पण करना नहीं है और न उसका फल ईश्वरप्राप्ति है। योगी यदि ईश्वरप्रणिधान करे अर्थात् भक्तिपूर्वक समस्त कर्म्म ईश्वर के अर्पण करे, तो ईश्वर

प्राथमिकपरिच्छिन्नयोगाभिप्रायेण सूचितं यत्र प्रथमत एवेश्वरानुग्रहाद् अपरिच्छिन्नतया जीवब्रह्मयोगो भवति तत्र देशालम्बनधारणानुप्रयोगात्। अतो धारणाया अन्यदपि लक्षणं गरुडादावप्युक्तम्। यथा गारुडे,—

प्राणायामैर्द्वादशभिर्यावत्कालः कृतो भवेत्।
स तावत्कालपर्य्यन्तं मनो ब्रह्मणि धारयेत्॥

ध्यान के पूर्वोक्त लक्षण को लक्ष्य करके विज्ञानभिक्षु लिखते हैं, "इदमपि ध्यानलक्षणं प्राथमिकौत्सर्गिकध्यानाभिप्रायेण सर्वत्र ध्याने देशानियमात्। अतोऽस्य गारुडे लक्षणान्तरमुक्तम् तस्यैव ब्रह्मणि प्रोक्तं ध्यानं द्वादश धारणेत्यनेन। तस्यैव द्वादश प्राणायामकालेन धारितचित्तस्य द्वादशधारणाकालावच्छिन्नं चिन्तनं ध्यानं प्रोक्तमित्यर्थः। अनेन च पूर्ववत् सूत्रोक्तं विशेषलक्षणं विशेषणीयम्।

इसका भावार्थ यही है कि पतञ्जलि ने जिस धारणा और ध्यान का उपदेश किया है उसमें जीवात्मा का परमात्मा के साथ योग दिखाई नहीं देता। इसी लिए वह असम्पूर्ण है। पुराण में जीव और ब्रह्म का ऐक्य साधक भगवान् में जो चित्तार्पण लिखा है, उसके द्वारा पतञ्जलि के लक्षण की कमी पूरी करनी होगी।

प्रसन्न होकर प्रकृति पुरुष के विवेकज्ञान को उसके लिए सुलभ कर देंगे। उसके फल से योगी की आत्मा भगवान् में संयुक्त नहीं होती। हाँ, उसका विवेकज्ञान निश्चल ज़रूर हो जाता है। 'ततः प्रत्यक् चेतनाधिगमोऽपि अन्तरायाभावश्च ।'' (१ । २९ सूत्र ।) अर्थात् ईश्वरप्रणिधान से व्याधि आदि विघ्न दूर हो जाते हैं और आत्मा का साक्षात्कार हो जाता है। ईश्वर का साक्षात्कार नहीं होता । 'प्रत्यासक्तिस्तु स्वात्मनि साक्षात्कारहेतुर्न परमात्मनि'— वाचस्पति मिश्र की टीका, इसी सूत्र पर ।

गीता में पर ईश्वर के साथ चित्त के संयोग को ही योग कहा है। अतएव उस मत में ईश्वर को छोड़ने पर योगसिद्धि नितान्त असम्भव है। इसी लिए गीता में जहाँ योगचर्चा है वहीं ईश्वर का उल्लेख है। गीता के मत में श्रेष्ठ योगी वही है जो श्रद्धायुक्त होकर भगवान् में चित्त लगा कर उनका भजन करता है।

> योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
> श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥ गीता, ६ । ४७ ।

गीता में दूसरी जगह पर लिखा है,—

> यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
> तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥
> सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
> सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥ गीता, ६ । ३०—३१ ।

'जो सब में मुझ को और मुझ में सब को देखता है उसके लिए मैं कभी अदृश्य नहीं होता और मेरे लिए वह अदृश्य नहीं होता।'

'जो अभेद भाव से रहता है और सभी भूतों में मैं हूँ यह जान कर मेरा भजन करता है, वह योगी चाहे जिस अवस्था में रहे पर उसके बर्त्ताव ऐसे ही होते हैं कि जो मुझे प्रिय हैं ।'

गीता में यह भी लिखा है कि यदि देहत्याग के समय ओंकार रूप ब्रह्म मन्त्र का उच्चारण करे तो परम गति को प्राप्त हो ।

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥

इसी लिए भगवान् गीता में इस चरमयोग का उपदेश देते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥ गीता, ९ । ३४ ।

'अपना मन मुझे अर्पण करो, मेरी भक्ति करो, मेरी पूजा करो, मुझे नमस्कार करो, चित्त का समाधान कर उसे मुझ से मिलाओ और सर्वथा मुझ में ही आसक्ति रक्खो; तब मुझ से मिलोगे ।'

भगवान् में चित्तार्पण करने से श्रेयोलाभ होता है—यह बात और शास्त्रों में भी लिखी हुई है—

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां निःश्रेयसोदयः ।
तीव्रेण भक्तियोगेन मनो मय्यर्पितं स्थिरम् ॥ भागवत, ३ । २५ । ४१

तीव्र भक्ति के साथ भगवान् में चित्तार्पण कर देना ही इस लोक में मुक्ति का उपाय है ।

न युज्यमानया भक्त्या भगवत्यखिलात्मनि ।
सदृशोऽस्ति शिवः पन्था योगिनां ब्रह्मसिद्धये ॥

भागवत, ३ । २५ । १० ।

'विश्वाधार भगवान् में भक्ति करने से बढ़ कर और कोई मार्ग योगी के लिए मोक्ष प्राप्ति का नहीं है ।'

इसीलिए याज्ञवल्क्य कहते हैं,—

समाधिः समतावस्था जीवात्मपरमात्मनोः ।

ब्रह्मण्येव स्थितिर्या सा समाधिः प्रत्यगात्मनः ॥

'जीवात्मा और परमात्मा की साम्यावस्था को समाधि कहते हैं, जीवात्मा की ब्रह्म में स्थिति को ही समाधि कहते हैं ।'

अष्टाङ्ग योग भगवान् में किस तरह प्रयुक्त हो सकता है उसका सविशेष वर्णन विष्णुपुराण के छठे अंश में, खाण्डिक्य और जनक के संवाद में लिखा हुआ है । बहिरङ्ग साधन द्वारा चित्त को निर्म्मल और बाह्य विषयों से हटा कर एकाग्र भाव से भगवान् का ध्यान करना चाहिए,—

प्राणायामेन पवनैः प्रत्याहारेण चेन्द्रियैः ।

वशीकृतैस्ततः कुर्य्यात् स्थिरं चेतः शुभाश्रये ॥ विष्णुपुराण, ६ । ७ । ४१ ।

'प्राणायाम द्वारा पवन को और प्रत्याहार द्वारा इन्द्रियों को वशीभूत करके शुभाश्रय भगवान् में चित्त की एकाग्रता सम्पादन करनी चाहिए ।'

शुभाश्रय क्या ?

शुभाश्रयः स्वचित्तस्य सर्वगस्य तथात्मनः ।

त्रिभावभावनातीतो मुक्तये योगिनां नृप ॥ विष्णुपुराण, ६ । ७ । ७१ ।

अर्थात्, 'चित्त का शुभाश्रय एक मात्र श्रीभगवान् हैं, वह त्रिगुणातीत हैं । उनकी भावना से जीव मुक्तिलाभ करता है ।'

भागवत भी इसी मत की प्रतिध्वनि करती है,—

नियच्छेद् विषयेभ्योऽक्षान्मनसा बुद्धि सारथिः ।
मनः कर्म्मभिराक्षिप्तं शुभार्थे धारयेद्धिया ॥
तत्रैकावयवं ध्यायेदव्युच्छिन्नेन चेतसा ।
मनो निर्विषयं युक्त्वा ततः किञ्चन न स्मरेत् ॥
पदं तत्परमं विष्णोर्मनो यत्र प्रसीदति ।
भागवत, २ । १ । १८ । १९ ।

'बुद्धि की सहायता से मन के द्वारा इन्द्रियों को सब विषयों से हटा कर कर्म्मों से घिरे हुए चित्त की भलाई के लिए धारणा करो । (शुभार्थ में = भगवद्रूप में, श्रीधर स्वामी) ।

धारणा के अभ्यास के लिए पहले भगवान् की मूर्त्ति के एक एक अवयव की चिन्ता करके दृढ़ता के साथ समस्त मूर्त्ति में चित्त को स्थिर करना चाहिए । बाद को मन से भगवान् की मूर्त्ति को भी हटा दे और कुछ न सोचे । यही विष्णु का परम पद है इसी से चित्त को शान्ति मिलती है ।

आत्मानमत्र पुरुषोऽव्यवधानमेकम् ।
अन्वीक्षते प्रतिनिवृत्तगुणप्रवाहः ॥
सोऽप्येतया चरमया मनसो निवृत्त्या ।
तस्मिन् महिम्न्यवसितः सुखदुःखबाह्ये ॥
३ । २८ । ३५—६ ।

'उस अवस्था में प्रकृति का प्रवाह निवृत्त होने पर—पुरुष, अखण्ड अव्यवधान (ध्याता और ध्येय का अभेद) आत्मा का दर्शन करता है । और चित्तवृत्ति की चरम निवृत्ति में, सुख दुःख से अतीत महिमा (ब्रह्मस्वरूप) में प्रतिष्ठित होता है ।

दसवें अध्याय का परिशिष्ट ।

पातञ्जल ने ईश्वरप्रणिधान को ठीक किस अर्थ में व्यवहार किया है ? पातञ्जल दर्शन में ईश्वर-प्रणिधान शब्द चार सूत्रों में व्यवहृत हुआ है । यथा (१) "तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रिया-योगः"—२ । १; (२) शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः"—२ । ३२; (३) समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्—२ । ४५; और (४) ईश्वरप्रणिधानाद्वा" १ । २३ । पहले तीन स्थलों में सबके मत में ईश्वर-प्रणिधान का अर्थ ईश्वर को कर्म्मार्पण करने का है । ईश्वर-प्रणिधानम् = "सर्वक्रियाणां परमगुरौ अर्पणम् तत्फलसंन्यासो वा"—(२ । १ सूत्र पर व्यासभाष्य); "ईश्वरार्पितसर्वभावस्य समाधिसिद्धिः;—यया सर्वं ईप्सिततमम् अवितथं जानाति" (२ । ४५ सूत्र पर व्यासभाष्य) । इस जगह भाव के अर्थ में व्यापार है । इन तीनों स्थलों में ईश्वरप्रणिधान का अर्थ ईश्वर को सर्व-कर्म्मार्पण है—यह बात विज्ञानभिक्षु भी मानते हैं । किन्तु वे कहते हैं कि, "ईश्वर-प्रणिधानाद्वा" में ईश्वरप्रणिधान का दूसरा अर्थ है । "प्रथम-पादोक्तप्रणिधानादाह । सर्वक्रियाणामिति । लौकिकवैदिकासाधारण्येन सर्वकर्म्मणां परमेश्वरेऽन्तर्यामिणि अर्पणमित्यर्थः ।" (२ । १ सूत्र पर योगवार्त्तिक) ; तज्जपस्तदर्थभावनमिति प्रथमपादोक्तप्रणिधान-व्यावृत्त्यर्थं द्वितीयपादाद्यसूत्रवाक्यार्थमेव प्रणिधानशब्दार्थं स्मार-

यति। तस्मिन् परमगुरौ सर्वकर्म्मार्पणमिति। (२। ३२ सूत्र का योगवार्त्तिक) ईश्वरेऽर्पितः सर्वभावः सर्व व्यापारो येन तस्य समाधिसिद्धिर्योगनिष्पत्तिर्यथा येन प्रकारेण ईश्वरानुग्रहतो भवति तदुच्यते + + ततोऽस्य योगिनः प्रज्ञासमाधिकालेऽपि यथार्थमेव साक्षात्करोतीत्यर्थः × × × न च ईश्वरप्रणिधानादेव योगनिष्पत्तौ इतराङ्गवैयर्थ्यं इति वाच्यम् ईश्वरप्रणिधानस्य मोहमात्रनिवृत्तिद्वारत्ववचनात्—(२। ४५ सूत्र का योगवार्त्तिक)। सर्वदर्शनसंग्रहकार पातञ्जल दर्शन का परिचय देते हुए ईश्वरप्रणिधान शब्द का अर्थ इस तरह करते हैं "ईश्वरप्रणिधानं नामाभिहितानामनभिहितानाञ्च सर्वासां क्रियाणां परमेश्वरे परमगुरौ फलानपेक्षया समर्पणम्।' 'किन्तु ईश्वरप्रणिधानाद्वा' सूत्र के योग वार्त्तिक में विज्ञान भिक्षु इस तरह लिखते हैं। "प्रणिधानादत्र न द्वितीयपादवक्ष्यमाणं, किन्तु असम्प्रज्ञातकारणीभूतसमाधिभावनाविशेष एव। तज्जपस्तदर्थभावनं इत्यागामिसूत्रेणैव आत्मप्रणिधानस्य अत्र लक्षणीयत्वात्। × × ब्रह्मात्मना चिन्तनरूपतया प्रेमलक्षणभक्तिरूपाद् वक्ष्यमाणाद् प्रणिधानादावर्जितोभिमुखीकृत ईश्वरस्तं ध्यायिनमभिध्यानमात्रेण अस्य समाधिमोक्षौ आसन्नतमौ भवेतामितीच्छामात्रेण रोगाशक्त्यादिभिरुपायानुष्ठान मान्द्येप्यनुगृह्णाति आनुकूल्यं भजते अतस्तस्मादभिध्यानादपि प्रणिधाननिष्पत्यादिद्वारा योगिनामासन्नतमौ समाधि मोक्षौ भवतः।" (१। २३ सूत्र का योगवार्त्तिक)। विज्ञान भिक्षु के मत में ईश्वरप्रणिधान का अर्थ ईश्वर को कर्म्मार्पण नहीं बल्कि ईश्वर में चित्तार्प्पण या भक्ति के साथ उसका चिन्तन करना है। एक ही शब्द योगदर्शन

में भिन्न भिन्न स्थानों पर भिन्न भिन्न अर्थों में व्यवहृत हुआ है—यह बात माननी कहाँ तक युक्ति संगत है यह विवेच्य है। यह बात भी ठीक मालूम होती है कि महर्षि पतञ्जलि ने इस शब्द को एक ही अर्थ में सब जगह व्यवहृत किया है और वह एक अर्थ—ईश्वर में कर्म्मार्पण है। और यह भी वक्तव्य है कि विज्ञानभिक्षु का अर्थ व्यास-भाष्य से विपरीत है। व्यासभाष्य में सिर्फ़ यही लिखा है "प्रणिधानाद् भक्तिविशेषादावर्जित ईश्वरस्तं अनुगृह्णाति—" भक्ति द्वारा प्रसन्न होकर ईश्वर योगी पर कृपा करते हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि ध्यान-योग का अवलम्बन करके ईश्वर की स्वरूपचिन्ता करनी या ईश्वर में चित्त लगाना चाहिए' वाचस्पति मिश्र व्यास-भाष्य की टीका में इस तरह लिखते हैं "प्रणिधानात् = भक्ति विशेषान्मानसाद्वाचिकात् कायिकाद्वा ।"

कोई कहते हैं कि, 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' इस सूत्र को छोड़ कर और सूत्रों में ईश्वरप्रणिधान का जो उपदेश दिया गया है वह व्युत्थित चित्त निम्न अधिकारियों के लिए है। निम्नाधिकारी योगी प्रथमतः निष्काम कर्म्मयोग का अवलम्ब करके ईश्वर में कर्म्म-संन्यास करता है। इस तरह साधना के फल से जब वह समाहित हो जाता है उस समय उसके लिए उपदेश है—ईश्वरप्रणिधानाद्वा। उस अवस्था में योगी प्रणवजप और अर्थभावन द्वारा ईश्वर की स्वरूपचिन्ता और ईश्वर में चित्त-समर्पणरूप ध्यान योग का आश्रय ग्रहण करता है। यह साधनप्रणाली सुसंगता है—इसके कहने की ज़रूरत नहीं।' किन्तु पतञ्जलि ने भी 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' इस सूत्र द्वारा यही उपदेश दिया है—इसमें हमको बहुत कुछ सन्देह

है। क्योंकि पतञ्जलि ने चित्त-निरोध या योग-सिद्धि के लिए जिन उपायों को बताया है ईश्वरप्रणिधान उनमें मुख्य नहीं बल्कि अतिशय गौण है। उन्होंने ईश्वरप्रणिधान को अभ्यास वैराग्य आदि उपायों के साथ एक ही सूत्र में बाँधा है। इस लिए उनके मत में ईश्वरप्रणिधान भी उन्हीं उपायों का पर्य्यायभुक्त है।

ग्यारहवाँ अध्याय।

वेदान्तदर्शन।

वेदान्तदर्शन का संक्षिप्त विवरण।

पहले ही कह चुके हैं, कि वेद के दो भाग हैं; ज्ञानकाण्ड और कर्म्मकाण्ड। संहिता और ब्राह्मण आदि कर्म्मकाण्ड और आरण्यक और उपनिषद् आदि ज्ञानकाण्ड है। कर्म्मकाण्ड की समाप्ति पर ज्ञानकाण्ड शुरू होता है। ज्ञानकाण्ड ही वेद का अन्त या चरम भाग है—इसी लिए उसको साधारणतः वेदान्त कहते हैं। पूर्वमीमांसा में जिस तरह कर्म्मकाण्डसम्बन्धी वेद का विरोध-भञ्जन और सामञ्जस्य का विधान किया गया है, उसी तरह वेदान्तदर्शन ज्ञानकाण्ड वेद के (वेदान्त के) समन्वय साधन और अविरोध-स्थापन में व्याप्त है। इसी लिए इस दर्शन का दूसरा नाम 'उत्तरमीमांसा' है। वेदान्तदर्शन ने 'ब्रह्म' को ही प्रतिपादन किया है। इसी लिए उसको 'ब्रह्मसूत्र' भी कहते हैं।

वेदान्तदर्शन के प्रणेता महर्षि बादरायण हैं। इस देश में यह विश्वास फैला हुआ है कि बादरायण ही—पराशर के बेटे कृष्ण-द्वैपायन वेदव्यास हैं। पाश्चात्य पण्डित इस बात को नहीं मानते। उनके मत में कृष्णद्वैपायन और बादरायण जुदा जुदा आदमी हैं।

पाणिनि के ४ । ६ । ११० सूत्र में पाराशर्य्य-रचित एक भिक्षु-सूत्र का उल्लेख है। पराशर के बेटे वेदव्यास की ही पाराशर्य्य-संज्ञा है इसमें कोई सन्देह नहीं; क्योंकि तैत्तिरीय ब्राह्मण में साफ़ तौर पर पाराशर्य्य व्यास का उल्लेख है। वाचस्पति मिश्र के मत में वेदान्त सूत्र का दूसरा नाम ही भिक्षु-सूत्र है। क्योंकि पूर्वकाल में संसार-त्यागी चौथे आश्रम वाले पुरुष ही वेदान्तदर्शन को पढ़ा करते थे। चतुर्थाश्रमी का पारिभाषिक नाम 'भिक्षु' है। इसलिए वेदान्तसूत्र को 'भिक्षुसूत्र' कहना असङ्गत नहीं। अब भी बहुत से संसारत्यागी दण्डी गृहस्थी को वेदान्तदर्शन नहीं पढ़ाते हैं। अतएव वेदान्त-दर्शन के प्रणेता महर्षि बादरायण को वेदव्यास मानने के बहुत से कारण हैं।

वेदान्तदर्शन में कुल मिला कर ५५६ सूत्र हैं। यह दर्शन चार अध्यायों में विभक्त है। प्रति अध्याय में ४—४ पाद हैं। प्रथम अध्याय का साधारण विषय है—समन्वय, दूसरे अध्याय का—अविरोध, तीसरे अध्याय का—साधन और चौथे अध्याय का फल। प्रथम अध्याय में स्पष्ट अस्पष्ट और संदिग्ध श्रुतियों का ब्रह्म में समन्वय किया गया है। दूसरे अध्याय में अन्यान्य दार्शनिक मतों का दोष दिखा कर युक्ति और शास्त्र की सहायता से वेदान्त मत का अविरोध प्रकाशित किया गया है। तीसरे अध्याय में जीव और ब्रह्म (सगुण और निर्गुण) का लक्षण करते हुए मुक्ति का बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग साधन बताया गया है और चौथे अध्याय में जीवन्मुक्ति, जीव की उत्क्रान्ति और सगुण और निर्गुण उपासना के फल का तारतम्य दिखाया गया है।

वेदान्तदर्शन के अनेक भाष्य प्रचलित हैं। उनमें शङ्कराचार्य्य का शारीरिक भाष्य, रामानुजाचार्य्य का श्रीभाष्य और मध्वाचार्य्य का पूर्ण-प्रज्ञ-भाष्य ही क्रमपूर्वक अद्वैतवादी, विशिष्टाद्वैतवादी और द्वैतवादियों के विशेष आदर की वस्तु है। शारीरिक भाष्य पर आनन्दगिरि और वाचस्पति मिश्र ने टीकायें लिखी हैं। वाचस्पति मिश्र की 'भामती' टीका का दार्शनिकों मे बड़ा आदर है। श्रीभाष्य पर सुदर्शन की 'श्रुतप्रकाशिका' टीका बड़ी प्रसिद्ध है। वेदान्तदर्शन के अन्यान्य भाष्यकारों में विज्ञानभिक्षु, भास्कर, यादव मिश्र, निम्बार्क, वल्लभ और श्रीकण्ठ के नाम भी उल्लेख योग्य हैं। इनके सिवा वेदान्तदर्शन पर साम्प्रदायिक भाष्य भी बहुत मिलते हैं। नीलकण्ठ का 'शैव्यभाष्य' 'वेदान्तपारिजात' नामक सौरभाष्य और बलदेव का गोविन्द (वैष्णव) भाष्य—इसी श्रेणी के भाष्य हैं।

वेदान्तदर्शन पर जितने प्रकार की व्याख्यायें मिलती हैं उन सब में अद्वैत और विशिष्टाद्वैत मत की ही प्रधानता है। अद्वैत मत के प्रधान आचार्य्य श्रीशङ्कराचार्य्य हैं और विशिष्टाद्वैत मत के प्रधान आचार्य्य श्रीरामानुजाचार्य्य हैं। ये लोग प्रधान ही हैं—प्रवर्त्तक नहीं हैं। शङ्कराचार्य्य सम्भवतः ईसा की आठवीं शताब्दी में हुए हैं किन्तु इससे बहुत पहले अद्वैत मत ख़ूब प्रचलित था। शङ्कराचार्य्य के गुरु के गुरु गौड़पादाचार्य्य ने माण्डूक्य उपनिषद् पर एक कारिका लिखी है। उसमें अद्वैत मत हमको परिणत अवस्था में मिलता है। शङ्कराचार्य्य ने इस कारिका पर भी भाष्य लिखा है। उन्होंने अपने शारीरिक भाष्य में अपने मत की पुष्टि के

लिए भगवान् उपवर्ष को बतौर प्रमाण के उद्धृत किया है । उपवर्ष से भी पुराने योगवाशिष्ठ और सूत-संहिता में अद्वैत मत का साफ़ साफ़ वर्णन मिलता है ।*

इसी तरह रामानुज भी विशिष्टाद्वैत मत के प्रवर्त्तक नहीं थे । क्योंकि उन्होंने स्वयं ही अपने भाष्य में पहले आचार्यों के नाम लिखे हैं । उन्होंने यह भी लिखा है कि उनका 'श्रीभाष्य' बोधायन के पुराने भाष्य का अनुसरण मात्र है । रामानुज से पूर्ववर्त्ती आचार्यों में बोधायन, टङ्क, द्रमिड़, गुहदेव, भारुचि, कपर्दी और यमुनाचार्य्य ने विशिष्टाद्वैत का विस्तार करने के लिए ग्रन्थ लिखे हैं । पर ये सब के सब प्रायः इस समय लुप्त हो गये हैं ।† कुछ

* Shankara's is one only of the many traditional interpretations of the Sutras which prevailed at different times in different parts of India and in different schools.

Max Müller's Indian Philosophy, page 284.

† In former times there existed the following works bearing on the doctrines of Visishtadvaita :—a Vritti by the great Rishi Bodhayana, a bhâshya of the Brahma Sutras by Dramirâchârya and a vârtika by Tankâchârya. There were, besides, other works by Bharuchi, Guhdeva and other âchâryas ; but these too having perished through the destroying agency of time, the Siddhitraya, etc., were composed by the Venerable Yamunâchârya in order to explain the purport of the lost treatises. In these, *viz.*, Siddhitraya, etc., were controverted the vashya and other writings of Bhartri * *. Subsequently the illustrious commentator and holy sage, Sri Râmânujâchârya * * advanced the

दिन पहले यमुनाचार्य्य का बनाया सिद्धित्रय ग्रन्थ छपा है, इससे आशा होती है कि शायद और ग्रन्थों का उद्धार भी किसी समय हो जायगा। इसी तरह आचार्य्य परम्परा से विशिष्टाद्वैत मत चला आता है। इससे प्रमाणित होता है कि रामानुजाचार्य्य जो ईसा की बारहवीं शताब्दी में विद्यमान थे, से पहले भी विशिष्टाद्वैत मत खूब प्रचलित था।*

विशिष्टाद्वैत मत को और सुगम करने के लिए रामानुजाचार्य्य ने वेदार्थसंग्रह, वेदान्तदीप, वेदान्तसार, गद्यत्रय आदि अनेक ग्रन्थों की रचना की थी। ये सब ग्रन्थ आज भी विशिष्टाद्वैतवादियों के

---

knowledge of the Visishtadvaita in the world by the composition of his great work called the Shreebhâshya.

[M. M. Râma Misra Shâstri's preface to his edition of Vedârtha Sangraha.]

* There is evidence to show that it (the Visishtadvaita school) must have come down in the form of an unbroken tradition from very ancient times.

[Preface to Rangâchârya's Translation of Shreebhâshya.]

यथोदितक्रमपरिणतः भक्त्यैकलभ्य एव भगवद् बोधायान-टंक-द्रमिड़—गुरुदेव कपर्दि भारुचि प्रभृतितिभिरवगीतः + + + श्रुतिनिकरनिदर्शितोऽयं-पन्थाः। [रामानुज कृत वेदार्थसंग्रह]

इस विषय में प्रो० मैक्समूलर लिखते हैं,—

The individual philosopher is the mouthpiece of tradition, and that tradition goes back further, and further the more we try to fix it chronologically.

[Max Müller's Indian Philosophy, page 245.]

बड़े आदर की चीज़ हैं। इस सम्पर्क में रामानुजाचार्य्य के नाम से प्रचलित वेदान्त-तत्त्व-सार ग्रन्थ भी उल्लेख योग्य है।

अद्वैतवाद को विशद करने के लिए अद्वैत-मतावलम्बियों ने शङ्कराचार्य्य के चरण-चिह्न का अनुसरण करके अनेक ग्रन्थ बनाये। उनमें पञ्चदशी, अद्वैत ब्रह्मसिद्धि, चित्सुखी या तत्त्व-प्रदीपिका, पञ्चपादिका, खण्डनखाद्य, वेदान्तपरिभाषा, वेदान्त-सिद्धान्तमुक्तावली और वेदान्तसार विशेष उल्लेख योग्य हैं।

अद्वैत और विशिष्टाद्वैत मत में कई बड़े बड़े भेद हैं। पर दोनों मत एक ही वेदान्तसूत्र के ऊपर प्रतिष्ठित हैं। दोनों ने प्रमाण के समय उपनिषदों का आश्रय ग्रहण किया है। आचार्य्यों के इस मतद्वैध के कारण यह निश्चय करना कि ब्रह्मसूत्र किस मत का प्रतिपादक है बहुत मुश्किल हो गया है। इसी लिए वेदान्त-दर्शन का परिचय देते हुए इन दोनों मतों का ज़िक्र करना भी ज़रूरी समझा गया।

———

बारहवाँ अध्याय ।

वेदान्तदर्शन ।

अद्वैतमत ।

और दर्शनों की तरह वेदान्तदर्शन की भित्ति भी दुःखवाद ही है। वेदान्तदर्शन के मत में भी संसार दुःखमय है। शङ्कराचार्य्य ने संसार की तुलना उत्तालतरङ्गसङ्कुल—आवर्त्तबहुलनक्र-कुम्भीर-भीषण—समुद्र के साथ की है। इस संसार-सागर में पड़ कर जीव डुबकियाँ खा रहा है।* क्या इससे उसका उद्धार सम्भव नहीं ?

अद्वैतमत में जीव ही ब्रह्म है;—

जीवो ब्रह्मैव नापरः ।

जीव शुद्ध, बुद्ध, मुक्त और सत्य-स्वभाव है ।

नित्य-शुद्ध-बुद्ध -मुक्त-सत्यस्वभावं प्रत्यक्-चैतन्यमेव आत्मतत्त्वम् ।

वेदान्तसार ।

शङ्कराचार्य्य ने शारीरिक भाष्य में लिखा है, कि वाक्य और

---

* 'अयमधिकारी जननमरणादिसंसारानलसन्तप्तो द्दीप्तशिरा जलराशिमिव उपहारपाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं गुरुमुपसृत्य तमनुसरति ।'—वेदान्तसार ११ ।

मन से अतीत, विषय का विरोधी, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव* ब्रह्म ही जीवरूप में अवस्थित है।

इस मत के समर्थन में शङ्कराचार्य्य ने अनेक श्रुतियाँ उद्धृत की हैं। उनमें से नीचे लिखी दो श्रुतियाँ विशेष ध्यान देने योग्य हैं।

एक एव तु भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्॥ ब्रह्मविन्दु, १२।
यथाह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वान् अपोभिन्नाबहुधैकोऽनुगच्छन्।
उपाधिना क्रियते भेदरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा॥

'एक ही भूतात्मा भूतभूत में विराज रहा है, जिस तरह जल में एक ही चन्द्रमा अनेक होकर दीखता है, उसी तरह वह भी एक होकर अनेकरूप में प्रतीत हो रहा है।'

'जिस तरह ज्योतिस्वरूप सूर्य्य एक होकर भी भिन्न भिन्न जलाशयों में अनेक होकर दिखाई देता है यह भेद उसका केवल उपाधि के कारण है, इसी तरह द्युतिमान् अनादि परमात्मा क्षेत्र-भेद से अनेक रूप में दिखाई देते हैं।'

इसी लिए वेद के महावाक्य जीव ब्रह्म का अभेद प्रतिपादन करते हैं। 'तत्त्वमसि' 'अयमात्मा ब्रह्म' 'सोऽहं' 'अहं ब्रह्मास्मि' †

---

* वाङ् मनसातीतं अविषयान्तःपातिप्रत्यगात्मभूतं नित्यशुद्धबुद्धमुक्त-स्वभावं ब्रह्म।

The true Self, according to the Vedânta, is all the time free from all conditions, free from names and forms.

Max Müller's Indian Philosophy, page 207.

† अद्वैतवादियों ने जगह जगह पर जीव को ब्रह्म का अंश कहा है। जिस तरह अग्नि से चिनगारियाँ निकलती हैं उसी तरह ब्रह्म से जीव निकला है। 'योगवाशिष्ठ में लिखा है'—

'तू ही वह है' 'यह आत्मा ही ब्रह्म है' 'मैं ही वह हूँ' 'मैं ब्रह्म हूँ' इत्यादि। अर्थात् जीव ब्रह्म का सजातीय पदार्थ हो—यह बात नहीं' जीव ही ब्रह्म है—जीव और ब्रह्म में कोई भेद ही नहीं। गौड़पाद माण्डूक्यकारिका में लिखते हैं,—

जीवात्मनोरनन्यत्वं अभेदेन प्रशस्यते।
नाना त्वं निंद्यते यच्च तदेव हि समञ्जसम्॥

माण्डूक्यकारिका। ३। १३।

मायया भिद्यते ह्येतत् न तथाजं कथञ्चन।
तत्त्वतो भिद्यमानोहि मर्त्ततामम्रृतो व्रजेत्॥ ३। १६
अजमव्ययमात्मतत्त्वं माययैव भिद्यते,
न परमार्थतः; तस्मान्न परमार्थसत द्वैतम्॥ शङ्कर।

अर्थात्, 'जीव और ब्रह्म अभिन्न हैं—दोनों में भेद देखना अच्छा नहीं। जीव और ब्रह्म जो अलग अलग दिखाई देते हैं वे वास्तव में नहीं माया से दीखते हैं। यदि भेद वास्तविक होता तब जोअमृत है वह मर्त्य होता।' भेद जो प्रतीत होता है वह उपाधि

स्वमरीचिवलोद्भूता ज्वलिताग्नेः कणा इव। सर्वाण्वोस्थिताराम ब्रह्मणो जीवराशयः॥ योगवासिष्ठ, उत्पत्ति, १४। २२।

मेरुमन्दरसङ्काशा बहवो जीवराशयः।
उत्पन्नोत्पन्न संलीनास्तस्मिन्नेव परे पदे॥ योगवा० १५। ८

पर गौड़पाद इस मत को नहीं मानते। वे कहते हैं, कि जिस तरह घटाकाश महाकाश का अंश नहीं है (क्योंकि आकाश अखण्ड वस्तु है) उसी तरह जीव भी ब्रह्म का विकार या अवयव नहीं है।

नाकाशस्य घटाकाशो विकारावयवौ यथा, नैवात्मनः सदाजीवो विकारावयवौ तथा॥ माण्डूक्यकारिका, ३। ७।

के कारण से है ।* कोषरूप उपाधि के कारण ब्रह्म को ही जीव कहा जाता है ।

कोषोपाधिविवक्षायां याति ब्रह्मैव जीवताम् । पञ्चदशी, ३ । ४१ †

पर ब्रह्म में कोई उपाधि नहीं वह सब तरह की उपाधियों से मुक्त है । ब्रह्म सच्चिदानन्द है । जब जीव ब्रह्म ही है तब वह भी सच्चिदानन्द हुआ ।

अवेद्यो वापरोक्षोतः स्वप्रकाशो भवत्ययम् ।
सत्यं ज्ञानमनन्तञ्चेत्यस्तीह ब्रह्मलक्षणम् । पञ्चदशी, ३ । २८

जीव स्वप्रकाश है, अज्ञेय है एवं अपरोक्ष है । "सत्य, ज्ञान, और अनन्त ये ब्रह्म के लक्षण जीव में भी विद्यमान हैं । जीव में और ब्रह्म में नाममात्र का भेद है, जिस तरह घटाकाश और महाकाश में ।

कूटस्थब्रह्मणो भेदो नाममात्रादृते नहि ।
घटाकाशमहाकाशौ वियुज्येते नहि क्वचित् ॥ पञ्चदशी, ६ । २३६ । ७

जीव यदि ब्रह्म है तब उसको सांसारिक दुःख क्यों सताते हैं ? संसार-सागर की तरङ्गों की चपेट से फिर वह क्यों दुखी होता

---

* Shankara, as we said, was uncompromising on that point. With him and, as he thinks, with Bâdarâyana also, no reality is allowed to the soul (Âtman) as an individual (Jîva). * * With him the soul's reality is Brahmaṇa, and Brahmaṇa is one only.

Max Müller's Indian Philosophy, page 244.

† इसी मर्म की कारिका गौड़पाद ने भी लिखी है,—

घटादिषु प्रलीनेषु घटाकाशादयो यथा ।
आकाशे संप्रलीयन्ते तद्वज्जीव इहात्मनि ॥ माण्डूक्यकारिका, ३ । ४
[देहादि संघातोत्पत्त्या जीवोत्पत्तिस्तत्प्रलये च जीवानामिहात्मनि प्रलयः—शङ्कर ।]

है ? क्यों वह संसार की अग्नि में तपता रहता है ? इनके उत्तर में अद्वैतवादी कहते हैं कि शुद्ध बुद्ध मुक्त होने पर भी अविद्या के कारण जीव देह आदि उपाधि के धर्म्म से संक्रामित हो जाता है ।

एवं परमार्थतो विकृतं, एकरूपमपि सद्ब्रह्म देहाद्युपाध्यन्तरभावाद् भजत इव उपाधिधर्म्मान् वृद्धिह्रासादीन् ।

३ । २ । २० सूत्र पर शङ्कर-भाष्य ।

सुख-दुःख, काम-क्रोध, रोग-शोक ये सब देह और मन के धर्म्म हैं, जीव (आत्मा) के नहीं । किन्तु जीव देह के संयोग के कारण अपने को सुखी दुखी रोगी और शोकी समझता है ।

गौड़पाद कहते हैं,—

यथा भवति बालानां गगनं मलिनं मलैः ।
तथा भवत्यबुद्धानां आत्मापि मलिनो मलैः ॥

'जिस तरह बालक आकाश को मैला समझते हैं उसी तरह ज्ञानान्ध पुरुष आत्मा को मलिन जानते हैं ।'

इसी लिए पञ्चदशीकार कहते हैं, कि महेश्वर की माया की मोह-शक्ति के बल से जीव मोहित हो देह से नाता जोड़ लेता है और ईश्वरीय भाव को खोकर शोक करने लगता है ।

माहेश्वरी तु या माया तस्या निर्म्माणशक्तिवत् ।
विद्यते मोहशक्तिश्च तं जीवं मोहयत्यसौ ॥
मोहादनीशतां प्राप्य मग्नो वपुषि शोचति ।—पञ्चदशी । ४ । ११ । २

अविद्या के आवरण में आवृत हो जाने पर जीव अपने को कर्त्ता, भोक्ता, सुखी, दुखी आदि मानने लगता है । पर वास्तव में यह भ्रम है । रज्जु में जिस तरह सर्प का भ्रम है उसी तरह का यह भी मर्मान्तिक भ्रम है ।'

अनयावृतस्यात्मनः कर्तृत्वभोक्तृत्वसुखित्वदुःखित्वादिसंसार सम्भावनापि भवति यथा स्वाज्ञानेनावृतायां रज्ज्वां सर्पत्व सम्भावना।—वेदान्तसार॥

इस भ्रम को दूर करने का उपाय क्या है? जब भ्रम को पैदा करने वाली अविद्या ही है तब उसकी दूर करने से ही यह भ्रम दूर होगा।* जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं है इस ज्ञान के दृढ़ होते ही अविद्या निवृत्त हो जायगी। इस लिए अद्वैतमत में जीव और ब्रह्म का ऐक्य-ज्ञान ही मुक्ति का उपाय है।

गौड़पाद कहते हैं,—

अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते।
अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा॥ माण्डूक्यकारिका, १।१६

'अनादि माया के कारण सोया हुआ जीव जब जागता है

* जीव आत्मविस्मृत है। वह अपने को आप भूल गया है। योगवासिष्ठ में लिखा है—

हेतुर्विहरणे तेषामात्मविस्मरणादृते।
न कश्चिल्लक्ष्यते साधो जन्मान्मफलप्रदः॥ उत्पत्तिप्रकरण, ६२।८

'अनेक जन्मों को जीव इसी लिए धारण कर रहे हैं कि वे आत्मविस्मृत हो गये हैं।'

This is, indeed, the real object of the Vedânta philosophy to overcome all Nescience, to become once more what the Atman always has been, namely, Brahmaṇa.

Max Müller's Indian Philosophy, page 236.

This primeval Avidya is left unexplained; it is to be accounted for as little as Brahman can be accounted for. Like Brahman it has to be accepted as existent, but it differs from Brahman in so far as it can be destroyed by Vidya.

Max Müller's Indian Philosophy, page 225.

तब वह जानता है कि वह स्वयं ही जन्महीन, निद्राहीन, स्वप्नहीन अद्वैत ब्रह्म वस्तु है।'

जीव मुक्त-स्वभाव है, वह पूर्वापर-मुक्त है। वह बन्धन को जो अनुभव करता है—यह सिर्फ़ उसकी कल्पना है, वास्तव में बन्धन नहीं है। गौड़पादाचार्य्य लिखते हैं,—

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बन्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥

वास्तव में न आत्मा की उत्पत्ति है, न विनाश है। न बन्धन है और न मोक्ष है। न साधना है और न मुमुक्षा है।

इस श्लोक को उद्धृत करके पञ्चदशीकार लिखते हैं,—

वास्तवौ बन्धमोक्षौ तु श्रुतिर्न सहतेतराम्। पञ्चदशी, ६। २३४।

जीव का बन्धन और मोक्ष वास्तविक है—यह बात श्रुति नहीं मानती। 'इसी लिए अद्वैतमत में मुक्ति साध्य नहीं वरं सिद्ध वस्तु है। जीव स्वतः मुक्त है। उसके लिए मुक्ति को तलाश करना सिर्फ़ विडम्बना है। क्योंकि जीव सदा मुक्त है। इस बात को समझाने के लिए अद्वैतवादी एक दृष्टान्त देते हैं। "कण्ठचामी-करवत्।" एक बालक के गले में सोने का एक हार था। बालक को एक दफ़ा भ्रम उत्पन्न हो गया कि किसी ने उसका हार चुरा लिया। वह व्याकुल होकर इधर उधर उसको ढूँढ़ने लगा। पर कहीं भी हार का पता न लगा। तब उससे किसी ने कहा—कि भाई हार ढूँढ़ने में क्यों वृथा श्रम कर रहे हो, हार तो तुम्हारे गले में ही पड़ा हुआ है। तब उस निकटस्थ वस्तु को कुछ देर पहले जिसको वह बालक बड़ी दूर की चीज़ समझ रहा था पाकर

कृतार्थ हो गया। मुक्ति की भी यही बात है। मुक्ति जीव की स्वभावसिद्ध वस्तु है। पर जीव अपने को संसार-जाल में फँसा जान कर हाहाकार करता है। तब सद्गुरु कृपा करके उसको प्रकृत-तत्त्व का उपदेश देते हैं। तब उसकी अविद्या दूर हो जाती है और वह अपने को शुद्ध, बुद्ध और मुक्त-स्वभाव समझता है।

अद्वैतवादी इस तत्त्व को एक दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं। एक शेर का बच्चा किसी तरह बकरों के झुण्ड में आ मिला। बकरों के साथ रहते हुए उसको भी भ्रम हो गया कि मैं बकरा हूँ। और बकरे के स्वभाव की तरह वह भी हाथी से डरने लगा और उसके सामने से भागने लगा। एक बार किसी ने कृपा करके उसको जल में उसका अपना (सिंह का) स्वरूप दिखा कर बता दिया कि वह बकरा नहीं सिंह है। तब उसको अपनी अज्ञात-शक्ति का पता लगा और उस दिन से हाथी के डर से भागने के बजाय अपने डर से वह हाथियों को भगाने लगा।

जीव की बात भी ऐसी ही है। जीव उपाधि के वशीभूत होकर मोह को प्राप्त होता है। वह अपने शुद्ध बुद्ध और मुक्त स्वभाव को भूल कर "अनीशया शोचति मुह्यमानः" ईश्वरीय भाव को खोकर—शोक और मोह के फन्दे में पड़ जाता है। यदि कभी उसको सद्गुरु बता देते हैं "तत्त्वमसि" या "अयमात्मा ब्रह्म" और वह समझ लेता है "सोऽहं" "अहं ब्रह्मास्मि" तब उसके सब शोक मोह दूर हो जाते हैं और जीव-ब्रह्म की ऐक्य की उपलब्धि करके फिर वह अपनी महिमा में प्रतिष्ठित हो जाता है। श्रुति भी कहती है,—

तद्विज्ञानार्थं सद् गुरुमेवाभिगच्छेत् ।

समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥ मुण्डकोपनिषद् १ । २ । १२ ।

'उस ज्ञान की प्राप्ति के लिए शिष्य को चाहिए कि वह हाथ में कुशा लेकर श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाय ।'

ब्रह्म का—जिसके साथ जीव ऐक्य की उपलब्धि करता है—स्वरूप क्या है ? उपनिषद् में ब्रह्म के दो विभाव दृष्टिगत होते हैं । एक निर्विशेष और निर्गुण भाव और दूसरा सविशेष या सगुण-भाव । निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप का कोई लक्षण नहीं किया जा सकता । ऐसा कोई चिह्न नहीं जिससे उसका पता बताया जाय, ऐसा कोई गुण नहीं जिससे कि उसकी धारणा की जाय । इसी लिए इस भाव को निर्विकल्प या निरुपाधि कहा गया है । निर्गुण ब्रह्म का परिचय देते हुए श्रुति ने सिर्फ़ नेति नेति अर्थात् "वह यह भी नहीं है" "यह भी नहीं है" कहा है और निषेध का ही व्यवहार किया है—

अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम् । बृहदारण्यक, ३ । ८ । ८

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम् ।—कठ । ३ । १५

तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम् । बृहदारण्यक, २ । ५ । १९

'वह स्थूल नहीं, सूक्ष्म नहीं, ह्रस्व नहीं और दीर्घ नहीं ।' 'उसका शब्द नहीं, स्पर्श नहीं, रूप नहीं, क्षय नहीं ।' 'ब्रह्म के पहले या पीछे भीतर या बाहर और कुछ नहीं है ।'

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः

श्रोत्रं तदपाणिपादम् । मुण्डक, १ । १ । ६

'जो अदृश्य है, अग्राह्य है, अगोत्र है और अवर्ण है; जिसके आँख नहीं, कान नहीं, हाथ नहीं और पाँव नहीं।'

नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञम्।
न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्।
अदृष्टमव्यवहार्य्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्य—
मव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारम्।
प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतम्॥
चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः॥ माण्डूक्य, ७।

'जिसकी प्रज्ञा न बहिर्मुख है, न अन्तर्मुख है और न उभय-मुख है; जो प्रज्ञानघन भी नहीं, प्रज्ञ नहीं और अप्रज्ञ भी नहीं। जो दर्शन, व्यवहार, ग्रहण, चिन्ता और लक्षण से अतीत है, जिसका निर्देश नहीं हो सकता, जो आत्मा के प्रत्ययमात्र से ही सिद्ध है, प्रपञ्च से परे है, शान्त है, शिव है, अद्वैत है;—उसी को तुरीय कहते हैं।'

इसी लिए उसको अनिर्देश्य, अनिरुक्त और अवाच्य आदि विशेषण दिये गये हैं।

एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्यनिरुक्ते। तैत्तरीय, २।७।

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा। कठ, ६।१२।

'वह वाणी, मन और इन्द्रियों से परे है!' वह जाने और अनजाने सब पदार्थों से भिन्न है;—

अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि। केन, १।३।

उसी के विषय में यह भी कहा है,

अन्यत्र धर्म्मादन्यत्राधर्म्मादन्यत्रास्मात् कृताकृतात्। अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च।—कठ; २।१४।

वह धर्म्म से भी पृथक् है और अधर्म्म से भी । कार्य्य से भी अलग है और कारण से भी । अतीत से भी भिन्न है और भविष्यत् से भी । इसी लिए गौड़पादाचार्य्य लिखते हैं,—

अजमनिद्रमस्वप्नमनामकमरूपकम् ।

सकृद् विभातं सर्वज्ञं नोपचारः कथञ्चन ॥ माण्डूक्यकारिका, ३ । ३६ ।

[उपचार=भाषा की सहायता से उसकी जोड़ की कोई चीज़ बताना ।]

श्रीशङ्कराचार्य्य ने अद्वैतमत का विवरण करते हुए इन सब तथा अन्य श्रुतियों को उद्धृत करके ब्रह्म का निर्विशेषभाव प्रदर्शित किया है । परन्तु उन्होंने यह भी कहा है कि उपनिषदों में जिस तरह निर्विशेष ब्रह्म को बताने वाली श्रुतियाँ मिलती हैं उसी तरह ब्रह्म के सविशेषभाव को प्रतिपादन करने वाली श्रुतियाँ भी अनेक हैं ।

सन्ति उभयलिङ्गाः श्रुतयो ब्रह्मविषयाः । सर्व्वकर्म्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरस इत्येवमाद्याः सविशेषलिङ्गाः। अस्थूलमनणु, अह्रस्वमदीर्घम्, इत्येवमाद्याश्च निर्विशेषलिङ्गाः ।

'ब्रह्म के विषय में दो प्रकार की श्रुतियाँ दिखाई पड़ती हैं । एक सविशेष लिङ्ग-श्रुति; जैसी—वह सर्वकर्म्मा है, सब कुछ है, सब की गन्ध है, सब का रस है । दूसरी निर्विशेष लिङ्गश्रुति, जिस तरह—वह स्थूल भी नहीं है, सूक्ष्म भी नहीं है, ह्रस्व भी नहीं है, दीर्घ भी नहीं है ।'

किन्तु यह सब होते हुए भी शङ्कराचार्य्य ने निर्गुण ब्रह्म को ही श्रुति का प्रतिपाद्य माना है और सविशेष ब्रह्म का उन्होंने प्रत्याख्यान किया है ।

अतश्चान्यतरलिङ्गपरिग्रहेऽपि समस्तविशेषरहितं निर्विकल्पकमेव ब्रह्म प्रतिपत्तव्यं न तद्विपरीतम्। सर्वत्र हि ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनपरेषु वाक्येषु अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम् इत्येवमादिषु अपास्तसमस्तविशेषमेव ब्रह्म उपदिश्यते। ब्रह्मसूत्र पर शांकरभाष्य, ३। २। ११।

'अतएव दोनों तरह के लिङ्ग निर्देश होते हुए भी, समस्त विशेषरहित निर्विकल्प ब्रह्म ही श्रुति का प्रतिपाद्य है, उसके विपरीत (सविशेष सगुण ब्रह्म) श्रुति का प्रतिपाद्य नहीं। क्योंकि उपनिषद् में जहाँ कहीं ब्रह्म का स्वरूप बताया गया है वहाँ उसको (अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय आदि) सविशेषरहित ही बताया गया है।'

ब्रह्म का निर्विशेषभाव वचन, लक्षण और निर्देश से परे है। पर श्रुतिवाक्यों की ओर लक्ष्य करने से मालूम होता है, कि उसका सविशेष भाव ठीक इसके विपरीत है। सविशेष ब्रह्म को लक्षण से लक्षित, विशेषणों से विशेषित और चिह्न से चिह्नित किया जाता है। वह निर्विशेष की तरह मन बुद्धि से अगोचर, अज्ञेय, अमेय और अचिन्त्य नहीं है।

एष सर्वेषु भूतेषु गूढ़ात्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥ कठोपनिषद्, ३। १२

'यह आत्मा सब भूतों में छिपा हुआ है, प्रकट नहीं है; किन्तु सूक्ष्मदर्शी पुरुष अपनी सूक्ष्म बुद्धि की सहायता से उसका दर्शन करते हैं।'

अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं।
मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति॥ कठ, २। ११।

अध्यात्म-योग को प्राप्त होने के बाद देव को जान कर धीर पुरुष सुख दुःख को जीत लेता है ।

हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो ।

य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥—कठ ६ । ९

वह संशयरहित बुद्धि-द्वारा हृदय में दिखाई पड़ता है उसको जान कर मनुष्य अमर हो जाता है ।

इस प्रकार सगुण ब्रह्म का परिचय देते हुए उपनिषद् में अनेक सुन्दर और गम्भीर मन्त्रों की अवतारणा की गई है ।

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम् । बृहदारण्यक, ५ । १३

'वह नित्य का भी नित्य है, चेतन का भी चेतन है ।'

'अणोरणीयान् महतोमहीयान् ।'

'वह अणु से भी अणु है और महत् से भी महान् है ।'

सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः । स न साधुना कर्म्मणा भूयान्नो एवासाधुना कर्म्मणा कणीयान् एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसम्भेदाय । बृहदारण्यक ४ । ४ । २२ ।

'वह सबका प्रभु है, सब का ईश्वर है, सब का अधिपति है । भले कर्म्म से उसका उपचय (वृद्धि) नहीं होता बुरे कर्म्म से उसका अपचय नहीं होता । वह सब का मालिक है । वह भूतपाल है । वह मनुष्यों का विभाजक और धारक-सेतु है ।'

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्य्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम् । माण्डूक्य, ६ ।

वह, सर्वेश्वर है, सर्वज्ञ है, अन्तर्यामी है । वही विश्व का कारण है, वही भूतों की उत्पत्ति और लय का स्थान है ।

अपाणिपादोऽजवनोऽगृहीता,
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता,
तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥ श्वेताश्वतर, ३ । १६ ।

'वह बिना हाथ के ग्रहण करता है, बिना पाँव के चलता है, बिना आँख के देखता है, बिना कान के सुनता है । वह सर्वज्ञ है पर उसको कोई जानता नहीं, उसी को परम पुरुष कहते हैं ।'

एष आत्माऽपहत पाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः । छान्दोग्य, ८ । १ । ५

यह आत्मा पापहीन है, जराहीन है, मृत्युहीन है, शोक-हीन है, क्षुधा-तृष्णा हीन है । यह सत्यकाम और सत्यसंकल्प है ।

उपनिषद् में सविशेष या सगुण ब्रह्म को महेश्वर कहा है । अद्वैतवादियों के मत में यह सगुण ब्रह्म या महेश्वर माया का खेल मात्र है । इसकी पारमार्थिक सत्ता नहीं है यह उपाधि के काल्पनिक विलास के सिवा और कुछ नहीं है ।* इसी लिए पञ्चदशीकार कहते हैं ।

मायाख्यायाः कामधेनोर्वत्सौ जीवेश्वरावुभौ ।
यथेच्छं पिबतां द्वैतं तत्त्वं अद्वैतमेव हि । पञ्चदशी, ६ । २३६ ।

मायारूपिणी कामधेनु के दो बछड़े हैं जीव और ईश्वर । अर्थात् दोनों ही मायिक अवस्तु हैं । उनके द्वारा चाहे द्वैत सिद्ध हो जाय, पर, तत्त्व अद्वैत ही है ।

---

* The Lord as creator, as Lord or Isvara depends upon the limiting conditions or the Upadhis of name and form and these, even in the Lord, are represented as products of Nescience.—Max Müller's Indian Philosophy, p. 207.

जिस तरह ब्रह्म माया उपाधि से ईश्वर कहलाता है उसी तरह वही अविद्या उपाधि से जीव कहाता है । यह प्रतीति भी झूँठी है ।

सत्यं ज्ञानमनन्तं यत् ब्रह्म तद्वस्तु तस्य तत् ।

ईश्वरत्वन्तु जीवत्वमुपाधि द्वय कल्पितम् ॥ पञ्चदशी, ३ । ३ ।

सच्चिदानन्द ही वस्तु है, ईश्वर और जीव उपाधि-कल्पित हैं इस लिए अवस्तु हैं, उपाधि को छोड़ कर सच्चिदानन्द के सिवा और कुछ बाक़ी नहीं रहता ।

माया विद्ये विहायैवं उपाधिपरजीवयोः ।

अखण्डं सच्चिदानन्दं परं ब्रह्मैव लक्ष्यते ॥ पञ्चदशी, १ । ४७

वास्तव में ब्रह्म निरुपाधिक है । जिस समय उसमें माया शक्ति की उपाधि संयुक्त हो तो वह ईश्वर और जिस समय उसमें कोष उपाधि का योग हो तो वह जीवपदवाच्य होता है ।

शक्तिरस्त्यैश्वरी काचित् सर्ववस्तु नियामिका ।

\+ \+ \+

तच्छक्त्युपाधिसंयोगाद् ब्रह्मैवेश्वरतां व्रजेत् ।

कोषोपाधि विवक्षायां याति ब्रह्मैव जीवताम् ॥

पञ्चदशी, ३ । ३८, ४०, ४१ ।

माया, ब्रह्म की शक्ति है । जिस तरह अग्नि की दाहिका शक्ति है उसी तरह ब्रह्म की माया शक्ति है । शक्ति और शक्तिमान् एक ही हैं—"शक्ति शक्तिमहतोरभेदात् ।" शङ्कर । अतएव माया और ब्रह्म अभिन्न हैं, क्योंकि माया ब्रह्म ही की शक्ति है वह ब्रह्म से भिन्न नहीं है । अद्वैतवादी माया का परिचय देते हुए कहते हैं,—

सदसद्भ्यामनिर्वाच्या मिथ्याभूता सनातनी ।

'माया सत्य भी नहीं है, मिथ्या भी नहीं है। सत् भी नहीं है, असत् भी नहीं है। वह अनिर्वचनीय है।' इसका स्वरूप बताया नहीं जा सकता, इस लिए वेदान्तसार कहता है,—

सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं त्रिगुणात्मकम्।

ज्ञानविरोधिभावरूपं यत्किञ्चित्॥

माया भावरूपी कुछ है, वह त्रिगुणात्मिका है, ज्ञान की विरोधिनी है, वह न सत् है और न असत् है।*

अद्वैतवादी यह भी कहते हैं कि श्रुति में ब्रह्म के दो प्रकार के लक्षण दिखाई देते हैं—स्वरूप लक्षण और तटस्थ लक्षण।

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। तैत्तरीय उपनिषद्। २। १। १।

विज्ञानमानन्दं ब्रह्म। बृहदारण्यक, ३। ६। २८।

इत्यादि वाक्यों में ब्रह्म का स्वरूप बताया गया है और उसको

---

*It sometimes seems as if Shankara ** admitted to Brahmans also; Saguna and Nirguna; with or without quality; but this would again apply to a state of Nescience or Avidya only. ** The true Brahman, however, remains always Nirguna or unqualified. ** In full reality Brahman is as little affected by qualities, as our trueself is by Upadhis (conditions). Having no qualities, this highest Brahman cannot be known by predicates. It is subjective and not liable to any objective attribute. This Iswara exists just as everything else exists, as phenomenally only, not as absolutely real. When personified by the power of Avidya or Nescience he rules the world, though it is a phenomenal world and determines though he does not cause rewards and punishments.

Max Müller's Indian Philosophy, pp. 220 to 223.

जहाँ "तज्जलान्" (सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति—छान्दोग्य, ३।१४।) कहा है वहाँ उसका तटस्थ लक्षण किया गया है। तज्जलान् का अर्थ है तज्ज, तल्ल, तदन; अर्थात् उससे जगत् पैदा होता है, उसी में अवस्थित रहता है और उसी में लीन हो जाता है।

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति । तैत्तिरीय उपनिषद्, ३ । १ ।

'जिससे सब भूत उत्पन्न हुए हैं, जिससे ये सब भूत जीवित रहते हैं, अन्त में जिसमें ये सब लीन हो जाते हैं—वही ब्रह्म है।

यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेद् यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति। बृहदारण्यक, २ । १ । २० ।

'जिस तरह उर्णनाभ (मकरी) में से तन्तु निकला करते हैं। जिस तरह अग्नि में से चिनगारियाँ निकलती हैं उसी तरह इस आत्मा में से सब प्राण, सब लोक, सब देव सारे भूत निकले हैं।

जन्माद्यस्य यतः । ब्रह्मसूत्र, १ । १ । २ ।

इस सूत्र से ब्रह्म-दर्शन ने ब्रह्म के तटस्थ लक्षण का ही निर्देश किया है। "जिस सर्वज्ञ सर्वशक्ति कारण से इस जगत् की सृष्टि स्थिति और लय होती है वही ब्रह्म है।" कहना फ़िज़ूल है कि यह सगुण ब्रह्म का लक्षण है। क्योंकि परब्रह्म जब शक्तियुक्त होंगे तभी वे सर्वज्ञ सर्वशक्ति इत्यादि लक्षणों से लक्षणीय होंगे।

तो क्या अद्वैत मत में ब्रह्म के सिवा जगत् नाम की भी कोई वस्तु है जिसकी सृष्टि स्थिति और लय होती है ? अद्वैतवादी जगत्

की सत्यता नहीं मानते। वे कहते हैं कि ब्रह्म ही एक मात्र सद्वस्तु है; और जो कुछ है असत् है, अवस्तु है। ब्रह्म के सिवा और कुछ नहीं है।

श्लोकार्द्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः।
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः॥

अद्वैतवादी कहते हैं "करोड़ों ग्रन्थों में जो बात कही गई है वह मैं आधे श्लोक में कहे देता हूँ। ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या है; जीव ब्रह्म ही है और कुछ नहीं है।" क्योंकि अद्वैत मत में ब्रह्म 'एकमेवाद्वितीयम्' है अर्थात् ब्रह्म के सिवा और कुछ नहीं है।

ब्रह्म ही सत् है और जो कुछ है वह असार है। वास्तव में उसकी कुछ सत्ता नहीं है। जो आज है वह कल नहीं था और कल रहेगा भी नहीं। जो कल था वह आज नहीं है। इसी तरह जो जाग्रत् अवस्था में है वह स्वप्नावस्था में नहीं है। स्वप्न में जो देखा उसे जाग्रत में नहीं पाया, सुषुप्ति में भी वह नहीं रहेगा। इस लिए वह असत् नहीं है तो और क्या है? किन्तु ब्रह्म सकल अवस्था में विद्यमान है, था और रहेगा। इस लिए ब्रह्म ही एक मात्र सत् है। श्रुति भी कहती है,—

सदेव सोम्य इदमग्र आसीद्।
एकमेवाद्वितीयम्। छान्दोग्य, ६।२।१।

'आदि से एक अद्वितीय सत् ही विद्यमान है।'

आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। ऐतरेय, १।१।

'आदि से एक आत्मा ही है।'

ब्रह्मैवेदं सर्वम्। नृसिंहतापनी, ७।

'सब कुछ ब्रह्म ही है।'

आत्मैवेदं सर्वम्। छान्दोग्य, ७। २५। २।

'आत्मा ही सब कुछ है।'

नेह नानास्ति किञ्चित्। बृहदारण्यक, ४। ४। १९।

'यहाँ भेद कुछ नहीं, सब एक ही है।'

यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चित्। श्वेताश्वतर, ३। ९।

'उसके आगे पीछे और कुछ नहीं'।

स एवाधस्तात् स उपरिष्टात् स पश्चात् स पुरस्तात् स दक्षिणतः स उत्तरतः। स एवेदं सर्वम् + +। आत्मैवाधस्ताद् आत्मा पश्चाद् आत्मा पुरस्ताद् आत्मा दक्षिणत आत्मा उत्तरत आत्मैवेदं सर्वम्। छान्दोग्य, ७। २५। १—२।

नीचे, ऊपर, आगे, पीछे, दाहिने, बाँये, सब कहीं वही है। नीचे, ऊपर, आगे, पीछे, दाहिने, बाँये, सब कहीं आत्मा ही है। जो कुछ है आत्मा ही है।

ब्रह्म को 'एकमेवाद्वितीयम्' कहने से जाना जाता है कि वह सब तरह के भेदों से रहित है। विजातीय, सजातीय और स्वगत— ये तीनों भेद उसको स्पर्श भी नहीं कर सकते। वह निरुपाधि है, अर्थात् देश काल और निमित्त इन तीन तरह की उपाधियों के सम्पर्क से रहित है।*

इसी लिए योगवासिष्ठ (उत्पत्ति-प्रकरण में) कहता है कि,—

---

* The three ultimate categories of time, space and causality. Time = काल, Space = देश और Causality = निमित्तकार्य-कारण-सम्बन्ध।

'देश-काल और निमित्त जब उसी (ब्रह्म) में रहते हैं तो वह द्वैत है वा अद्वैत? ब्रह्म न द्वैत है न अद्वैत; न जात है न अजात; न सत् है और न असत्; न क्षुब्ध है और न प्रशान्त है।'' उसमें सब द्वंद्वों का समन्वय है, सारे द्वैत उसमें समाप्त हो जाते हैं।

हमको मालूम हुआ कि अद्वैत मत में ब्रह्म ही सद् वस्तु है और बाक़ी जो कुछ है असद् या अवस्तु है। यदि यही सच है, यदि ब्रह्म के सिवा और कुछ नहीं है—यही बात मान ली जाय तो अनेक विचित्रताओं से भरा यह जगत् जो प्रतिक्षण हमारे सामने खड़ा है कहाँ से आया? इस जगत् को किस तरह मिथ्या समझें? इसके उत्तर में अद्वैतवादी दृष्टान्त द्वारा जगत् का मिथ्या-पन दिखाते हैं, वे कहते हैं जिस तरह रस्सी में साँप का भ्रम होता है, सीप में चाँदी का भ्रम होता है, सूर्य्य की किरणों में मरीचिका का भ्रम होता है उसी तरह ब्रह्म में जगत् का भ्रम होता है। यह सिर्फ़ भ्रम है, इससे जगत् की वास्तविकता प्रकट नहीं होती।*

* इस विषय में योगवासिष्ठ का उपदेश इस प्रकार है,—

स्वप्ने जाग्रदसद्रूपः स्वप्नो जाग्रत्यसन्मयः।
मृतिर्जन्मन्यसद्रूपा मृत्यां जन्माप्यसन्मयम्॥

योगवासिष्ठ उत्पत्ति-प्रकरण, ४४। २५

न कदाचन यन्नास्ति तद् ब्रह्मैवास्ते तज्जगत्।
तस्मिन्मध्ये पचन्तीमां भ्रान्तयः सृष्टिनामिकाः॥ ,, ॥ ,, ॥ ॥२८॥

यथा तरंगा जलधौ तथेमाः सृष्टयः परे।
उत्पत्योत्पत्य लीयन्ते रजांसीव महानिले॥

तस्माद् भ्रान्तिमयाभासे मिथ्यात्वमहमात्मनि।
मृगतृष्णाजलचये कैवास्था सर्गभस्मनि॥

रस्सी में साँप देख कर हम डरते हैं, सीप में चाँदी देख कर हम प्रलुब्ध होते हैं और सूर्य्य-किरण-जाल में जल समझ कर हम आश्वस्त होते हैं सही पर है यह सब भ्रम ही। क्योंकि उसके आधार में उसी 'भ्रम' का अध्यास है, उस आधार का ज्ञान होते ही भ्रम दूर हो जाता है। तब हम जान पाते हैं, कि साँप, चाँदी और मरीचिका केवल भ्रम के कारण प्रतीत होते थे। वास्तव में रस्सी, सीप और किरण ही सत्य पदार्थ थे। इसी तरह जब जीव को ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति होती है तब ब्रह्म में अध्यस्त जगत् का भ्रम दूर हो जाता है उस समय ब्रह्म के सिवा और किसी की प्रतीति नहीं होती। इसी लिए प्रबोध चन्द्रोदयकार लिखते हैं,—

भ्रान्तयश्च स तत्रान्यास्तास्तदेव परं पदम् ॥ योगवासिष्ठ, उत्पत्ति प्रकरण, २१—३१।

पर दूसरी जगह पर इसी ग्रन्थ में अनेक ब्रह्माण्डों का उल्लेख मिलता है,

यथा सूर्योदये गेहे भ्रमन्ति त्रसरेणवः।
तथेमे परमाकाशे ब्रह्माण्डत्रसरेणवः ॥ योगवासिष्ठ, उत्पत्ति २१। ३७

गौड़पादाचार्य्य ने, माण्डूक्यकारिका में जगत का मिथ्यात्व इस तरह दिखाया है,—

स्वतो वा परतोवापि न किञ्चिद् वस्तु जायते।
सदसत् सदसद्वापि न किञ्चिद् वस्तु जायते ॥ माण्डूक्यकारिका, ४। २२।
आदावन्ते च यन्नास्ति वर्त्तमानेऽपि तत्तथा। ॥ ४। ३१।
प्रपञ्चो यदि विद्येत निवर्त्तेत न संशयः।
मायामात्रमिदं द्वैतं अद्वैतं परमार्थतः ॥
आदावन्ते च यन्नास्ति वर्त्तमानेऽपितत्तथा।
वितथैः सदृशाः सन्तोऽवितथा इव लक्षिताः ॥ २। ६।

यत् तत्त्वं विदुषां निमीलति जगत् स्रग्भोगि भोगोपमम्।

'जिस तरह रज्जु का ज्ञान होने पर सर्प का भ्रम दूर हो जाता है, उसी तरह ब्रह्मज्ञान होने पर जगत् का भ्रम मिट जाता है।'

पर जगत् न होने पर भी, है, ऐसी प्रतीति होती ज़रूर है। यह प्रतीति क्यों होती है? इसके उत्तर में अद्वैतवादी कहते हैं, कि ब्रह्म की माया-शक्ति में दो सामर्थ्य हैं। आवरण और विक्षेप। आवरण-शक्ति के कारण जीव अपने को ब्रह्म से अलग समझता है और विक्षेप-शक्ति से जगद्रूप भ्रम का अघटन-घटन साधित होता है। इसी लिए वेदान्त में माया को* 'अघटन-घटन-पटीयसी' कहा है। जगत् नहीं है पर मालूम होता है यही अघटन-घटन-पटीयसी माया का काम है। अद्वैतवादी कहते हैं ऐसा होना कोई

[वितथैः = मृगतृष्णिकादिभिः सदृशत्वात्—शङ्कर]

अनिश्चिता यथारज्जुरन्धकारे विकल्पिता।
सर्पधारादिभिर्भावैस्तद्वदात्मा विकल्पितः॥
निश्चितायां यथा रज्वां विकल्पो विनिवर्त्तते।
रज्जुरेवेति चाद्वैतं तद्वदात्मविनिश्चयः॥ २। १७-१८।
स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा।
तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः॥ २। ३१

* All this is not real, but phenomenal; it belongs to the realm of Avidya (Nescience) and vanishes as soon as true wisdom or Vidya has been obtained. ** It has been called a general cosmical Nescience. ** Shankara looks upon the whole objective world as the result of Nescience; he nevertheless allows it to be real for all practical purposes (Vyavaharatham). But apart from this concession, the

आश्चर्य्य की बात नहीं है। क्योंकि इन्द्रजाल की क्रीड़ा में भी हम ऐसा होता हुआ देखते हैं।

जादूगर जब तमाशा करते हैं तो देखने वाले उस तमाशे को बिलकुल ठीक ही समझते हैं। पर वास्तव में वह है सब भ्रम ही।*

इस बात को अच्छी तरह समझाने के लिए श्रीशङ्कराचार्य्य ने इन्द्रजाल के एक अत्यन्त चमत्कार में डालने वाले व्यापार का उल्लेख किया है। वह व्यापार "आकाश में सूत के सहारे चढ़ना" है। † अघटना के घटने का इससे बढ़िया दृष्टान्त और कोई नहीं है।

---

fundamental doctrine of Shankara always remains the same. There is Brahman and nothing else.

Max Müller's Indian Philosophy, p. 199, 201, 202 & 209.

* संस्कृत-साहित्य में कई जगह इन्द्रजाल का उल्लेख है। रामायण में रावण ने अपनी इन्द्रजाल की शक्ति से सीता को रामचन्द्र का कटा हुआ शिर और उनका धनुष दिखा कर धोखा देने की कोशिश की थी। 'रत्नावली' में भी मन्त्री यौगन्धराय के किसी ऐन्द्रजालिक मित्र ने आकाश में ब्रह्मा, इन्द्र आदि देवताओं का दर्शन करा कर दर्शकों को मोह में डाल दिया था और बाद को अग्नि का भय दिखा कर नायिका का उद्धार किया था।

† यह खेल अभी तक खेला जाता है। अभी कुछ दिन हुए कि एक अँगरेज़ ने इस खेल को अपनी आँखों से देख कर एक अँगरेज़ी समाचारपत्र में इसका हाल छपाया था। उसका सार नीचे दिया जाता है। इन्द्रजाल द्वारा अनहोनी बात किस तरह हो जाती है—इस बात का पता इस वृत्तान्त को पाठ करने से लगेगा।

Many stories have been printed of the marvellous magic of the Indian *faqir*, but the *Express* publishes one which it would be difficult to beat. It is interesting to note

पाश्चात्य देशों में कुछ दिनों से हिपनोटिज़्म विद्या की बड़ी उन्नति हो रही है। यह हमारे यहाँ की प्रचलित "यादुविद्या" का

---

that the writer says he saw the trick performed. The narrative is as follows :—We have all heard of the wonderful trick of the Indian *faqirs* whereby a person appears to climb up into the sky on a piece of rope or twine. Yet comparatively few of us have read detailed accounts of the manner in which it is performed. This is probably the greatest trick ever invented, for it is performed in the open—in any field or square. * *

The *faqir's* paraphernalia usually consists of a small boy and a dirty bag filled with a promiscuous jumble of nuts, shells, and what not.

Having selected his site, the *faqir* begins operations by producing a ball of string apparently from nowhere, and, after tossing it about for a while, throws it high into the air retaining the free end of string in his hand. Then up and up goes the ball growing smaller and smaller the higher it goes, until it disappears from observation. To all appearances it has sailed up until it reached the nearest stratum of clouds, vanishing behind them. No sooner has the ball disappeared than the *faqir* lets go the free end of the string, so that you have a line of twine extending from about five feet off the ground to Heaven knows where.

The old man will then begin a very clever little pantomime. He sets to work by yelling and gesticulating wildly, and apparently being much annoyed that the cord, at which he tugs and tugs, remains steadfastly in space. As a last resort he calls the boy, telling him to climb the cord and bring the ball down.

ही रूपान्तर है। हिपनोटिज़्म की परीक्षा बीसियों तरह की गई है। उसके द्वारा भी माया का अघटन-घटन-पटुत्व ख़ूब साबित हो गया है।

Then you will see the spectacle of a lad of twelve or fourteen summers climbing hand over hand up a line of cotton twine about the thickness of a large pin. Up and up, higher and higher, he goes, until he also appears to vanish behind the clouds which hid the ball. When last seen he looks to be just about the size of the ball when it disappeared. Then you have a sample of splendid rage that would make a name for any tragedian, the old man working himself into a perfect fury by yelling, dancing, and gesticulating. "Am I to be made an idiot of by a ball of string and a fool by a broth of a boy? Allah forbid! I will teach them both; they may not trifle with one so old and wise." That is the substance of what he says.

Then he will thrust his arm into his filthy old bag and draw forth the most murderous-looking knife you ever saw, and, placing it between his teeth and grasping the twine in both hands, he deliberately begins to climb up the cord, hand over hand, even as the boy had done before him. And presently he, too, disappears. By that time his audience, European as well as native, are gaping skywards like so many idiots, there is half a minute's absolute silence, followed by an agonising yell so piercing that it makes one's flesh creep merely to think of it. A second after—though it seems an age—a dark object comes hurtling down from the sky, until, with a sickening thud, it lands on the ground a few feet in front of the audience.

When the writer last saw this feat performed an army surgeon formed one of the party, and the medical man

किसी व्यक्ति को 'हिपनोटाइज़' करके यदि जादूगर सङ्कल्प द्वारा उसको भ्रम उत्पन्न कराना चाहे तो सहज ही उसके मन में

---

coolly examined the mass, which proved to be the head of the boy who had climbed the cord. It was severed from the body at about the middle of the neck. A closer scrutiny shows that the face wore a horrible expression, while blood poured from the divided arteries and veins. The twitching of the newly-cut muscles and the wind-pipe, and the cleanly severed joints of the cervical vertibrae were quite plain to the army surgeon and to the rest of the party, all of whom knew a little of anatomy from the field hospital. Presently down came an arm, cut off through the shoulder joint. A moment later the other arm dropped.

The doctor said the *faqir* carved cleverly enough to have been a surgeon at the royal college. Then came one leg, then the other, and finally the trunk. A moment later the old man was seen coming down the string, and when he dropped to the ground from the end of it, it was seen that he was literally covered with gore from head to foot. The knife, still held between his teeth, was fairly dripping with blood. His eyes appeared wilder than ever, his features drawn and he paced back and forth for a fewseconds like a chained tiger.

Then he collected the head, limbs and trunk and tossed them into the old bag. While watching this action his audience lost sight of the string and the knife, and never saw them again. Slinging the bag over his shoulder he walked away. This was only a bluff; he had not yet received any *bakhshish* and he never would depart without that. He had moved off only a few paces when it was plain that something was moving inside the bag.

वह भ्रम सत्यरूप में प्रतीति करा सकता है। प्रायः देखा गया है कि किसी जादूगर ने दूसरे सोते हुए हिपनोटिक व्यक्ति से कहा कि देखो तुम्हारे सामने शेर या साँप खड़ा है—यह सुनते ही वह भय से फ़ौरन् सिकुड़ गया। सख़्त गर्मी में यदि उससे कह दिया जाय कि बड़ा शीत है तो वह काँपने लगता है। यदि उससे

The old man stopped, assumed a surprised expression, put the bag down on the ground and in a moment outcrawled the boy as sound in wind and limb as he had ever been. The boy began to smile, and the old man smiling and *salaming* came forward for his money. This he got in very liberal amount and off he went, leaving his late audience, standing mystified, confused, flabber-gasted.

On looking for traces of the recently committed tragedy, the party became aware that where the ground had been red with blood a moment ago no trace was left. Yet the doctor had picked up and handled the different members of the boy's body as they had come tumbling down from the sky, had examined them, and was perfectly positive that the cutting had been the work of a skilful surgeon or student of anatomy.

There is, as far as the writer is aware, only one way in which people who have witnessed these genuine Hindu *faqir's* tricks account for them. The *faqirs* must mesmerise or hypnotise their audience, placing them in such a mental state that they imagine the whole performance—even the doctor, for instance, being befuddled into believing that he had handled the dismembered limbs. How it is done does not matter. It is the acme of conjuring.

जहाँगीर बादशाह ने भी अपने जीवनचरित्र में इसी तरह के तमाशे की आँखदेखी बात लिखी है।

कह दिया जाय कि बड़ी ज़ोर से वर्षा हो रही है तो वह पानी में भीगे जैसे मनुष्य की आकृति धारण कर लेता है । ऐसी न मालूम कितनी अनहोनी बातें हिपनटिज़्म के द्वारा होती दिखाई देती हैं ।

अद्वैत-वादी कहते हैं कि इसी तरह सङ्कल्प के बल से ब्रह्म माया-शक्ति के द्वारा जीव को जगत् का भ्रम उत्पन्न कराता है । वह ऐन्द्रजालिक चूड़ामणि है; इन्द्रजाल फैला कर जीव को मोहित कर रहा है ।

य एको जालवान् ईशत ईशनीभिः ।
सर्वान् लोकान् ईशत ईशनीभिः ॥ श्वेताश्वतर, ३ । १ ।

'वही सर्वशक्तिमान् मायावी ईश्वर अपनी शक्ति द्वारा जगत् का पालन करता है' ।

दार्शनिकों का विज्ञानवाद या Idealism यही है । इँगलेण्ड में सबसे पहले बर्कले ने इस मत की प्रतिष्ठा की । बाद को ह्यूम मिल आदि विद्वानों ने इसका विस्तार करके इसको बौद्धों के शून्य-वाद जैसा बना दिया । पर अद्वैतवाद शून्यवाद नहीं है । उसके मत में जगत् के भ्रम का आधार शून्य नहीं है—ब्रह्म है । अद्वैत-वादियों के मत में ब्रह्म ही जगत् रूप में विवर्त्तित हो रहा है । दूध जिस तरह विकार प्राप्त हो दही के रूप में परिणत होता है—वह इस तरह नहीं । ब्रह्म का स्वरूप अक्षुण्ण रहता है, उसमें किसी तरह का विकार या परिणाम नहीं होता । उसकी कूटस्थ अवस्था में किसी तरह का परिवर्त्तन या प्रत्यय नहीं होता पर

फिर भी वह जगद् रूप में विवर्त्तित होता है। इसी को "विवर्त्त" कहते हैं ।*

सतत्त्वतोऽन्यथा प्रथाविकार इत्युदीरितः ॥
अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त्त इत्युदाहृतः ॥

शङ्कराचार्य्य ने शून्यवाद का परिहार इस तरह किया है—

न तावद् उभयप्रतिषेध उपपद्यते शून्यवादप्रसंगात् । किञ्चिद्धि परमार्थ-मालम्ब्यापरमार्थः प्रतिषिध्यते यथा रज्ज्वादिषु सर्पादयः ।

अथातो आदेशो नेति नेति इति तत्र कल्पितरूपप्रत्याख्यानेन ब्रह्मणः स्वरूपवेदनमिदमिति निर्णीयते । तदास्पदंहीदं समस्तकार्य्यं नेति नेति, इति प्रतिषिद्धम् । युक्तञ्च कार्य्यस्य वाचारम्भणशब्दादिभ्योऽसत्त्वमिति नेति नेतीति प्रतिषेधम् न तु ब्रह्मणः सर्वकल्पनामूलत्वात् × × × तस्मात्प्रपञ्चमेव ब्रह्मणि कल्पितं प्रतिषेधति परिशिनष्टि ब्रह्मेति निर्णयः ।

अर्थात्, जगत् और उसका कारण दोनों मिथ्या ही नहीं हैं। ऐसा मानने से तो शून्यवाद हो जायगा। कोई वस्तु है ज़रूर। उसको अवलम्बन करके ही तो अवस्तु की प्रतीति हो रही है। 'नेति नेति' कहने से कार्य्य का प्रतिषेध ही किया गया है, कारण का नहीं। क्योंकि कार्य्य ही असत्, कल्पित और कथा मात्र है। जिस तरह रस्सी में साँप का प्रतिषेध होता है। 'नेति नेति'

---

* As the rope is to the snake, so Brahman is to the world. There is no idea of claiming for the rope a real change into a snake and in the same way no real change can be claimed for the Brahman when perceived as the world.

Max Muller's Indian philosophy, p. 209.

यह नहीं, यह नहीं इस उपदेश द्वारा ब्रह्म में कल्पित अवस्तु का प्रत्याख्यान करके उस (ब्रह्म) का स्वरूप बताया गया है। इस कार्य्य का—जिसका आधार ब्रह्म है—ही प्रतिषेध किया गया है। पर ब्रह्म का प्रतिषेध तो हो ही नहीं सकता * क्योंकि वह तो सब कल्पनाओं का मूल है। इसलिए यही स्थिर हुआ कि ब्रह्म में कल्पित यह असत् प्रपञ्च ही बाधित होता है; ब्रह्म (जो सत् वस्तु है) ज्यों का त्यों रहता है।

---

* 'विवर्तवाद' शून्यवाद नहीं है इस बात को शङ्कराचार्य्य ने ब्रह्मसूत्र, ३।१।३ और २।१।१८ के भाष्य में भी सिद्ध किया है।

Creation is not real in the highest sense in which Brahman is real, but it is real in so far as it is phenomenal, for nothing can be phenomenal except as the phenomenon of something that is real. ** All that we should call phenomenal, comprehending the phenomena of our inward as well as of our outward experience, was unreal. But as the phenomenal was considered impossible without the noumenal, that is without the real Brahman, it was in that sense real also, that is, it exists and can only exist, with Brahman behind it. ** It exists through Brahman and would not be at all but for Brahman. ** The danger with Shankara's Vedantism was that what to him was simply phenomenal should be taken for purely fictitious. ** Maya is the cause of phenomenal, not of a fictitious world.

(Max Muller's Indian philosophy, pages 211, 214, 215 and 243.)

Even the apparent and illusory existence of a material world requires a rêal substratum which is Brahman just as the appearance of the snake in the simile requires the real substratum of a rope. ** Buddhist philosophers

तो क्या जगत् स्वप्न की तरह झूठा है ? शङ्कर यह बात भी नहीं मानते । ब्रह्मसूत्र ३।२।१ के भाष्य में वे लिखते हैं—

किं प्रबोध इव स्वप्नेऽपि पारमार्थिकी सृष्टिराहोस्विन् मायामयीति । तस्मात् तथ्यरूपैव संध्ये सृष्टिरिति । एवं प्राप्ते प्रत्याह मायामात्रं तु कार्त्स्न्येना-नभिव्यक्तस्वरूपत्वात् [ब्र० सू० ३।२।३] मायैव संध्ये सृष्टिर्न परमार्थगंधो-ऽप्यस्ति × × तस्मान्मायामात्रं स्वप्नदर्शनम् । × × पारमार्थिकन्तु नायं संध्याश्रयः सर्गो वियदादिसर्गवत् इत्येतावत् प्रतिपाद्यते । न च वियदादि-सर्गस्यापि आत्यन्तिकं सत्यत्वमस्ति । प्रतिपादितं हि "तदनन्यत्वमारम्भण-शब्दादिभ्यः" (ब्र० सू० २।१।१४) इत्यत्र समस्तस्य प्रपञ्चस्य मायामात्रत्वम् । प्राक्तु ब्रह्मात्मत्वदर्शनाद् वियदादिप्रपञ्चो व्यवस्थितरूपो भवति । संध्याश्रयस्तु प्रपञ्चः प्रतिदिनं बाध्येत इति । अतो वैशेषिकमिदं संध्यस्य मायामात्रत्व-मुदितम् ।—३।२।४ सूत्र पर शङ्कर-भाष्य ।

जाग्रत् अवस्था की तरह स्वप्न में भी पारमार्थिक सृष्टि है वा मायामय सृष्टि है ? "स्वप्न में सृष्टि सत्य है" इस मत का खण्डन करते हुए सूत्रकार कहते हैं "मायामात्रन्तु इत्यादि (३।२।३ सूत्र) ।" स्वप्न में जो कुछ दीखता है वह मायिक है उसमें सत्य की गन्ध भी नहीं है । इस लिए स्वप्नदर्शन मायामात्र है । 'स्वप्न का आश्रय करके जो सृष्टि उत्पन्न होती है वह आकाश आदि की सृष्टि की

---

held that everything is empty and unreal and that all we have and know are our perceptions only. ** Shankara himself argues most strongly against this extreme idealism and ** enters into a full argument against the nihilism of the Buddhists. ** The vedantist answers that though we perceive perceptions only, these perceptions are always perceived as perceptions of something.

Max Muller's Indian philosophy, pp. 209-11.

तरह पारमार्थिक नहीं है—यह बात भी सिद्ध हो गई ।' पीछे कहीं इसी बात को लेकर जगत् की सत्यता न मान ली जाय, इसी आशङ्का से शङ्कराचार्य्य आगे लिखते हैं "किन्तु आकाश आदि की सृष्टि बिलकुल सच ही है—यह बात नहीं । सारा प्रपञ्च ही माया-मात्र है २।१।१४ सूत्र में यह बात प्रतिपादन की गई है । बस जाग्रद्सृष्टि और स्वप्नसृष्टि का भेद इतना ही है कि स्वप्नदृष्ट प्रपञ्च रोज़ ही दूर हो जाता है और उसकी असत्यता प्रकट हो जाती है पर आकाश आदि प्रपञ्च ब्रह्म के साथ आत्मा का एकत्व बोध हुए विना दूर नहीं होता । इसलिए स्वप्नसृष्टि विशेष मायिक है ।"

पर शङ्कर के गुरु के गुरु गौड़पाद जगत् को स्वप्नसृष्टि की तरह मिथ्या कहते हैं ।

> अद्वयञ्च द्वयाभासं मनः स्वप्ने न संशयः ।
> अद्वयञ्च द्वयाभासं तथा जाग्रन् न संशयः ॥
> मनो दृश्यमिदं द्वैतं यत् किञ्चित् सचराचरम् ।
> मनसो ह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते* ॥

'स्वप्न में जो द्वैत का भान होता है वह मनःकल्पित है इसमें सन्देह नहीं । जाग्रत् का द्वैत ज्ञान भी ठीक उसी तरह का है । जो कुछ चराचर द्वैत है वह सब मन की ही कल्पना है । मन के अमन होने पर द्वैत ज्ञान नहीं रहता' । इसी के भाष्य में शङ्कराचार्य्य इस तरह लिखते हैं—

नहि स्वप्ने हस्त्यादि ग्राह्यं ग्राहकं चक्षुरादिद्वयं विज्ञानव्यतिरेके नास्ति । जाग्रदपि तथैव । परमार्थसद्विज्ञानमात्राविशेषात् ।

---

*गौड़पादकृत माण्डूक्य उपनिषद् की कारिका, ४ । ३०, ३१ ।

'स्वप्न में ग्राह्य ग्राहक अर्थात् विषय और इन्द्रिय रूप द्वैत की वास्तविक सत्ता नहीं है। वहाँ सिर्फ़ विज्ञान (idea) ही है। जाग्रत् में भी यही बात है। दोनों अवस्थाओं में विज्ञान ही सृष्टि रूप में प्रतीत होता है। यह विज्ञान ही अत्यन्त सत् है।' जगत् में विज्ञान के सिवा और किसी चीज़ की सत्ता नहीं है। विज्ञान ही जगद्-रूप में प्रतीत हो रहा है। गौड़पाद इसी बात को लिखते हैं—

जाग्रच्चित्ते क्षणीयास्ते न विद्यन्ते ततः पृथक्।
तथातादृश्यमेवेदं जाग्रतश्चित्तमिष्यते ॥

गौड़पादकृत माण्डूक्यकारिका ४।६६।

जाग्रत् अवस्था में जगत् चित्त के अनुभव का विषय है। चित्त से अलग उसकी सत्ता नहीं है। यह जो कुछ दीख रहा है यह सब देखने वाले के चित्त के सिवा और कुछ नहीं है। योगवासिष्ठ में भी कई जगह इसी मत की पुष्टि की गई है।

यस्य चित्तमयी लीला जगदेतच्चराचरम्।
मृगतृष्णा तरंगिण्यो यथा भास्करतेजसः।
सर्वो दृश्यदृशो द्रष्टुर्व्यतिरिक्ता न रूपतः ॥

योगवासिष्ठ, उपपत्ति, १४।२१।

यथा स्थितमिदं विश्वं निजभावक्रमोदितम्।
न तत्सत्यं न चासत्यं रज्जुसर्पभ्रमो यथा ॥
मिथ्यानुभूतितः सत्यं असत्यं सत् परीक्षितम् ॥ ४०।४१

'यह चराचर जगत् ब्रह्म के चित्त की सिर्फ़ लीला है। जिस तरह मरीचिका सूर्य्य की किरण के सिवा और कुछ नहीं उसी तरह सब दृश्यदर्शन द्रष्टा के सिवा और कुछ नहीं। यह निखिल विश्व द्रष्टा के भावमात्र से उदय हुआ है। यह, रस्सी में

साँप के भ्रम की तरह सत्य भी नहीं और मिथ्या भी नहीं। जिस समय उसकी अनुभूति होती है वह सत्य मालूम होता है पर परीक्षा करते ही असत्य हो जाता है।'

इसी बात को प्रकाशानन्द ने सिद्धान्तमुक्तावली में इस तरह लिखा है—

> प्रतीतिमात्रमेवैतद् भाति विश्वं चराचरम् ।
> ज्ञानज्ञेयप्रभेदेन यथा स्वप्नं प्रतीयते ।
> विज्ञानमात्रमेवैतद् तथा जाग्रच्चराचरम् ॥
> रज्जुर्यथा भ्रान्तदृष्टया सर्परूपा प्रकाशते ।
> आत्मा तथा मूढ़बुद्धया जगद्रूपः प्रकाशते ॥

'स्थावर और जंगमात्मक जो यह जगत् दीखता है—यह सिर्फ़ प्रतीति * ही है। जिस तरह स्वप्न में दीखा जगत् ज्ञान और ज्ञेय के भेदानुसार भिन्न रूप में प्रतीत होने पर भी विज्ञान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, उसी तरह जाग्रद् दृष्ट चराचर जगत् भी विज्ञान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जिस तरह दृष्टि के भ्रम से रस्सी साँप दिखाई देती है उसी तरह आत्मा भी बुद्धि के मोह से जगद् रूप में प्रतीत होती है।'

अद्वैतवादी जगत् की व्यावहारिक सत्ता अवश्य स्वीकार करते हैं। व्यवहारभाव में जगत् सत्य है—इस बात को मानने में उनको कोई आपत्ति नहीं। किन्तु जगत् यथार्थ में सत् है इस बात को मानने में उनको बड़ी आपत्ति है।† प्राक् ब्रह्मात्मताप्रतिबोधाद्

---

*Its essi is percipi.

† व्यवहार और परमार्थ का भेद जर्मन दर्शन के Noumenon और Phenomenon के साथ बहुत कुछ मिलता है।

उपपन्नः सर्वो लौकिको वैदिकश्च व्यवहारः,—शङ्कर । 'जीव और ब्रह्म का ऐक्यज्ञान जब तक नहीं हुआ है तभी तक लौकिक और वैदिक व्यवहार मालूम पड़ते हैं ।' इस का यह मतलब नहीं कि जगत् परमार्थ में है । शङ्कराचार्य्य कहते हैं 'एकरूपेण ह्यवस्थितो योऽर्थः स परमार्थः' । जो वस्तु सर्वत्र सब समय एक ही रूप में अवस्थित हो वही परमार्थ है, अर्थात् उसका किसी काल में भी रूपान्तर न होता हो । ब्रह्म के सिवा और कोई चीज़ परमार्थ नहीं हो सकती । वही सर्वत्र सर्वदा निर्बाध है । वह एक है और अद्वितीय है । वही परमार्थ है । "एकत्वमेव एवं पारमार्थिकं दर्शयति"—शङ्कर । एकत्व का नाम ही पारमार्थिक और नानात्व का नाम ही व्यावहारिक है ।' पञ्चदशी कहती है,—

> मासाब्दयुगकल्पेषु गतागम्येष्वनेकधा ।
> नोदेति नास्तमायाति संविदेषा स्वयम्प्रभा ॥

'स्वप्रकाशसंविद् (ब्रह्म) किसी समय, किसी मास, वर्ष, युग, कल्प, भूत, भविष्य और वर्त्तमान में उदित वा अस्तमित नहीं होता ।' इसलिए वही एक मात्र परमार्थ है ।

अद्वैतवादी कहते हैं कि सत्य और मिथ्या का लक्षण क्या है ? किस चिह्न के द्वारा हम किसी पदार्थ को सत्य या मिथ्या जानते हैं ? उनके मत में जिसका बाध है वही मिथ्या है और जो अबाध है वही सत्य है ।*

---

* पाश्चात्य दार्शनिक हर्बर्ट स्पेन्सर ने भी अपने First Principles नामक ग्रन्थ में सत्य और मिथ्या का ऐसा ही लक्षण किया है । जो Persistent (निर्बाध) है वही सत्य है ।

रास्ते में रस्सी के टुकड़े को अँधेरे में पड़ा देख कर हमने उसको सर्प समझा और हम डरके मारे भागने को तैयार हो गये। उसी समय एक बटोही दीपक हाथ में लिये उधर आ निकला। उस दीपक के प्रकाश में हम को मालूम हुआ कि जिसको हम सर्प समझे थे वह वास्तव में रस्सी है। उस समय हमारा डर जाता रहा। इस तरह हमारा सर्प-भ्रम रस्सी-ज्ञान द्वारा बाधित हुआ। अतएव, इस जगह हमारी सर्पानुभूति मिथ्या हुई।

और एक रोज़ फिर हमने देखा कि एक अजगर बहुत से मेंढकों को खा रहा है। बहुत देर तक देखते रहे पर सर्पराज अपना काम उसी तरह करते रहे। बाद को उन्होंने हमारे ऊपर भी दृष्टि डाली। हमारे हाथ में उस समय लाठी थी। हम भी उस को सम्भाल कर लड़ने के लिए तैयार हो गये। पर सर्पदेव झट भाग गये। यहाँ हमारा सर्प-ज्ञान किसी चीज़ से बाधित नहीं हुआ। इसलिए यह सत्य हुआ।

सत्य और मिथ्या का यह साधारण परिचय है। इसमें कुछ विशेष भी है। हम भूत भविष्य और वर्त्तमान इन तीनों कालों के साथ परिचित हैं। कोई चीज़ आज तो है पर कल नहीं है, तो क्या हम उसको सत्य कहेंगे? कोई चीज़ एक मास पहले नहीं थी और आज हो गई तो क्या उस को कोई सच कहेगा? हमारा देह कुछ वर्ष पहले नहीं था और कुछ वर्ष बाद यह रहेगा भी नहीं तो फिर यह सत्य है वा मिथ्या? आगरे का ताजमहल जो आज हमारा नयन-विनोदन कर रहा है अकबर के समय में नहीं था और बहुत सम्भव है कि एक हज़ार वर्ष बाद किसी बादशाह के राज्य में

वह रहे भी नहीं, तब क्या इस ताजमहल को सत्य कहें ? अद्वैत-वादियों के मत में जो तीन कालों में निर्बाध नहीं है अर्थात् जिस पदार्थ का भूत, भविष्य वा वर्त्तमान में बाध हो जाता है वह सत्य नहीं मिथ्या है।

और भी एक बात है। मनुष्य की चार अवस्थाएं हैं, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय। जो चीज़ हम जाग्रत् में देखते हैं वह स्वप्न या सुषुप्ति में दिखाई नहीं देती। स्वप्न में जो कुछ देखते हैं वह जाग्रत् और सुषुप्ति में दिखाई नहीं देती। अद्वैतवादी कहते हैं कि जो वस्तु जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय इन चारों अवस्थाओं में निर्बाध रहती है वही सत्य है वही परमार्थ है। सिर्फ़ ब्रह्म में ही यह लक्षण घटता है। इसलिए ब्रह्म ही सत्य है और सब मिथ्या है।

जब जगत् माया मात्र, काल्पनिक और असत्य है तो अद्वैत मत में सृष्टि की बात ही नहीं उठती। क्योंकि जिसके सिर नहीं उसके सिर में दर्द कहाँ से हो ? अतएव जगत् की सृष्टि "राहु के शिर" जैसी बात है।*

शङ्कराचार्य्य कहते हैं,—

ब्रह्मव्यतिरेकेन कार्य्यजातस्याभावः। विकारजातस्यानृताभिधानात् × × × मिथ्याज्ञानविजृम्भितनानात्वम्।—२।१।१४ सूत्र पर भाष्य।

---

* The fact being that strictly speaking there is with the Vedantists no matter at all in our sense of the word. Creation in our sense cannot exist for the Vedantist. The effect is always supposed to be latent in the cause Hence Brahman is everything and nothing exists besides Brahman. Max Muller's Indian Philosophy.

'ब्रह्म के सिवा और कुछ नहीं है। कार्य्य विकार असत्य है वह मिथ्या ज्ञान का विजृम्भण है।' तो भी व्यावहारिक भाव में, शास्त्र में जगत् की सृष्टि स्थिति की बात कही गई है। इस मत में ब्रह्म ही जगत् का उपादान और निमित्त कारण है। सांख्यवादी प्रकृति को जगत् का जो स्वाधीन कारण मानते हैं वह ठीक नहीं है।*

ब्रह्म के सिवा और कुछ नहीं है। जो जगत् का भ्रम हो रहा है उसमें भी ब्रह्म के नाम रूप का ही भेद है। जगत् में जो कुछ है वह ब्रह्म के सिवा और कुछ नहीं †। जिस तरह बाली. कुण्डल और कड़े नाम रूप से भिन्न भिन्न मालूम होते हैं पर रसायन दृष्टि से वे सब सुवर्ण ही हैं; इसी तरह यह विविधवैचित्र्य-मय जगत् भी ब्रह्म के सिवा और कुछ नहीं है। सिर्फ़ नाम रूप का भेद है। किसी का नाम हार है, किसी का कुण्डल है और किसी का पर्वत है। किसी का नदी है। हार का रूप और है—कुण्डल का और है, पर्वत का और है और नदी का और है—बस यही भेद है।

---

* ईक्षतेर्नाशब्दम्, इस ब्रह्मसूत्र के भाष्य में और २।१।१४ सूत्र के भाष्य में शङ्कराचार्य्य ने यह विषय विस्तारपूर्वक लिखा है। 'नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्व-रूपात् सर्वज्ञात् सर्वशक्तेरीश्वरात् जगज्जनिस्थितिप्रलयानाचेतनात् प्रधानात् अन्यस्माद्वा।'

† The substance of the world can be nothing but Brahman. It exists through Brahman and would not be at all but for Brahman. Max Muller's Indian Philosophy.

नाम और रूप का भेद है, वस्तु में कोई भेद नहीं। हार और कुण्डल में नाम रूप का ही भेद है वस्तु में दोनों सुवर्ण ही हैं। इसी तरह जगत् के सब पदार्थों में जो भेद है वह नाम और रूप का ही है। किसी का कुछ ही नाम क्यों न हो और किसी का कुछ ही रूप क्यों न हो है सब ब्रह्म ही ब्रह्म। क्योंकि जगत् में ब्रह्म के सिवा और कुछ नहीं है। इसी लिए कहा भी गया है,—

वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिका इत्येव सत्यम्।

छान्दोग्य, ६।१।४

"वाक्य की योजना और नाम का भेद। मिट्टी—यही सत्य है।"

अनेनैव जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत्।

छान्दोग्य, ६।३।२।

'वह (ब्रह्म) जीव रूप में प्रविष्ट हो कर नाम और रूप का भेद-साधन कर रहा है।'

तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत। बृहदारण्यक, १।४।७।

उसने नाम और रूप से भेद उत्पन्न किया है।

आकाशो वै नामरूपयोर्निर्वहिता। छान्दोग्य, ८।१४।१

'आकाश (ब्रह्म) ही नाम रूप का निर्वाहक है।'

अद्वैतमत में जीव और जड़ जगत् दोनों ही असत्य हैं। दोनों की अविद्या-जनित व्यावहारिक (Phenomenal) सत्ता है, पारमार्थिक (Real) सत्ता नहीं है।* शङ्कराचार्य्य कहते हैं कि

---

† The soul and the world both belong to the realm of things which are not real and have little if any thing to do with the true Vedanta. It rests chiefly on the

सूत्रकार का अभिप्राय भी यही है । इसीलिए उन्होंने पारमार्थिक-भाव में जीव और जड़ जगत् की असत्ता और व्यावहारिक भाव में दोनों की सत्ता प्रतिपादन की है ।

"सूत्रकारोऽपि परमार्थाभिप्रायेण 'तदनन्यत्वम्' इत्याह । व्यवहाराभिप्रायेण तु "स्याल्लोकवत्" इति महासमुद्रस्थानीयतां ब्रह्मणः कथयति ।" २।१।१४ सूत्र पर शाङ्करभाष्य ।

हमने देखा कि अद्वैत मत में ईश्वर वा सगुण ब्रह्म की भी पारमार्थिक सत्ता नहीं है । उनकी सत्ता भी सिर्फ़ व्यावहारिक (Phenomenal) है ।*

अद्वैतमत में जब जीव और ब्रह्म में कोई भेद नहीं—जीव ही ब्रह्म है तब उसमें भक्ति की गुञ्जाइश नहीं । क्योंकि भक्त

---

tremendous Synthesis of subject and object, the identification of cause and effect, of the I and the It.

If there is but one Brahman and nothing beside it, × how then are we to account for the manifold? It can therefore be due only to what is called Avidya, nescence. Max Muller's Indian Philosophy p. 223.

* श्री शङ्कराचार्य्य २ । १ । १४ सूत्र के भाष्य में लिखते हैं,—

एवमविद्याकृतनामरूपोपाध्यनुरोधी ईश्वरो भवति, व्योमेव घटकरकाद्युपाध्यनुरोधि । स च स्वात्मभूतान् एव घटाकाशस्थानीयान् अविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपकृतकार्य्यकारणसंघातानुरोधिनो जीवाख्यान् विज्ञानात्मनः प्रतीष्टे व्यवहारविषये । तदेवमविद्यात्मकोपाधिपरिच्छेदापेक्षमेव ईश्वरस्य ईश्वरत्वं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तिमत्वञ्च; न परमार्थतो विद्ययापास्तसर्वोपाधिस्वरूप आत्मनि ईशित्रीशितव्यसर्वज्ञत्वादिव्यवहार उपपद्यते । × × परमार्थावस्थायां ईशित्रीशितव्यादिव्यवहाराभावः प्रदर्श्यते । व्यवहारावस्थायां श्रुतावपि ईश्वरव्यवहार एष सर्वेश्वर एष भूताधिपति इत्यादि ।

और भजनीय के अलग अलग हुए बिना भक्ति का उन्मेष नहीं हो सकता। इसीलिए अद्वैतवादी निश्चलदास अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'विचारसागर' के आरम्भ में शिष्ट-प्रणाली के अनुसार नमस्कार करने के लिए बड़े झंझट में पड़ गये। वे कहते हैं जब मैं ही वह हूँ, जब,—

अब्धि अपारस्वरूप मम, लहरी विष्णु महेश।
विधि रवि चंदा वरुण यम, शक्ति धनेश गणेश॥

'जिस समुद्र की ब्रह्मा, विष्णु, हर, सूर्य्य, चन्द्र, वरुण, यम, शक्ति, कुबेर और गणेश आदि सिर्फ़ लहरें हैं वह समुद्र मैं ही स्वयं हूँ।' तब "का कूं करूं प्रणाम।" यदि कहो कि जीव और ईश्वर में व्यावहारिक भेद तो है, उसी का आश्रय लेकर ईश्वर को प्रणाम करो, तो यह बात भी सम्भव नहीं। क्योंकि,—

जा कृपालु सर्वज्ञ को हिय धारत मुनि ध्यान।
ताको होत उपाधि तें मो में मिथ्या भान॥

'मुनिगण, जिस कृपालु सर्वज्ञ (ईश्वर) का ध्यान करते हैं, उसका मुझ ही में उपाधि-दोष से मिथ्या भान हो रहा है।' यह सब सोच समझ कर निश्चलदास ने किसी को प्रणाम नहीं किया।

किन्तु भक्ति का अवसर न होने पर भी अद्वैतवाद में उपासना का स्थान है। पर हम उपासना का जो अर्थ समझते हैं, उस उपासना का अर्थ वह नहीं है। अद्वैतवादी का उपासना "एक प्रकार का विशेष चिन्तन" है। उपासना तीन प्रकार की है,—अङ्गावबद्ध प्रतीक और अहङ्ग्रह। साधक यज्ञ के अङ्गों में भी

ब्रह्म की भावना कर सकता है। "इदं उद्‌गीथं ब्रह्म इत्युपासीत" 'इस उद्‌गीथ (यज्ञ का अङ्ग विशेष) की ब्रह्म-रूप से उपासना करो।' यह हुआ अङ्गावद्ध उपासना का उपदेश। इसी तरह— "लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत" (छान्दोग्य, २।८।१) इत्यादि बहुत से उपदेश उपनिषद् में दिखाई पड़ते हैं। गीता इसी तरह की उपासना को लक्ष्य कर के कहती है,—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्म्मसमाधिना॥

जो पुरुष, यज्ञपात्र को, अग्नि को, यजमान को, होमक्रिया को ब्रह्म समझता है, इस प्रकार ब्रह्म में ही जिसकी एकाग्रता हो गई है उसको ब्रह्म-प्राप्ति रूप ही फल मिलता है।

दूसरी—प्रतीक उपासना है। "मनो ब्रह्म इत्युपासीत" "आदित्यो ब्रह्म इत्युपासीत" "मन को ब्रह्म जान कर उपासना करो।" "सूर्य्य को ब्रह्म जान कर उपासना करो।" इत्यादि प्रतीक उपासना के उपदेश हैं। छान्दोग्य उपनिषद् के सातवें अध्याय में और अन्य स्थलों में भी ऐसे अनेक उपदेश दिये गये हैं। प्रतीक-उपासना का मर्म्म यही है कि जो ब्रह्म नहीं है उसको ब्रह्म समझना।

अद्वैत वादी कहते हैं यह ठीक नहीं है। उनके मत में 'अहङ्ग्रह' ही असली उपासना है। आत्मा ब्रह्म से अभिन्न है—"सोहं" "अहं ब्रह्मास्मि" इत्यादि भाव की साधना करने को ही (अहङ्ग्रह) उपासना कहते हैं। "तत्त्वमसि" "अयमात्मा ब्रह्म" इत्यादि श्रुति-वाक्यों में इस उपासना का उपदेश दिया गया है।

आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च।
न प्रतीके नहि सः॥
ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात्।
आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्तेः॥ ब्रह्मसूत्र, ४।१।३—६।

इसीलिए न्यायमाला में भी कहा है,—

वास्तवविरोधाभावाद् आत्मत्वेनैव ब्रह्म गृह्यताम्।

'चूंकि आत्मा और ब्रह्म अभिन्न हैं इसलिए आत्मा ही ब्रह्म है—यह भावना करो।'

शङ्कराचार्य्य लिखते हैं,—

आत्मेत्येव परमेश्वरः प्रतिपत्तव्यः यत्तूक्तं न विरुद्धगुणयोरन्योऽन्यात्मत्व-संभव इति। नायं दोषः। विरुद्धगुणताया मिथ्यात्वोपपत्तेः।
४।१।१३। सूत्र पर भाष्य।

आत्मा को परमेश्वर ही समझना चाहिए। जो कहो कि ईश्वर और जीव में विरुद्ध गुण होने के कारण एकता नहीं हो सकती तो इसका उत्तर यही है कि वे विरुद्ध गुण मिथ्या (मायिक) हैं।

जब यह भावना अभ्यास के कारण दृढ़ और निश्चलभाव धारण करती है उस समय जीव ब्रह्म की अपरोक्ष अनुभूति के कारण जीवन्मुक्त होजाता है। क्योंकि,—

तं यथायथोपासते तदेव भवति।

श्रुति कहती है कि 'जो जिसकी उपासना करता है वह वैसा ही हो जाता है।' इसलिए ब्रह्म-चिन्ता करते करते ब्रह्म की अवश्य प्राप्ति हो जाती है। इस तरह ब्रह्म की प्राप्ति हो जाने पर तत्त्वज्ञानी

जीवन्मुक्त के समस्त सञ्चित कर्म्मों का * विनाश और क्रियमाण कर्म्मों का क्षय हो जाता है। इसके विषय में श्रुति इस प्रकार कहती है,—

यथा पुष्करपलाशे आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म्म न श्लिष्यते। तद्यथा ईषिकातूलम् अग्नौ प्रोतं प्रदूयेत एवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते। सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्ते। उभे उ हैवेष एते तरति।

'जिस तरह कमल के पत्र को जल स्पर्श नहीं करता उसी तरह तत्त्वज्ञानी को पाप स्पर्श नहीं करता।'

'जिस तरह बाँस अग्नि में भस्म हो जाता है उसी तरह तत्त्व-ज्ञानी के सब कर्म्म दग्ध हो जाते हैं।'

'तत्त्वज्ञानी पाप और पुण्य दोनों को तर जाता है।'

केवल प्रारब्ध कर्म्मों को भोगने के लिए तत्त्वज्ञानी शरीर धारण किये रहता है। क्योंकि प्रारब्ध कर्म्मों का बिना भोग के क्षय नहीं होता। इस भोग के बाद जिस समय उसका शरीर छूटता है उस समय वह ब्रह्म के साथ एकीभूत हो जाता है।

तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येथ संपत्स्ये।

जीवन्मुक्त को उतनी ही देर लगती है जितने दिनों में उसके प्रारब्ध का क्षय नहीं होता। बाद को वह ब्रह्म में लीन हो ही जाता है।'

साधारण जीवों की देह-नाश के बाद उत्क्रान्ति होती है।

---

* तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्।
इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु।
अनारब्धकार्य्ये एव तु पूर्वे तदवधेः। ब्रह्मसूत्र, ४।१।१३–१५ सूत्र।

अर्थात् वे सूक्ष्म देह को अवलम्बन करके दूसरे लोकों को प्राप्त होते हैं । वेदान्त-दर्शन के चौथे अध्याय के द्वितीय पाद में इस उत्क्रान्ति की प्रणाली और प्रकार का वर्णन है । साधारण कर्म्मी दक्षिण मार्ग में धूमयान द्वारा गमन करते हैं । कर्म्मानुसार पाप-पुण्य को भोग कर उन लोकों से फिर उनको पृथ्वी पर आना पड़ता है । पर जो उच्च साधक हैं, सगुण ब्रह्म के उपासक हैं, वे उत्तर मार्ग से देवयान द्वारा सूर्य-मण्डल में प्राप्त होते हैं । वहाँ से वे क्रमशः ब्रह्मलोक में पहुँचते हैं । उन को फिर इस मर्त्य-भूमि पर आना नहीं पड़ता ।

सत्यलोक में पहुँचने पर वे स्वराज्य-सिद्धि के अधिकारी होते हैं और अनेक ऐश्वर्य्य भोग करते हैं । *

आप्नोति स्वाराज्यं आप्नोति मनसस्पतिं सर्व देवास्तस्मै बलिमाहरन्ति ।
सङ्कल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ते । सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ॥
मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते य एते ब्रह्मलोके ।
एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा नवधा भवति ।

'वह स्वराट् होता है, मन का अधिपति होता है । समस्त देवता उसको बलि-प्रदान करते हैं ।'

'सङ्कल्प मात्र से ही पितृगण उसके पास आ पहुँचते हैं ।'

'वह जहाँ चाहे इच्छा मात्र से जा सकता है ।'

'ब्रह्मलोक में इच्छा मात्र से सब कामनाओं को सिद्ध करता हुआ रमण करता है, अपनी इच्छा से वह कायव्यूह निर्माण करके एक वा एक से अधिक रूपों में विराज सकता है ।'

---

* उन को सृष्टि स्थिति संहार के सिवा और सब ऐश्वर्य्यों की प्राप्ति होती है । जगद्व्यापारवर्ज्जम् प्रकरणाद् असन्निहितत्वाच्च । ब्रह्मसूत्र, ४ । ४ । १७

इस सत्यलोक में सगुण ब्रह्मोपासक क्रमपूर्वक तत्त्वज्ञान प्राप्त करते हैं, और महाप्रलय-काल में जब ब्रह्मा के दिन का अवसान होता है तब ब्रह्मा के साथ वे भी परब्रह्म में विलीन हो जाते हैं। इसी को क्रम-मुक्ति कहते हैं।

ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे ।
परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम् ॥

'प्रलयकाल में, तत्त्वज्ञान को प्राप्त हो कर कृतार्थ हुए वे ब्रह्मा के साथ कल्प के अवसान में परम पद को प्राप्त होते हैं।'

किन्तु जो जीवन्मुक्त हैं, निर्गुण ब्रह्म के उपासक हैं, प्राण-त्याग होने के बाद उनकी उत्क्रान्ति नहीं होती।

न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति अत्रैव समवनीयन्ते ।

'उस (ब्रह्मज्ञानी) के प्राण उत्क्रमण नहीं करते, यहीं विलीन हो जाते हैं।' उसके सम्बन्ध में श्रुति कहती है,—

एष सम्प्रसादोऽस्मात् शरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरूपं सम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते ।

'यह जीव इसी शरीर से उत्थित होकर परम ज्योति को लाभ करता है और फिर अपने स्वरूप में अवस्थित होता है।'

श्रीशङ्कराचार्य्य ने इस तरह सगुण और निर्गुण साधना के फल के तारतम्य का निर्देश किया है,—

ये सगुणब्रह्मोपासनात् सहैव मनसा ईश्वरसायुज्यं व्रजन्ति × × × जगदुत्पत्तिव्यापारं वर्ज्जयित्वा अन्यद् अणिमाद्यैश्वर्य्यं मुक्तानां भवितुमर्हति ।

"साधक गण सगुण ब्रह्म की उपासना के फल से मन के साथ ईश्वर का सायुज्य लाभ करते हैं। मुक्तों को अणिमादि-सिद्धियों की

प्राप्ति होती है । केवल जगत् की सृष्टि स्थिति और लय के सम्बन्ध में उनको कोई अधिकार नहीं मिलता ।"

इस तरह साधक की उल्लिखित क्रम से क्रम-मुक्ति होती है।

विदुष ऐकान्तिकी कैवल्यसिद्धिः ।—३ । ३ । ३३ सूत्र ।

'ब्रह्मज्ञानी की ऐकान्तिक कैवल्यसिद्धि (विदेहमुक्ति) होती है।'

इसलिए विद्या ही एक पुरुषार्थ है।

पुरुषार्थोऽतःशब्दादिति बादरायणः । ३ । ४ । १ सूत्र ।

अर्थात्, अद्वैत मत में, निर्गुण उपासना—जिसके द्वारा ब्रह्मज्ञान सिद्ध होता है—ही श्रेष्ठ है ।

क्योंकि निर्गुण साधक की क्रममुक्ति नहीं होती; जीवन्मुक्ति के बाद देहपात होने पर उसकी एक साथ विदेहमुक्ति होती है। उस समय वह ब्रह्म के साथ अभिन्न हो जाता है।

अविभागो लोकवत् । ब्रह्मसूत्र, ४ । २ । १६ ।

अविभागेन दृष्टत्वात् । ४ । ४ । २ ।

इसके भाष्य में भी शङ्कराचार्य्य लिखते हैं,—

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति । एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम (कठ, ४ । १५) इति चैवमादीनि मुक्तस्वरूपनिरूपणपराणि वाक्यानि अविभागमेव दर्शयति । नदीसमुद्रादिनिदर्शनानि च ।

जिस तरह साफ़ पानी बर्तन में रखने से साफ़ ही रहता है, हे गौतम, तत्त्वज्ञानी मुनि की आत्मा भी इसी तरह होती है। कठ उपनिषद् में यह वाक्य और अन्यान्य श्रुतिवाक्य (जिनसे मुक्त आत्मा का स्वरूप निरूपण किया गया है) मुक्त जीव और ब्रह्म का एकत्व प्रतिपादन करते हैं । नदी और समुद्र के दृष्टान्त

द्वारा भी (नदी समुद्र में मिल कर जिस तरह एक हो जाती है) इसी तत्त्व का उपदेश दिया जाता है ।

श्रुति में अन्यत्र लिखा है,—

भिद्येते चासां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते स एष अकलोऽमृतो भवति । प्रश्न, ६ । ५ ।

मुक्त जीव ब्रह्म में लीन हो कर अपना नाम रूप खो देता है । उस समय वही (मिलन का आस्पद) पुरुष, इसी तरह वर्णित होता है । "वही जीव अकल (कला —अवयव-हीन), और अमृत (मृत्युहीन) हो जाता है ।"

इसी अवस्था को लक्ष्य करके ही श्रुति कहती है,—

"ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति ।"

'ब्रह्म को जाननेवाला ब्रह्म ही हो जाता है ।'*

अद्वैत वादी की यही मुक्ति है ।

---

* मुक्त स्वरूपं ब्रह्माभिन्नम् । न्यायमाला, ४ । ४ । ४ ।

न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद् विभक्तं यत्पश्येत् । बृह०, ४ । ४ । २३ ।

'मुक्त का स्वरूप ब्रह्म से अभिन्न है ।'

'उसके सिवा, ब्रह्म से अलग, दूसरी कोई चीज़ नहीं, जिसकी वह इच्छा करे ।

तेरहवाँ अध्याय।

वेदान्त-दर्शन।

विशिष्टाद्वैत मत।

विशिष्टाद्वैत मत अनेक विषयों में अद्वैत मत का विरोधी है। अद्वैत मत में ब्रह्म का स्वरूप—जैसा कि पहले अध्याय में वर्णन हो चुका है—निर्विकल्प, निर्गुण और समस्त विशेषणों से रहित माना गया है। श्रीरामानुजाचार्य्य ने इस मत का पूर्वपक्ष के रूप में खण्डन करके अपने मत का इस तरह प्रचार किया है कि श्रुति और स्मृतियों में समस्त दोषों से रहित सगुण ब्रह्म को मानना ही ठीक है।

यतः सर्वत्र श्रुतिस्मृतिषु परं ब्रह्मोभयलिङ्गम् उभयलक्षणमभिधीयते; निरस्तनिखिलदोषत्वकल्याणगुणाकरत्वलक्षणोपेतमित्यर्थः। श्रीभाष्य, ३। २। ११।

रामानुज ने इस तरह पूर्व्वपक्ष स्थापित किया है,—

ननु च सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेत्यादिभिर्निर्विशेषप्रकाशैकस्वरूपं ब्रह्मावगम्यते, अन्यत्तु सर्वज्ञत्वसत्यकामत्वादिकं नेति नेतीत्यादिभिः प्रतिषिद्ध्यमानत्वेन मिथ्याभूतमित्यवगन्तव्यं तत्कथं कल्याणगुणाकरत्वनिरस्तनिखिल दोषत्वरूपोभयलिङ्गत्वं ब्रह्मण इति तत्राह। श्रीभाष्य, २। ३। १४–१७।

कोई कोई कहते हैं कि 'ब्रह्म सत्य स्वरूप ज्ञानस्वरूप और अनन्त है' इत्यादि वाक्यों से निर्विशेष स्वप्रकाश ब्रह्म को बताया

है। फिर श्रुति में जब ब्रह्म को 'नेति नेति' वाक्य से निर्देश किया है और इसके द्वारा उसका सर्वज्ञत्व, सत्यसङ्कल्पत्व, जगत्कारणत्व, अन्तर्यामित्व, सत्यकामत्व इत्यादि सगुण भावों का निषेध किया है—तब वह भाव ठीक नहीं यही जाना जाता है। तब वह समस्त दोषों से रहित है और कल्याण गुणों का स्थान है—उसके ये दो लिङ्ग—किस तरह सिद्ध होंगे ?

इस तरह पूर्वपक्ष स्थापित करके रामानुजाचार्य्य ने अपने मत की प्रतिष्ठा की है। उन्होंने ब्रह्म को--श्रुति स्मृति में सब जगह उभयलिङ्ग रूप में (यह कि वह सब दोषों से रहित है और वह कल्याण गुणों का आकर है इन दोनों लक्षणों से युक्त) सिद्ध किया है।

इससे मालूम हुआ कि शङ्कर के मत में निर्गुण ब्रह्म सत्य है सगुण नहीं और रामानुजाचार्य्य के मत में सगुण सत्य है निर्गुण नहीं।

विशिष्टाद्वैतवादी कहते हैं कि निर्विशेष ब्रह्म का कोई प्रमाण नहीं, सविशेष ब्रह्म ही प्रामाणिक है।* ब्रह्म सदा माया-विशिष्ट है।

मायिनन्तु महेश्वरम्। श्वेताश्वतर उपनिषद्।

रामानुज की भाषा में ब्रह्म 'निखिल-हेय-प्रत्यनीक' और

---

*किञ्च सर्वप्रमाणस्य सविशेषविशेषतया निर्विशेषवस्तुनि न किमपि प्रमाणं समस्ति, निर्विकल्पप्रत्यक्षेऽपि सविशेषमेव प्रतीयते। सर्वदर्शनसंग्रह में रामानुजदर्शन।

अग्रेऽपि मायाशबलमेव ब्रह्म अतश्च सर्वदा विशिष्टमेव इति सिद्धम्। तर्हि सर्वदा सविशेषमेव इति सिद्धम्। वेदान्ततत्त्वसार।

"कल्याण-गुणगणाकर" है। ब्रह्म को निर्गुण कहने का तात्पर्य यही है कि उसमें प्राकृत हेय गुण का लेश भी नहीं है। *

> वासुदेवः परं ब्रह्म कल्याणगुणसंयुतः ।
> कैवल्यदः परं ब्रह्म विष्णुरेव सनातनः ॥

इत्यादिभिर्निखिलहेयप्रत्यनीकत्वं कल्याणगुणगणाकरत्वञ्च अवगम्यते ।

> सत्त्वादयो न सन्तीशे यत्र च प्राकृता गुणाः ।
> सगुणो निर्गुणो विष्णुर्ज्ञानगम्यो ह्यसौ स्मृतः ॥
> न हि तस्य गुणाः सर्वे सर्वैर्मुनिगणैरपि ।
> वक्तुं शक्या वियुक्तस्य सत्त्वाद्यैरखिलैर्गुणैः ॥

"एष आत्माऽपहतपाप्मा" "पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते" "तत्त्वं नारायणः परम्" इत्यादिश्रुतिस्मृतिभिर्नारायणस्यैव परतत्त्वं दिव्यकल्याण-गुणयोगेन सगुणत्वं प्राकृतहेयगुणरहितत्वेन निर्गुणत्वमिति विषयभेदवर्णनेनैक-स्यैवावगमाद् ब्रह्म द्वैविध्यं दुर्वचनमिति दिक् । वेदान्ततत्त्वसार ।

'कल्याण-गुण-युक्त वासुदेव ही परब्रह्म हैं, मुक्ति-दाता सनातन विष्णु ही परब्रह्म हैं।' इत्यादि वाक्यों से भगवान् कल्याण-गुणों के आधार हैं और हेयगुणों से शून्य हैं यही बात सिद्ध होती है। नीचे लिखे श्रुति और स्मृति-वाक्यों से नारायण ही परतत्त्व हैं, वे ही दिव्य कल्याण गुणों के संयोग से सगुण और प्राकृत हेय गुणों के वियोग से निर्गुण हैं, अर्थात् वही एक ब्रह्म वस्तु सगुण और निर्गुण है यह बात सूचित होती है। ब्रह्म दो प्रकार का है—यह बात संगत नहीं है। इस विषय में श्रुतिस्मृतिवाक्य—जैसे, "विष्णु ही सगुण निर्गुण हैं—वे ही ज्ञानगम्य हैं।"

---

* निर्गुणवादाश्च प्राकृतहेयगुणनिषेधविषयतयाव्यवस्थिताः ॥

सर्वदर्शन संग्रहः ।

'वे सत्वादि अखिलगुणों से युक्त हैं। उनके सब गुणों का वर्णन मुनि भी नहीं कर सकते।' "परमात्मा पाप-स्पर्श से हीन है।" 'उनकी अनेक परा शक्तियाँ है।' "नारायण ही पर तत्त्व हैं" इत्यादि ।*

---

* With Ramanuja also, Brahman is the highest reality, Omnipotent, Omniscient; but this Brahman is at the same time full of compassion or love × × According to Ramanuja, Brahman is not *nirguna*—without quality. Such quality as intelligence, power and mercy are ascribed to him; while with Shankara even intelligence was not a quality of Brahman, but Brahman was pure thought and pure being. Besides these qualities Brahman is supposed to possess as constituent elements, the material world and the individual souls, and to act as the unward rules (antaryamin) of them. Hence neither the world nor the individual souls will ever cease to exist. All that Ramanuja admits is that they pass through different stages as Avyakta or Vyakta. × × Brahman is to be looked on and worshipped as a personal God, the creator and ruler of a real world. Thus Iswara, the Lord is not to be taken as a phenomenal God and the difference between Brahman and Iswara vanishes as much as the difference between a qualified and an unqualified Brahman. Max Muller's Indian Philosophy pp. 245, 247-248.

Ramanuja's Brahman is always one and the same and according to him, the knowledge of Brahman is likewise but one; but his Brahman is in consequence hardly more than an exalted Iswara. He is able to perform the work of creation without any help from Maya or Avidya. *Ibid* p. 251.

विशिष्टाद्वैत मत में ब्रह्म ही जगत् के कर्त्ता और उपादान हैं ।

वासुदेवः परं ब्रह्म कल्याणगुणसंयुतः ।
भुवनानामुपादानं कर्त्ता जीवनियामकः ॥

'कल्याण गुण से युक्त वासुदेव ही परब्रह्म है । वह समस्त भुवनों का उपादान, कर्त्ता और अन्तर्य्यामी रूप से जीवों का नियामक है ।

अर्थात्, ईश्वर ही जगत् का उपादान और निमित्त कारण है । उसी से जगत् की उत्पत्ति, उसी से जगत् की स्थिति और उसीसे जगत् का लय होता है ।

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति । तत् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म ।

अर्थात् "जिससे जगत् की सृष्टि, स्थिति और लय निष्पन्न होता है वही ब्रह्म है ।" यही ब्रह्म का लक्षण है । इसलिए सूत्रकार बादरायण सूत्र बनाते हैं,—

जन्माद्यस्य यतः । ब्रह्मसूत्र, १।१।२।

जिससे जगत् की जन्म आदि सिद्धि होती है—वही ब्रह्म है ।

यतो यस्मात् सर्वेश्वरात् निखिलहेयप्रत्यनीकस्वरूपात् सत्यसंकल्पाद्यनवधिकातिशयासंख्येयकल्याणगुणात् सर्वज्ञात् सर्वशक्तेः पुंसः सृष्टिस्थितिप्रलयाः प्रवर्त्तन्त इति सूत्रार्थः । सर्वदर्शनसंग्रह ।

इसका अर्थ 'जो सर्वेश्वर सकल हेय गुणों के विपरीत हैं । सत्यसंकल्प आदि निरतिशय अनेक कल्याण गुणों के आकर हैं, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् उसी पुरुष से सृष्टि स्थिति और प्रलय साधित होती हैं, वही परब्रह्म है ।'

अद्वैत वादी इसको ब्रह्म का तटस्थलक्षण कहते हैं। और "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" यही उनके मत में ब्रह्म का स्वरूपलक्षण है। विशिष्टाद्वैतवादी तटस्थ और स्वरूप लक्षण का भेद स्वीकार नहीं करते हैं। वे कहते हैं ब्रह्म का यही प्रकृत लक्षण है।

विशिष्टाद्वैत मत में ईश्वर जीव और जड़ ये तीन पदार्थ हैं।

द्रव्यं द्वेधा विभक्तं जडमजडमिति × × तत्र जीवेशभेदात्।

'द्रव्य दो प्रकार का है, जड़ और अजड़। अजड़ अर्थात् चित् के भी दो भेद हैं—जीव और ईश्वर।

अद्वैत-वादी जो कहते हैं कि ब्रह्म ही एक मात्र परमार्थ है और जीव और जगत् प्रपञ्च रज्जु-सर्प की तरह अविद्या की परिकल्पना मात्र है—विशिष्टाद्वैतवादी इस बात को नहीं मानते।

एष हि तस्य सिद्धान्तः चिदचिदीश्वरभेदेन भोक्तृभोग्यनियामकभेदेन व्यवस्थितास्त्रयः पदार्था इति। तदुक्तम्,

ईश्वरः चिदचिच्चेति पदार्थत्रितयं हरिः।
ईश्वरश्चित इत्युक्तो जीवो दृश्यमचित् पुनरिति॥

सर्व्वदर्शनसंग्रह में रामानुजदर्शन।

'रामानुजाचार्य्य का सिद्धान्त इस तरह है, चित अचित् और ईश्वर ये तीन पदार्थ हैं। चित् = भोक्ता, अचित् = भोग्य और ईश्वर = नियामक इसका समर्थन करने के लिए उन्होंने निम्न-लिखित वचन उद्धृत किया है। "चित्, अचित् और ईश्वर ये तीन पदार्थ हैं। हरि ईश्वर हैं, चित् जीव हैं और दृश्य जड़ अचित् है।"

इस सम्बन्ध में श्वेताश्वतर उपनिषद् इस तरह कहता है—

उद्गीतमेतत् परमन्तु ब्रह्म तस्मिन् त्रयं सुप्रतिष्ठाक्षरश्च।

'जो परब्रह्म है, वही अक्षर है, उसी में तीनों सुप्रतिष्ठित हैं, इस तरह कहा गया है ।'

ये तीनों कौन कौन हैं ? भोक्ता (जीव), भोग्य (जड़) और प्रेरिता (ईश्वर) । क्योंकि श्वेताश्वतर में दूसरी जगह लिखा है,—

भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत् ॥

इसके भाष्य में शङ्कराचार्य्य ने लिखा है,—

भोक्ता जीवः भोग्यमितरं सर्वं प्रेरिता अन्तर्य्यामी परमेश्वर एतत् त्रिविधं प्रोक्तं ब्रह्मैव इति ।

'अर्थात्, पुरुष प्रकृति और परमेश्वर—ब्रह्म के ये तीन भाव हैं ।' प्रकृति और पुरुष स्वतन्त्र पदार्थ होने पर भी विशिष्टाद्वैत मत में वे बिलकुल ईश्वराधीन हैं । क्योंकि ईश्वर ही भोक्ता और भोग्य—पुरुष और प्रकृति—दोनों में ही—अन्तर्य्यामिरूप से विराज रहे हैं ।

परमेश्वरस्यैव भोक्तृभोग्ययोरुभयोरन्तर्यामिरूपेणावस्थानम् ।

सर्वदर्शनसंग्रह ।

इसीलिए विशिष्टाद्वैतवादी इन दोनों (भोक्ता और भोग्य) को उस (ईश्वर) का शरीर बताते हैं ।*

तदेतत् कार्य्यावस्थस्य च कारणावस्थस्य च चिदचिद्वस्तुनः सकलस्य स्थूलस्य सूक्ष्मस्य च परब्रह्मशरीरत्वम् । २।१।१५ सूत्र पर श्रीभाष्य ।

'कार्य्यावस्थापन्न और कारणावस्थापन्न चित् और अचित—स्थूल और सूक्ष्म, सब वस्तु ही परब्रह्म का शरीर है ।'

---

* Chit and achit, what perceives and what does not perceive soul and matter, form, as it were, the body of Brahman. are in fact modes (Prakaras) of Brahman. Max Muller's Indian Philosophy.

इस का समर्थन करने के लिए रामानुजाचार्य्य ने निम्न-लिखित श्रुति और स्मृति-वाक्यों को उद्धृत किया है;—

यः पृथिव्यां तिष्ठन् × × यस्य पृथ्वी शरीरं × × यो विज्ञाने तिष्ठन् × × यस्य विज्ञानं शरीरम् य आत्मनि तिष्ठन् यस्यात्मा शरीरम्, इत्यादि।—अन्तर्यामी ब्राह्मण।

'जगत् सर्वं शरीरं ते', 'यदम्बु वैष्णवःकायः' 'तत्सर्वं वै हरेस्तनुः' 'तानि सर्वाणि तद्वपुः' 'सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात्।'

'जो (अन्तर्यामी रूप से) पृथ्वी पर रहते हैं, पृथ्वी उनका शरीर है, जो विज्ञान में रहते हैं, विज्ञान जिनका शरीर है; जो आत्मा में रहते हैं आतमा जिनका शरीर है।'

'समस्त जगत् तुम्हारा शरीर है, जो जल (कारण-जल) विष्णु का शरीर है, वह सभी श्रीहरि का तनु है।' 'वह सभी उनका वपु है।' 'उन्होंने ही अपने शरीर से समस्त प्रजा की सृष्टि की है।'

यदि यही ठीक है, यदि जीव, ईश्वर और प्रकृति ये तीन पदार्थ ही हैं तब जो ये श्रुतियों में

नेह नानास्ति किञ्चन। एकमेवाद्वितीयम्। आत्मा वा इदमेकाग्र आसीत्।

'वहाँ बहुत्व नहीं,' 'ब्रह्म एक और अद्वितीय हैं', 'आगे ये परमात्मा ही थे' जो उपदेश दिये गये हैं उनका तात्पर्य्य क्या है? इन एकत्व-प्रतिपादक श्रुतिवाक्यों की क्या गति होगी? इसके उत्तर में विशिष्टाद्वैतवादी कहते हैं, कि 'नेह नानास्ति किञ्चन' यहाँ नानात्व निषेध का उद्देश्य यह नहीं है कि जड़ और जीव मिथ्या कल्पना है बल्कि इस श्रुति का असली तात्पर्य्य यही है कि प्रकृति और पुरुष भगवान् के सिर्फ़ प्रकार (Aspect) हैं।

एकमेव ब्रह्म नानाभूतचिदचित्प्रकारं नानात्वेनावस्थितम् । सर्वदर्शन-संग्रह ।

एक ब्रह्म ही के चित्, अचित् आदि प्रकार भेद हैं। वह अनेक रूपों में स्थित है ।

एकस्यैव ब्रह्मणः शरीरतया प्रकारभूतं सर्वं चेतनाचेतनात्मकं वस्तु- सर्वदर्शन-संग्रह ।

'ब्रह्म के चित् और अचित् शरीर हैं, इसलिए वे उसी के प्रकार मात्र हैं।'

श्रुति ब्रह्म को 'एकमेवाद्वितीयं' जो कहती है, उसका यह तात्पर्य्य नहीं है कि ब्रह्म के सिवा और कुछ है ही नहीं। इस श्रुति का अभिप्राय यह है कि प्रलयकाल में जब प्रकृति और पुरुष नाम रूप के भेद से रहित हो कर ब्रह्म में लीन हो जाते हैं उस अव्याकृत अवस्था में वह (ब्रह्म) 'एकमेवाद्वितीयम्' है ।

तद्ध्येतत् तर्हि अव्याकृतमासीत् । नामरूपाभ्यां व्याक्रियते ।

प्रलय में जगत् अव्याकृत अवस्था में रहता है, बाद को वह (सृष्टि-काल में) नाम रूप के द्वारा व्याकृत (व्यक्त) होता है ।

विशिष्टाद्वैतवादी कहते हैं,—

वस्त्वन्तरविशिष्टस्यैव अद्वितीयत्वं श्रुत्यभिप्रायः ।

और वे इस बात को समर्थन करने के लिए सब शास्त्रों के वाक्य उद्धृत करते हैं,—

एको नारायणो देवः पूर्वसृष्टिं स्वमायया ।
संहृत्य कालकलया कल्पान्त इदमीश्वरः ॥
एक एवाद्वितीयोऽभूदात्माधारोऽखिलाश्रयः ।

× × × × ×

मय्येव सकलं जातं मयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
मयि सर्वं लयं याति तद् ब्रह्माद्वयमस्म्यहम् ।

अक्षरं तमसि लीयते । तमः परे देवे एकीभवति ।

ब्रह्मादिषु प्रलीनेषु नष्टे लोके चराचरे ।
आभूतसंप्लवे प्राप्ते प्रलीने प्रकृतौ महान् ॥
एकस्तिष्ठति सर्वात्मा स तु नारायणः प्रभुः ॥

'नारायण एक हैं और अद्वितीय हैं । वह माया-बल से जगत् को सृजन कर और कल्पान्त में काल-कला द्वारा जगत् को संहार करके अद्वितीय ईश्वर रूप में विराज रहे हैं । समस्त आत्मायें उनमें छिप रही हैं और सब उनमें लीन हो जाते हैं ।'

'मुझ से ही सब उत्पन्न होते हैं, मुझो में प्रतिष्ठित रहते हैं और मुझी में विलीन हो जाते हैं । मैं ही अद्वितीय ब्रह्म हूँ ।'

'अक्षर प्रकृति में लीन होता है प्रकृति परमेश्वर में मिल जाती है ।

'जब ब्रह्मादि लय हो जाते हैं, जब चराचर नष्ट हो जाते हैं, जब भूतों का प्रलय हो जाता है, जब महत्तत्त्व प्रकृति में लीन हो जाता है, जब सब आत्मायें एक अद्वितीय ईश्वर में विराज जाती हैं तब नारायण ही अवशिष्ट रहते हैं ।'

इन सब प्रमाणों के ऊपर निर्भर करके विशिष्टाद्वैतवादो 'एकमेवाद्वितीयं' श्रुति का इस तरह अर्थ करते हैं,—

तदानीं सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टस्य ब्रह्मणः सिद्धत्वात् विशिष्टस्यैव अद्वितीयत्वं सिद्धम् । तदनादित्वेऽपि अभिभाग उपपद्यते, यतस्तत् क्षेत्रज्ञवस्तु तदानीं परित्यक्त-नामरूपं ब्रह्मशरीरतयापि पृथग्व्यपदेशानर्हमतिसूक्ष्मम् । वेदान्ततत्त्वसार ।

'प्रलय में सूक्ष्मभावापन्न जीव और जड़ ब्रह्म में लीन हो जाते

हैं। उस समय ब्रह्म के सिवा और कुछ नहीं रहता । इसीलिए ब्रह्म को अद्वितीय कहा है । यद्यपि जगत् अनादि है किन्तु प्रलयकाल में जगत् ब्रह्म से अभिन्न हो जाता है । क्योंकि उस समय क्षेत्रज्ञ (जीव) नाम रूप छोड़ कर अति सूक्ष्म भाव में अवस्थान करता है । ब्रह्म से अलग उस समय उसकी उपलब्धि नहीं होती ।'

इस तत्त्व को विशद करने के लिए विशिष्टाद्वैतवादी ब्रह्म की दो अवस्थायें—कार्यावस्था और कारणावस्था—स्वीकार करते हैं। प्रलयकाल में जब जीव और जड़ जगत् ब्रह्म में लीन हो जाते हैं, जिस समय उस सूक्ष्म दशा में उनके नाम-रूप का विभाग मिट जाता है—वही ब्रह्म की कारणावस्था है । और सृष्टि में जिस समय वे चित् और जड़ रूप में विभक्त होकर व्यक्त-स्थूल-अवस्था को प्राप्त होते हैं—वही ब्रह्म की कार्य्यावस्था है । उस अवस्था में वह अचित् (दृश्य जड़ जगत्), भोग्य (विषय), भोगोपकरण (इन्द्रिय) और भोगायतन (देह) ये तीन आकार धारण करता है ।

नामरूपविभागानर्हसूक्ष्मदशावत् । प्रकृतिपुरुषशरीरं ब्रह्म कारणावस्थं जगतस्तदापत्तिरेव प्रलयः नामरूपविभागविभक्तस्थूलचिद-चिद्-वस्तु-शरीरं ब्रह्म कार्य्यावस्थं ब्रह्मणस्तथाविधस्थूलभावश्च सृष्टिरित्यभिधीयते ।—सर्वदर्शन-संग्रह में रामानुजदर्शन ।

कारणावस्थापन्न ब्रह्म के नाम रूप के भेदों से हीन और सूक्ष्मदशा को प्राप्त प्रकृति और पुरुष शरीर हैं । जगत् का ब्रह्म में लीन हो जाना ही प्रलय कहाता है । कार्य्यावस्थापन्न ब्रह्म के नाम रूप वाले स्थूलदशा को प्राप्त हुए चित् और अचित् अर्थात् जीव और जड़ शरीर हैं ।

परब्रह्म, हि कारणावस्थं कार्य्यावस्थं सूक्ष्मस्थूलचिदचिद्वस्तुशरीरतया सर्वदा सर्वात्मभूतम् । १ । २ । १ ब्रह्मसूत्र पर श्रीभाष्य ।

'परब्रह्म की दो अवस्थायें हैं—कारणावस्था और कार्य्यावस्था । कारणावस्था में सूक्ष्मभावापन्न प्रकृति और पुरुष उसका शरीर है । अतएव, वह हमेशा सब की आत्मा में विराजता है' ।

अतएव,—

आत्मा वा इदमग्र आसीत् ।

'आदि से आत्मा के सिवा और कुछ नहीं था' इत्यादि श्रुति-वाक्य, इस तरह समझे जावेंगे कि प्रलयकाल में समस्त जगत् ब्रह्म में लीन था, एकीभूत था; इसके द्वारा स्वरूप-निवृत्ति नहीं समझना चाहिए । जगत् स्थूल रूप को छोड़ कर सूक्ष्म रूप में ब्रह्म में अवस्थित था—यही मानना चाहिए । इसलिए सूक्ष्म चित् और जड़ विशिष्ट ब्रह्म ही जगत् का कारण है । *

---

* ननु आत्मा वा इदमग्र आसीत् इति प्राक् सृष्टेरेकत्वावधारणात् कथं सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टस्य नारायणस्य कारणत्वम् । उच्यते । यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति इति परित्यक्तस्थूलाकाराणां सूक्ष्माकारापन्या ब्रह्मणि वृत्तिः प्रतिपाद्यते नतु स्वरूप-निवृत्तिः अक्षरं तमसि लीयते, तमः परे देवे एकीभवति इति तमःशब्दवाच्यायाः प्रकृतेःपरमात्मन्येकीभावश्रवणात् । पृथग् प्रहणरहितत्वेन वृत्तिरेकीभावः ।

'आदि से यह जगत् आत्मा ही था । इस श्रुति के द्वारा सृष्टि के पूर्व में एक आत्मा ही थी यही प्रतिपन्न होता है । तब किस तरह सूक्ष्मचिदचिद्-विशिष्ट नारायण का कारणत्व सिद्ध होगा ? इसके उत्तर में वे कहते हैं 'जिससे इस जगत् की उत्पत्ति, जिसमें स्थिति और जिसके द्वारा प्रलय सिद्ध होता है वही ब्रह्म है । इस श्रुति द्वारा जगत् स्थूल अवस्था को त्याग कर सूक्ष्म अवस्था में ब्रह्म में विलीन होजाता है—यही प्रतिपन्न होता है, जगत्

जगत् को जो ब्रह्म से अभिन्न कहा गया है (तदन्यत्वम् आरम्भणशब्दादिभ्यः ब्रह्मसूत्र, २।१।१५) और ब्रह्म को जान लेने पर सब कुछ जान लिया जाता है—यह भी कहा गया है—तो क्या इसका उद्देश यही है, जगत् जब ब्रह्म ही का शरीर है उसी का प्रकार (aspect) है तब उसको जान कर और अज्ञात क्या रह जायगा ?

कार्य्यमपि सर्वं ब्रह्मैव इति कारणभूतब्रह्मात्मज्ञानादेव सर्वविज्ञानं भवतीति एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानस्य उपपन्नतरत्वात् । सर्वदर्शनसंग्रह में रामानुजदर्शन ।

'समस्त कार्य्य ही ब्रह्म है, उसके कारणभूत ब्रह्म का ज्ञान होने ही से कार्य्य का ज्ञान भी हो जाता है । श्रुति ने जो यह कहा है कि, एक वस्तु को जान लेने से सब जाना जाता है—वह भी इस प्रकार सङ्गत हो जाता है ।

अत्रेदं तत्त्वं चिदचिद्वस्तुशरीरतया तत्प्रकारं ब्रह्मैव सर्वदा सर्वशब्दाभिधेयम् । तत् कदाचित् स्वस्मात् स्वशरीरतयापि पृथग् व्यपदेशानर्हसूक्ष्मदशापन्नचिदचिद्वस्तुशरीरं तत्कारणावस्थं ब्रह्म । कदाचिच्च विभक्तनामरूपव्यवहारार्हस्थूलदशापन्नचिदचिद्वस्तुशरीरं तच्च कार्य्यावस्थमिति कारणात् परस्मात् ब्रह्मणः कार्य्यरूपं जगदनन्यत् ।

२।१।१४ ब्रह्मसूत्र पर श्रीभाष्य ।

की अत्यन्त निवृत्ति प्रतिपादित नहीं होती । "तमः परमेश्वर में एकीभूत हो जाता है ।" इस वाक्य में तमःशब्दवाच्य प्रकृति परमेश्वर में विलीन हो कर एकीभूत हो जाती है—यही कहा गया है । एकीभाव का अर्थ यही है कि जिस अवस्था में वस्तु का पृथक् रूप दिखाई न दे ।

अतः सर्वावस्थं ब्रह्म चिदचिद्वस्तुशरीरमिति सूक्ष्मचिदचिद्वस्तुशरीरं ब्रह्म कारणं तदेव ब्रह्म स्थूलचिदचिद्वस्तु शरीरं जगदाख्यं कार्य्यमिति जगत् ब्रह्मणोः सामानाधिकरण्योपपत्तिः। २।१।२३ सूत्र पर श्रीभाष्य।

'इस विषय में तत्त्व इस प्रकार है। ब्रह्म ही सदा "सर्व" शब्द का वाच्य है क्योंकि चित् और जड़ उसी के शरीर या प्रकार मात्र हैं। उसकी कभी कारणावस्था होती है और कभी कार्य्यावस्था। कारण अवस्था में, सूक्ष्मदशापन्न होता है, नामरूप-रहित जीव और जड़ उसका शरीर होता है। और कार्य्यावस्था में वह (ब्रह्म) स्थूलदशापन्न होता है, नाम रूप के भेद के साथ विभिन्न जीव और जड़ उसके शरीर होते हैं। क्योंकि परब्रह्म से उस का कार्य्य जगत् भिन्न नहीं है।'

'अतएव सब अवस्थाओं में' जीव और जड़ ब्रह्म का शरीर है। कारण ब्रह्म के सूक्ष्म जीव और जड़ शरीर हैं। कार्य ब्रह्म के (जगत्) स्थूल जीव और जड़ शरीर हैं। इस रूप में जगत् और ब्रह्म की अभिन्नता सिद्ध होती है।'

शास्त्र में अनेक जगह जगत् को असत् ज़रूर कहा है पर उसका अर्थ यह नहीं है कि जगत् मायिक या कल्पनामात्र है। जगत् को असत् कहने का असली तात्पर्य्य यही है कि जगत् चूंकि परिणामी और विकारशील है और यह कि वह एक रूप में अवस्थान नहीं करता तब निर्विकार ब्रह्म के सामने वह अवस्तु नहीं तो और क्या है?

"विकारजननीमज्ञाम्" "नित्यं सततविक्रियाम्" इत्यादिभिरस्याः सविकारत्वेन सततपरिणामत्वेन चैकरूपाभावान्न ब्रह्मसमानसत्ताकत्वम्। अतएवेयमनृतादिपदैरुपचर्य्यते। वेदान्ततत्त्वसार।

'जगत् को मिथ्या कहने का तात्पर्य्य यही है कि प्रकृति परि-

गामी और जड़वस्तु है और एक रूप में कभी नहीं रहती । तब उसको ब्रह्म की समान सत्ता किस तरह दी जावे ?

जगत् सिर्फ़ भ्रम नहीं है, वह माया का विजृम्भण नहीं है—इस बात को पुष्ट करने के लिए विशिष्टाद्वैतवादियों ने अनेक युक्तियाँ दी हैं ।

अतो विज्ञानमात्रमेव तत्त्वम् न बाह्यार्थोऽस्ति इत्येवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे नाभाव उपलब्धेरिति । ब्रह्मसूत्र, २।२।२७।

ज्ञानव्यतिरिक्तस्य अभावो वक्तुं न शक्यते कुत उपलब्धेः ज्ञातुरात्मनोर्थे विशेषव्यवहारयोग्यतापादनरूपेण ज्ञानस्योपलब्धेः × × ज्ञानवैचित्र्यमप्यर्थवैचित्र्यकृतमेव × × यत्परैः स्वप्नज्ञानदृष्टान्तेन जागरितज्ञानानामपि निरालम्बनत्वमुक्तम् तत्राह वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् । ब्रह्मसूत्र, २।२। २८ ।

स्वप्नज्ञानवैधर्म्याज्जागरितज्ञानानामर्थशून्यत्वं न युज्यते वक्तुं— × × × न भावोऽनुपलब्धेः ।—ब्रह्मसूत्र २।२।२८ ।

न केवलस्यार्थशून्यस्य ज्ञानस्य भावः सम्भवति, कुतः क्वचिदप्यनुपलब्धेः ।

यदि कोई कहे कि बाह्यार्थ (External world) है ही नहीं,—है सिर्फ़ विज्ञानमात्र ही । उसके उत्तर में हम कहते हैं "नाभावः" इस ब्रह्मसूत्र में स्पष्ट बताया गया है कि जब जगत् की उपलब्धि होती है तब विज्ञान को छोड़ कर पदार्थ की सत्ता ही नहीं—ऐसा कहना ठीक नहीं । क्योंकि जब तक विषय ज्ञाता के व्यवहार-योग्य न हो तब तक ज्ञान की उपलब्धि नहीं होती । विषय के न होने पर यह व्यापार किस तरह होता है ? × विचित्र विषय का ज्ञान भी विचित्र होता है । विरुद्धवादी जो कहते हैं कि जिस तरह स्वप्न का ज्ञान आलम्ब-शून्य है उसी तरह जागरित ज्ञान भी आलम्बहीन

है । उस का उत्तर है "वैधर्म्माच्च" सूत्र (२।२।२८)। स्वप्रज्ञान और जागरितज्ञान एक से नहीं हैं। अतएव स्वप्रज्ञान के दृष्टान्त द्वारा जागरित ज्ञान को भी अर्थशून्य बताना ठीक नहीं । × × अर्थशून्य ज्ञान का "भाव" कभी मुमकिन् नहीं । क्योंकि कहीं न कहीं तो उसका बाध होगा ही ।*

अद्वैतवादियों के मत में जीव और ब्रह्म स्वभाव से अभिन्न हैं। विशिष्टाद्वैतवादी इस मत को नहीं मानते । उनके मत में जीव और ब्रह्म तन्तु वस्तु हैं ।†

जीवपरयोरपि स्वरूपैक्यं देहात्मनोरिव न सम्भवति । तथा च श्रुतिः द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृत्तं परिषस्वजाते, तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन् अन्योभिचाकशीति । ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहाप्रविष्टौ परमे परार्द्धे × × अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा इत्याद्या । "भेदव्यपदेशात्, उभयेऽपि भेद्दे नैनमधीयते, भेदव्यपदेशाच्चान्यः, अधिकन्तु भेदनिर्देशात्" इत्यादि सूत्रेषु च 'य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोन्तरोयमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं, य आत्मानं अन्तरो यमयति' प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तः प्राज्ञे-

---

* भावे च उपलब्धेः । २।१।१६:—असदिति चेत् न प्रतिषेधमात्रत्वात् । ब्रह्मसूत्र, २।१।७;

तदन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः । ब्रह्मसूत्र, २।१।१४ इत्यादि सूत्रों के भाष्य में श्रीरामानुजाचार्य्य ने अपना मत और भी अच्छी तरह विशद किया है ।

† The souls as individuals possess reality.

The human spirit is distinct from the divine spirit.

(Max Muller's Indian Philosophy.)

नात्मनाऽन्वारूढ इत्यादिभिरुभयोरन्योन्यप्रत्यनीकाकारेण स्वरूपनिर्णयात् । *—१ । १ । १ ब्रह्मसूत्र पर श्रीभाष्य ।

अर्थात्, 'देह और आत्मा जिस तरह एक नहीं हो सकते जीव और ब्रह्म भी उसी तरह एक नहीं हो सकते। नीचे लिखे सूत्रों में जीव ब्रह्म का जो स्वरूप वर्णन किया गया है वह (स्वरूप) एक दूसरे के नितान्त विपरीत है। श्रुति स्मृति के प्रमाण लीजिए 'एक वृत्त पर दो पत्ती बसते हैं, उनमें एक तो अच्छी चीज़ें खाता है, दूसरा भोजन तो कुछ नहीं करता पर देखता रहता है।' 'संसार में सुकृत के "ऋत" पान करने के दो अधिकारी हैं,' 'परम (ब्रह्म) परात्पर स्थान में छिपा हुआ है।'

'वह सर्वात्मा सकल जगत् का शासन करता है।' 'भेद के व्यपदेश के लिए दोनों ही उपदेश देते हैं।' 'भेदव्यपदेश के हेतु भिन्न हैं।' 'भेदनिर्देश के हेतु × अधिक हैं।' इत्यादि ब्रह्मसूत्र।

'जो आत्मा में रहता है, आत्मा जिसका शरीर है। आत्मा का जो अन्तर्यामी है।' 'प्राज्ञ आत्मा द्वारा आलिंगित, प्राज्ञ आत्मा द्वारा अधिष्ठित इत्यादि।' विशिष्टाद्वैतवादी जीव और ब्रह्म का भेद दिखाने के लिए नीचे लिखे शास्त्र-वचनों को उद्धृत करते हैं।' 'पतिं विश्वस्यात्मेश्वरम्।' "आत्माधारोऽखिलाश्रयः।"

---

* जीव और ब्रह्म स्वतंत्र वस्तु हैं—इस मत को समर्थन करने के लिए विशिष्टाद्वैतवादी नीचे लिखे सूत्रों पर भी निर्भर करते हैं—

इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादिदोषप्रसक्तिः।—२। १। २० ब्रह्मसूत्र।

प्रकाशादिवन्नैवं परः।—२। ३। ४६ सूत्र।

सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन।—१। ३। ४३ सूत्र।

अपत्यादिशब्देभ्यश्च।—१। ३। ४४ सूत्र।

'वह विश्व का पति है, आत्मा का ईश्वर और आधार है, अखिल का आश्रय है।'

दूसरी जगह रामानुजाचार्य्य इस तरह लिखते हैं,—

आध्यात्मिकादिदुःखयोगार्हात् प्रत्यगात्मनोऽधिकम् अर्थान्तरभूतं ब्रह्म कुतः भेदनिर्देशात् प्रत्यगात्मनो हि भेदेन निर्दिश्यते परंब्रह्म × 'य आत्मनि तिष्ठन् × × य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्मा अन्तर्यामी अमृतः' 'पृथगात्मानं प्रेरितारञ्च मत्वा' × 'सकारणं करणाधिपाधिपः' × 'ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ' (प्रधान क्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः × ×) योऽव्यक्तमन्तरे सञ्चरन् 'यस्याव्यक्तं शरीरं' 'यमव्यक्तं न वेद' योऽक्षरमन्तरे सञ्चरन्' 'यस्याक्षरं शरीरं यमक्षरं न वेद एष सर्वभूतान्तरात्मा,' 'अपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायण इत्यादिभिः।'*

अर्थात्, 'ब्रह्म जीव से स्वतन्त्र है। जीव तीन तरह के दुःखों से पीड़ित है। वह और ब्रह्म किस तरह एक हो सकता है? इसीलिए श्रुति ने परब्रह्म और जीव का भेद प्रदर्शित किया है। आत्मा के भीतर जो विचरण करता है वही अन्तर्यामी अमृत तुम्हारा आत्मा है। जीव और नियामक (ईश्वर) को पृथक् मानना चाहिए, वही कारण और करणाधिपति (जीव) का अधिपति है। दो अज हैं ईश और अनीश, वही प्राज्ञ और अज्ञ कहाते हैं। वही प्रधान और क्षेत्रज्ञ—दोनों—(प्रकृति और पुरुष) का अधिपति है, गुणों का प्रभु है।

---

*इसी कथा की प्रतिध्वनि करते हुए वेदान्ततत्त्वसार के कर्त्ता लिखते हैं, "नैवं परम्" इति यथाभूतो जीवस्तथाभूतो न परः; यथैव हि प्रभायाः प्रभावान् अन्यथाभूतस्तथा प्रभास्थानीयत्तदंशात् जीवादर्शी परोप्यर्थान्तरभूतः।' "नैवं परः" इसमें कहा गया है कि जीव और परमेश्वर का रूप एक नहीं है। जिस तरह प्रभा और प्रभावाला एक नहीं। प्रभास्थानीय जीव अंश है और परमात्मा अंशी है, सुतरां दोनों अलग अलग हैं।

जो प्रकृति में सञ्चरण करता है, प्रकृति जिसका शरीर है, प्रकृति जिसको जानती नहीं, जो अक्षर (जीव) के भीतर संचरण करता है, अक्षर जिसका शरीर है, अक्षर जिसको जानता नहीं, वही सब भूतों का अन्तरात्मा पाप-स्पर्श-शून्य एक मात्र दिव्य देव (अद्वितीय ईश्वर) नारायण हैं।'

विशिष्टाद्वैतवादी कहते हैं कि जब ब्रह्म अखण्ड वस्तु है तो जीव ब्रह्म का खण्ड नहीं हो सकता। न च ब्रह्मखण्डो जीवः (वेदान्त तत्वसार) जीव को ब्रह्म का अंश जो कहते हैं:—

अंशो नानाव्यपदेशात्।—ब्रह्मसूत्र, २। ३। ४२।

उसका अर्थ यही है कि जीव ब्रह्म की विभूति है। जिस तरह चिनगारी अग्नि का अंश है, जिस तरह देह देही का अंश है, उसी तरह जीव ब्रह्म का अंश है।*

श्रुति में जहाँ तहाँ ब्रह्म और जीव का अभेद भी दिखाया गया है, जैसे सोऽहं और तत्त्वमस्यादि वाक्यों में। इन सब का तात्पर्य्य यही है कि जीव, ब्रह्म व्याप्य है, ब्रह्म का शरीर है और ब्रह्मात्मक है।

ततश्च जीवव्यापित्वेनाभेदो व्यपदिश्यते। वेदान्ततत्त्वसार †

---

* प्रकाशादिवत्तु नैवं परः (२। ३। ४५) सूत्र के भाष्य में रामानुज ने इस तरह लिखा है, 'प्रकाशादिवज्जीवः परमात्मनोंऽशः। यथाग्न्यादित्यादेर्भास्वतो भारूपः प्रकाशोंशो भवति × यथा वा देहिनो देवमनुष्यादेर्देहोंशस्तद्वत्। × × एवं जीवपरयोर्विशेष्यविशेषणयोरंशांशित्वं स्वभावभेदश्चोपपद्यते।

† तत्त्वमसि अयमात्मा ब्रह्म इत्यादिषु तच्छब्दब्रह्मशब्दवत् "त्वम्" "अयम्" "आत्मा" शब्दोऽपि जीवशरीरकब्रह्मवाचकत्वेन एकार्थाभिधायित्वात्।

सर्वदर्शनसंग्रहकार, रामानुजदर्शन का परिचय देते हुए इस विषय पर इस तरह लिखते हैं,—

तथा हि तत्पदं निरस्तसमस्तदोषमनवधिकातिशयासंख्येकल्याणगुणास्पदं जगदुदयविभवलयलीनं ब्रह्म प्रतिपादयति तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेत्यादिषु तस्यैव प्रकृतत्वात् सामानाधिकरण्यं, त्वं पदं वा चिद्विशिष्टं जीवशरीरं ब्रह्माचष्टे प्रकारद्वयविशिष्टैकवस्तुपरत्वात् सामानाधिकरण्यस्य।

अर्थात्, 'तत्त्वमसि वाक्य में तत् पद से सूचित होता है कि वह (ब्रह्म) समस्त दोषों से हीन है, असंख्य कल्याणगुणों का आधार है, और जगत् की सृष्टि, स्थिति और लय उसका लीला-विलास है—उसी को जानो। क्योंकि 'तत् ईक्षत' यहाँ 'तत्' पद ब्रह्म के लिए ही आया है। तत्त्वमसि में भी तत्पद से उसी का ग्रहण है। त्वं पद द्वारा भी वही 'चिद् विशिष्ट' (ब्रह्म) जीव जिसका शरीर है उसको जानो। वस्तु एक ही है सिर्फ़ उसके प्रकार का भेद है—सामानाधिकरण द्वारा यही सूचित होता है।'

इसमें सन्देह नहीं कि विशिष्टाद्वैत मत में जीव नित्य वस्तु है।

न जायते म्रियते वा विपश्चित्।

'जीव जन्मता भी नहीं मरता भी नहीं।'

इसी श्रुति के भरोसे वे कहते हैं कि जीव की न मृत्यु है और न जन्म। इस विषय में अद्वैतवादियों के साथ उनका मत मिलता है। परन्तु अद्वैतवादी जीव को विभु (सर्वव्यापी) मानते हैं—इससे उनका मतभेद है। वे कहते हैं जीव अणु है और प्रमाण में नीचे लिखी श्रुति पेश करते हैं,—

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः।

'उस अणु आत्मा को चित्त के द्वारा जाना जाता है ।'

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च ।
भागो जीवः स विज्ञेयः सचानन्त्याय कल्पते ।
आराग्रभागः पुरुषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्य इति च ।

बाल के अगले सौवें भाग को फिर सौ भागों में यदि विभक्त किया जाय तो वह जीव का परिमाण हो । इस जीव को जान कर (जाननेवाला) अमर हो जाता है ।'

जीव आराग्रमात्र—अणु परिमाण है, इसको चित्त के द्वारा जानना चाहिए । जब जीव अणु है तब एक जीव बहुत शरीरों में अधिष्ठित नहीं हो सकता । इसलिए जीव बहु हैं, प्रत्येक शरीर में भिन्न भिन्न हैं ।

विशिष्टाद्वैतमत में ईश्वर-प्राप्ति ही जीव का परम पुरुषार्थ है । जीव यदि पुरुषोत्तम को प्राप्त कर सके तो उसको परम सिद्धि लाभ हो जाय ।

वह सिद्धि और कुछ नहीं, पुनरावृत्ति-रहित भगवत् के चरणों का निवास है ।

'स्वभक्तं वासुदेवोऽपि संप्राप्यानन्दमक्षयम् ।
पुनरावृत्तिरहितं स्वीयं धाम प्रयच्छति ॥'

'वासुदेव अपने भक्त को अक्षय आनन्द देकर पुनरावृत्ति-रहित निज धाम प्रदान करते हैं ।'

उनको प्राप्त करने का उपाय क्या है ? इसके उत्तर में श्रीरामानुजाचार्य्य वेदार्थसंग्रह में इस तरह लिखते हैं:—

सोऽयं परब्रह्मभूतः पुरुषोत्तमो निरतिशयपुण्यसञ्चयक्षीणाशेषजन्मोपचितपापराशेः परमपुरुषचरणारविन्दशरणागति-जनिततदाभिमुख्यस्य सदाचार्य्योपदेशोपबृंहितशास्त्राधिगततत्त्वयाथात्म्यावबोधपूर्वकाहरहरुपचीयमानशमदमतपःशौचक्षमा-र्ज्जवभयाभयस्थानविवेकदयाहिंसाद्यात्मगुणोपेतं स्ववर्णाश्रमोचितपरमपुरुषाराधनवेषनित्यनैमित्तिककर्मोपसंहृतिनिषिद्धपरिहारनिष्ठस्य परमपुरुषचरणारविन्द-युगलन्यस्तात्मात्मीयस्य तद्भक्तिकारितानवरतस्तुति-स्मृति-नमस्कृति-वन्दन-यतन-कीर्त्तन-गुणश्रवण-वचनप्रणामादि प्रीतपरमकारुणिक पुरुषोत्तमप्रसाद-विध्वस्तध्वान्तस्यानन्यप्रयोजनानवरतनिरतिशयप्रियविशदतमप्रत्यक्षतापन्नानुध्यान-रूपभक्त्येकलभ्यः। तदुक्तं परमगुरुभिर्भगवद्यामुनाचार्य्यपादैः—उभयपरिक-र्म्मितस्वान्तस्यैकान्तिकात्यान्तिकभक्तियोगलभ्य * इति॥

'वही परब्रह्मरूपी पुरुषोत्तम नीचे लिखे अनुसार साधक को अन्य-प्रयोजन-रहित, विरामरहित, अतिशयरहित, प्रिय, सुविशद, प्रत्यक्ष सिद्ध, अनुध्यानरूप भक्ति से ही प्राप्य हैं। (उनको प्राप्त करने का और दूसरा कोई उपाय नहीं है) किस तरह के साधक को? जिसकी पूर्व जन्मार्जित पापराशि (इस जन्म में) अशेष पुण्य-पुंजों द्वारा नष्ट हो गई है, जिसने परमपुरुष के चरणार-विन्दों को शरण समझ कर भगवान की कृपा लाभ की है, आचार्य्य के उपदेश से जो शास्त्रों का यथार्थ तत्त्व जान कर, शम, दम, तप, शौच, भय, अभय, विवेक, दया और अहिंसा आदि सद्गुणों को प्राप्त कर चुका है, जो वर्णाश्रम-धर्म्म के अनु-सार परमपुरुष की आराधना करके नित्य और नैमित्तिक कर्म्मों के उपसंहार में और निषिद्ध कर्म्मों के परिहार में लगा रहता है, जिसने पुरुषोत्तम के चरण-कमलों में अपने आप को और अपने

---

* उभयपरिकर्म्मितस्वान्तस्य = ज्ञानकर्म्मयोगसंस्कृतान्तःकरणस्य।

सर्वस्व को न्यस्त कर दिया है, भगवत् की भक्ति से प्रणोदित होकर जिसने स्तोत्र, श्रवण, नमस्कार, वन्दन, यतनकीर्तन गुणश्रवण, वचन, ध्यान, अर्चन, प्रणाम के द्वारा परम कारुणिक परमेश्वर का प्रसाद लाभ कर अपने हृदय का अन्धकार दूर कर दिया है वही साधक है। भगवान् यामुनाचार्य्य इसी विषय में कहते हैं,—जिस साधक का अन्तःकरण ज्ञान और कर्म्मयोगद्वारा संस्कृत हो गया है वही ऐकान्तिक और आत्यन्तिक भक्ति के द्वारा भगवान् को प्राप्त करता है।'

विशिष्टाद्वैतवादी—

विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद् वेदोभयं सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥

'जो विद्या और अविद्या दोनों को जानते हैं, वे अविद्या के द्वारा मृत्यु को तर कर विद्या के द्वारा अमरत्व को प्राप्त करते हैं।' इस श्रुति पर निर्भर करके कहते हैं कि अविद्या (कर्म्म) और विद्या (भक्तिरूपापन्न ध्यान) इन दोनों का समुच्चय ही मुक्ति का साधन है। वे कहते हैं—

उपासनाकर्म्मसमुच्चितेन विज्ञानेन द्रष्टृदर्शने नष्टे भगवद्भक्तस्य तन्निष्ठस्य भक्तवत्सलः परमकारुणिकः पुरुषोत्तमः स्वयाथात्म्यानुभवानुगुणनिरवधिकानन्तरूपं पुनरावृत्तिरहितं स्वपदं प्रयच्छति ।

'उपासना रूप कर्म्म के साथ जो विज्ञान है उसके द्वारा जिस भगवद्भक्त का द्रष्टृ-दर्शन विनष्ट हो गया है उसी को ही भक्तवत्सल परमकारुणिक पुरुषोत्तम, अनन्तकाल-स्थायी पुनरावृत्तिरहित अपना पद प्रदान करते हैं।' उसी समय भक्त भगवान् के स्वरूप को अनुभव करता है।

यह वाक्य-जन्य आपात ज्ञान नहीं है, यह ध्यान उपासनादि-शब्दवाच्य वेदन वा साक्षात्कार है, इस बात का समर्थन करने के लिए विशिष्टाद्वैतवादी नीचे लिखी श्रुति को उद्धृत करते हैं:—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते स तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वामिति।

'यह आत्मा शास्त्र से, बुद्धि से और न बहुत से ग्रन्थों के पढ़ने से प्राप्त होती है। यह जिसका वरण करती है उसी को प्राप्त होती है, उसी पर आत्मा अपना स्वरूप प्रकाश करती है।' अर्थात् रामानुज की भाषा में—

योऽयं मुमुक्षुर्वेदान्तविहितवेदनरूपध्यानादिविशिष्टः यदा तस्य तस्मिन्नेवानुध्याने निरवधिकातिशया प्रीतिर्जायते तदैव तेन लभ्यते परः पुरुष इति।

'जब वेदान्तविहित विज्ञान रूप ध्यान आदि करनेवाले मुमुक्षु को ध्यान करते करते निरतिशय प्रीति का अनुभव होने लगता है, तभी उस को परम पुरुष की प्राप्ति होती है।'

विशिष्टाद्वैत मत में परम पुरुष (भगवान्) परम कारुणिक और भक्तवत्सल हैं। वह अपनी लीलाद्वारा, अर्च्चा, विभव, व्यूह सूक्ष्म और अन्तर्यामी—इन पाँच रूपों में अवस्थान करते हैं। अर्च्चा = प्रतिमादि; विभव = राम आदि अवतार; व्यूह = वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध—ये ४ व्यूह; सूक्ष्म = परब्रह्म के छः गुण *

---

* षड्गुणम्—गुणा अपहतपापत्वादयः। सोऽपहतपाप्मा विरजो विमृत्युर्विशोको विघजित्सः सत्यकामः सत्यसङ्कल्प इति श्रुतेः।

छः गुण कौन कौन से हैं? पापहीनता, रजःशून्यता, अमरत्व, विशोकत्व, अक्षरत्व और सत्यकामसङ्कल्पत्व।

और अन्तर्यामी = सब जीवों के नियामक । साधक अर्च्चा आदि नीचे स्तरों को तै करके अन्तर्यामी की उपासना का अधिकारी बनता है ।

अर्च्चोपासनयाक्षिप्ते कल्मषेऽपि ततो भवेत् ।
विभवोपासने पश्चात् व्यूहोपास्तौ ततः परम् ॥
सूक्ष्मे तदनु शक्तः स्यादन्तर्यामिणमीक्षितुम् ।

'साधक 'अर्च्चा की उपासना से पाप क्षय करके विभव की उपासना का अधिकारी होता है' उसके बाद व्यूह और फिर सूक्ष्म उपासना में निरत होता है—अन्तर्यामी की उपासना अन्तिम उपासना है ।'

अद्वैतवादियों ने जिस तरह सगुण और निर्गुण उपासना के दो तरह के फल बताये हैं विशिष्टाद्वैतवादी इस बात को नहीं मानते । इसलिए रामानुजाचार्य्य पहले सूत्र के भाष्य में ही कहते हैं;

परविद्यासु सर्वासु सगुणमेव ब्रह्म उपास्यम् । फलञ्च एकरूपमेव ।

अर्थात् 'परा विद्या में सब जगह सगुण ब्रह्म की ही उपासना का विधान है और उपासना का फल एकही होता है ।' उन्होंने प्राचीन भाष्यकार बोधायन और वाक्यकार ढंकर का मत प्रमाण के तौर पर उद्धृत किया है ।

विशिष्टाद्वैतवादियों द्वारा अनुमोदित मुक्ति का स्वरूप क्या है ? मुक्त पुरुष ब्रह्म के साथ मिल कर कभी एक नहीं होता । वह ब्रह्म के स्वरूप को ज़रूर प्राप्त होता है, ब्रह्मोचित (सत्यसङ्कल्पत्व और सर्वज्ञत्व) गुण ज़रूर लाभ करता है, परब्रह्म के साथ मिल कर एक नहीं होता ।

एवं गुणाः समानाः स्युर्मुक्तानामीश्वरस्य च ।
सर्वकर्त्तृत्वमेवैकं तेभ्यो देवे विशिष्यते ॥

मुक्त पुरुषों के ईश्वर के साथ समान गुण हो जाते हैं। पर सर्व-कर्त्तृत्व ईश्वर के ही साथ रहता है। यही विशेषता है।'

नापि साधनानुष्ठानेन निरस्ताविद्यस्य परेण स्वरूपैक्यसम्भवः। अविद्याश्रयत्वयोग्यस्य तदनन्यत्वासम्भवात्। प्रथम सूत्र पर श्रीभाष्य।

'साधन अनुष्ठान द्वारा अविद्या का नाश होने पर भी साधक पमेश्वर के साथ मिल कर एक नहीं हो जाता। जिसका आधार अविद्या हो उसके लिए क्या यह सम्भव है? वे कहते हैं कि शास्त्र में मुक्त को आत्मभाव और ब्रह्मभाव की प्राप्ति की बात जो मिलती है वह ब्रह्म या आत्मा के स्वभाव की प्राप्ति ही समझना चाहिए। मुक्त के ऐश्वर्य्य को दिखानेवाली जितनी श्रुतियाँ हैं उन में वह स्वराट्, अनन्याधिपति, संकल्पसिद्धि है—यही बात वर्णित है * पर जगत् की सृष्टि, स्थिति और लय के काम में उसका रत्ती भर भी अधिकार नहीं होता। वेदान्त के "जगद्व्यापारवर्ज्जम्" सूत्र (४।४।१७) में इसी विषय का उल्लेख है।

सर्व्वंपश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वशः। स वा एष दिव्येन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते यं एते ब्रह्मलोके। स यदि पितृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति सर्वे अस्मै देवाः बलिमाहरन्ति।

'पश्य (मुक्त पुरुष) सब विषयों को देखता है, सब विषयों को प्राप्त करता है, वह ब्रह्मलोक में दिव्य चक्षु द्वारा समस्त काम्य वस्तुओं को देख कर रमण करता है। यदि वह चाहता है कि पितृगण आ जायें तो संकल्पमात्र से ही पितृगण उपस्थित हो जाते हैं। सब देवता उसके लिए बलि देते हैं।

---

* संकल्पादेव तच्छ्रुतेः। ब्रह्मसूत्र ४।४।८। अतएव चानन्याधिपतिः ब्र० सू० ४।४।९।

विशिष्टाद्वैतवादी की मुक्ति यही है ।† वह अद्वैतवादियों की मुक्ति से भिन्न है । क्योंकि उनके मत में मुक्त पुरुष ब्रह्म में मिल कर एक हो जाता है ।

गन्तव्यञ्च परमं साम्यम् । ३ । ३ । २८ सूत्र पर ब्रह्मभाष्य ।

'ब्रह्म के साथ परम समीपता प्राप्त करना ही मुमुक्षु का लक्ष्य है ।'

---

† The souls of the departed, if only their life has been pure and holy, are able to approach this Brahman, sitting on his throne, and to enjoy their rewards in a heavenly paradise. Max Muller's Indian Philosophy p. 251.

While the very idea of an approach of the souls of the departed to the throne of Brahman, or of their souls being merged in Brahman, was incompatible with the fundamental tenet that the two were and always remain one and the same, never separated except by Nescience. The idea of an approach of the soul to Brahman, nay, even of the individual soul being a separate part of Brahman to be again joined to Brahman after death, runs counter to the conception of Brahman, as explained by Shankara, however prominent it may be in the Upanishads and in the System of Ramanuja, *Ibid* p. 251.

चौदहवाँ अध्याय ।

वेदान्तदर्शन ।

वेदान्त और गीता ।

उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र—इन तीनों को प्रस्थान-त्रय कहते हैं। प्रस्थान कहने का तात्पर्य्य यह है कि संसार सागर का यात्री इन तीन ध्रुव तारों को लक्ष्य करके अपने "गम्यस्थान" सुखधाम (विष्ण्वाख्यं परमं धाम) की ओर प्रस्थान करता है। गीता उपनिषदों का सार है।

> सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
> पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥

'उपनिषद् रूप गौ का गीता-रूप दूध है। स्वयं श्रीकृष्ण ने पार्थ-रूप बछड़े के उपलक्ष्य में सुधी जनों के भोग करने के लिए इस दूध को दुहा है।'

इसलिए गीता और उपनिषद् में किसी तरह का विरोध नहीं हो सकता। उपनिषद् वेद का चरम या शिरोभाग है। वह असली वेदान्त या ब्रह्मविद्या है। इसलिए वेदान्त के साथ भी गीता का कोई विरोध नहीं होना चाहिए। क्योंकि गीता स्वयं उपनिषद् है—स्वयं ब्रह्मविद्या है। इसीलिए गीता का प्रत्येक अध्याय इन शब्दों में समाप्त होता है—

श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायामित्यादि।

ब्रह्मसूत्र गौणभाव में वेदान्त है। * मुख्य वेदान्त का वह उपकारक मात्र है। इसीलिए वह वेदान्तदर्शन कहाता है। वेदान्तदर्शन और गीता—दोनों—यदि पराशर के पुत्र वेदव्यास ही की कृति हैं तो इन दोनों में परस्पर विरोध नहीं होना चाहिए। किन्तु मूल दर्शन का असली तात्पर्य्य क्या है? यह निर्णय करना बहुत मुश्किल है। भाष्यकारों में—उसके अर्थ के विषय में—बड़ा ही मर्म्मान्तिक मतभेद है। इसी कारण से, प्रचलित वेदान्तदर्शन के साथ गीता का अनेक विषयों में मतभेद दिखाई देता है। इस प्रस्ताव में इसी विषय की आलोचना की जायगी। इस आलोचना से हम यह जान सकेंगे कि, किन किन विषयों में गीता अद्वैतमत का समर्थन करती है और किन किन विषयों में विशिष्टाद्वैत मत का अनुमोदन करती है।

पहले भी कह चुके हैं, कि अद्वैत और विशिष्टाद्वैत मत शङ्कर और रामानुज से बहुत पहले के हैं। इसमें शक नहीं कि इन दोनों आचार्य्यों ने इन मतों को विशेष भावों से समुज्ज्वलित किया है। गीता के रचना-काल में भी ये मत प्रचलित थे यह बात असम्भव नहीं।

पाश्चात्य पण्डित नीचे लिखे श्लोक पर ज़ोर देकर कहते हैं कि गीता वेदान्तदर्शन के बाद का ग्रन्थ है। वह श्लोक यह है—

---

*वेदान्तो नाम उपनिषत्प्रमाणम्। तदुपकारिणि शारीरकसूत्रादीनि च। वेदान्तसार, २।

वेदान्तवाक्यकुसुमग्रथनार्थत्वात् सूत्राणाम्। वेदान्तवाक्यानि हि सूत्रैरुदाहृत्य विचार्य्यन्ते।१।१।२ सूत्र पर शङ्करभाष्य।

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ गीता, १३।१४।

'ऋषियों ने बहुत तरह से, बहुत से छन्दों में, युक्तियुक्त, सन्देह-रहित ब्रह्मसूत्र के पदों में यह तत्त्व निरूपित किया है ।'

वे ब्रह्मसूत्र पद से वेदान्तदर्शन को समझते हैं । इसीलिए वे गीता को ब्रह्मदर्शन के बाद का बना हुआ ग्रन्थ मानते हैं ।

यह मत बिलकुल अमूलक नहीं है । शङ्कराचार्य्य ने 'ब्रह्म-सूत्र पद' का अर्थ ब्रह्मप्रतिपादक वाक्य किया है । उनके शिष्य और टीकाकार आनन्दगिरि ने भी विकल्प से वेदान्तदर्शन को ही समझा है । श्रीधर स्वामी का भी ऐसा ही मत है ।*

किन्तु यह बात भी स्मरण रखने योग्य है कि गीता में जिस तरह ब्रह्मसूत्र का उल्लेख पाया जाता है—ब्रह्मसूत्र में भी उसी तरह एक जगह गीता के एक ख़ास श्लोक की ओर साफ़ ही साफ़ इशारा किया गया है । वे सूत्र ये हैं;

अतश्चायनेऽपि दक्षिणे ।
योगिनः प्रति च स्मर्य्यते स्मार्त्ते चैते । ब्रह्मसूत्र, ४।२।२०—२१।

उपरोक्त सूत्र में गीता के

नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥ गीता ४।२७।

---

* "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इत्यादीन्यपि सूत्राण्यत्र गृहीतानि । अन्यथा छन्दोभिरित्यादिना पौनरुक्त्यात् ।—आनन्दगिरि । यद्वा "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इत्यादीनि ब्रह्मसूत्राणि गृह्यन्ते । तान्येव, ब्रह्म पद्यते निश्चीयते एभिः इति पदानि । तैः हेतुमद्भिः "ईक्षतेर्नाशब्दम्" "आनन्दोमयोऽभ्यासात्" इत्यादिभिर्युक्तिमद्भिर्विनिश्चितार्थैः ।—श्रीधर ।

इस श्लोक की ओर लक्ष्य किया गया है। यह बात निश्चित है *।

इस प्रमाण पर यदि निर्भर किया जाय तो कहना होगा कि वेदान्तसूत्र गीता के बाद की चीज़ है †।

ऐसे स्थल पर सिद्धान्त क्या स्थिर क्या जाय? गीता बाद का ग्रन्थ है या वेदान्तसूत्र बाद का है? वास्तव में ऐसे प्रमाणों से यह बात तै नहीं हो सकती। क्योंकि, समय के चक्र में पड़ कर क्या गीता और क्या ब्रह्मसूत्र दोनों ही का बहुत कुछ रूपान्तर हो गया है। बादरायण-कृत ब्रह्मसूत्र में बाद को व्यास के शिष्यों और

---

* इस प्रसङ्ग में शङ्कराचार्य्य लिखते हैं, ननु च

यत्र कालेत्वनावृत्तिमावृत्तिञ्चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥—गीता, ८। २३।

इति कालप्राधान्येनोपक्रम्याहरादिकालविशेषः स्मृतावनावृत्तये नियतः कथं रात्रौ दक्षिणायने वा प्रयातोऽनावृत्तिं यायादिति। अत्रोच्यते—

योगिनः प्रति च स्मर्य्यते स्मार्त्ते चैते।—२१।

योगिनः प्रति चायमहरादिकालविनियोगोऽनावृत्तये स्मर्य्यते। स्मार्त्ते चैते योगसांख्ये न श्रौते। अतो विषयभेदात् प्रमाणविशेषाच्च नास्य स्मार्त्तस्य कालविनियोगस्य श्रौतेषु विज्ञानेष्ववतारः।

† स्वर्गीय काशीनाथ त्र्यम्बक तैलङ्ग महोदय ने अपने बनाये गीता के अँगरेज़ी अनुवाद की भूमिका में (Sacred Books of the East Series) ब्रह्मसूत्र गीता के बाद बने हैं यही बात लिखी है और इस के प्रमाण में उन्होंने ब्रह्मसूत्र के नीचे लिखे सूत्र पेश किये हैं। स्मृतेश्च १। २। ६, अपि च स्मर्य्यते—१। ३। २३ स्मरन्ति च—४। १। १० निशि नेति चेन्न सम्बन्धस्य यावद् देह भावित्वाद् दर्शयति च—४। २। १९।

प्रशिष्यों ने नये नये सूत्रों को मिला दिया । इसी तरह व्यासरचित भारत-संहिता के अन्तर्गत गीता की भी यही दशा हुई ।

अद्वैत और विशिष्टाद्वैत मत का विवरण देते हुए हमने देखा कि आचार्यों ने प्रधानतः नीचे लिखे पाँच विषयों की आलोचना और उनका निरूपण किया है—

१ । जगत् सत्य है या मिथ्या, वास्तविक है या काल्पनिक ?

२ । जीव ब्रह्म से भिन्न या है अभिन्न । जीव एक है या बहु ?

३ । ब्रह्म का स्वरूप क्या है ? वह निर्विशेष, निरुपाधि, निर्गुण है या सविशेष, सोपाधि, सगुण ? और यह कि उसकी साधना सगुण या निर्गुण किस भाव में करनी चाहिए ?

४ । ब्रह्म-प्राप्ति का उपाय क्या है ? कर्म या ज्ञान, ध्यान या भक्ति ?

५ । ब्रह्म-प्राप्ति का फल क्या है ? ब्रह्म के साथ सायुज्य (एक हो जाना), या ब्रह्म के समान ऐश्वर्य्य लाभ ?

इन पाँचों प्रसंगों के प्रत्येक विषय में अद्वैत और विशिष्टाद्वैत मत के बीच बड़ा भारी प्रभेद है । इन के सम्बन्ध में गीता का क्या मत है इस के बाद इसी बात की आलोचना की जायगी ।

पन्द्रहवाँ अध्याय।

वेदान्त और गीता।

जगत् सत्य है या मिथ्या है।

अद्वैत मत में जैसा कि हमने देखा सिर्फ़ ब्रह्म ही सद् वस्तु है और जो कुछ है वह असत् है या अवस्तु है। केवल 'एकमेवाद्वितीयं, ब्रह्म ही है और कुछ नहीं है। इसलिए इस मत में जगत् असत्य है, काल्पनिक है, माया का विजृम्भणमात्र है। वह रज्जु में साँप की तरह, सीप में चाँदी की तरह, सूर्य्य-किरण में जल की तरह मिथ्या है; वह 'एकमेवाद्वितीय', ब्रह्म की माया का विवर्त है, इन्द्रजाल की तरह ब्रह्मरूप सत्य में अध्यस्त सिर्फ़ भ्रम है, ब्रह्म के चित्त की सिर्फ़ लीला है, सङ्कल्पमात्र है और अवस्तु है। विज्ञान के अतिरिक्त उस की और कोई सत्ता नहीं है। पर, विशिष्टाद्वैत मत में जगत् सद् वस्तु है। जगत् ब्रह्म के अधीन ज़रूर है, ब्रह्म का वह सिर्फ़ प्रकार ज़रूर है, पर वह काल्पनिक या मिथ्या नहीं है। प्रकृति के परिणाम से जगत् बना है, वह वास्तव में विकार-जनित पदार्थ है। निर्विकार ब्रह्म की तुलना से असत् होने पर भी जगत् विज्ञानमात्र नहीं है। जगत् की अपनी सत्ता है। इन दो मतों में गीता किस मत का अनुमोदन करती है ?

गीता में हम देखते हैं, कि भगवान् कहते हैं मैं ही सब भूतों का सनातन बीज हूँ ।

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् । गीता, ७ । १० ।

इस बीज पद पर लक्ष्य करना चाहिए । बीज से वृक्ष की उत्पत्ति होती है और वृक्ष फिर बीज में ही लीन हो जाता है । फिर बीज से वृक्ष उत्पन्न होता है और फिर वृक्ष बीज में लीन हो जाता है । इसी तरह क्रमान्वय के साथ बीज से वृक्ष का आविर्भाव और बीज में वृक्ष का तिरोभाव संघटित होता रहता है । भगवान् जगत् का बीज हैं इससे यही बात मालूम होती है कि उनसे बार बार जगत् उत्पन्न हो कर उनमें विलीन होता रहता है । इसी को सृष्टि और प्रलय कहते हैं । एक के बाद दूसरा अर्थात् सृष्टि के बाद प्रलय होता रहता है । सृष्टि के समय जगत् अव्यक्त से व्यक्त होता है और प्रलय के समय जगत् व्यक्त से अव्यक्त होता है । * इसी लिए भगवान् ने कहा है, कि मैं ही जगत् का—

प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ।—गीता, ९ । १८

अक्षय बीज हूँ, मुझही से जगत् की उत्पत्ति, मेरे ही द्वारा स्थिति और मुझ में ही उसका लय होता है, मैं ही जगत् का आधार और आश्रय हूँ † ।

---

* गीता में दूसरी जगह लिखा है,

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ गीता, २ । २८ ।

'सब भूतोंका आदि अन्त अव्यक्त है, व्यक्त है केवल मध्य । इस दशा में किस बात का शोक किया जाय ।'

† गीता में और जगह भी भगवान् से ही सृष्टि होती है—यह बात कही है—

इसी विषय पर तैत्तिरीय उपनिषद् कहता है—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति ।

तैत्तरीय उपनिषद्, ३।१।

'जिससे ये सब भूत उत्पन्न होते हैं, जिसके द्वारा उत्पन्न हुए जीव जीवित रहते हैं, अन्तकाल में जिसमें लीन हो जाते हैं—वही ब्रह्म है।' "जन्माद्यस्य यतः" (ब्रह्मसूत्र, १।१।२) से भी यही बात लक्षित होती है। इसीलिए छान्दोग्य उपनिषद् में भगवान् की "तज्जलान्" संज्ञा की गई है।

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानीति ।—छान्दोग्य, ३ । १४ । १ ।

तज्जलान् का अर्थ है, तज्ज, तल्ल और तदन अर्थात् जिससे पैदा होता है, जिसमें लीन होता है और जिससे परवरिश पाता है। और जगह भी लिखा है,

---

अहं सर्वस्य जगतः मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते । गीता, १०। ८।

'मैं ही सब का उत्पन्न करनेवाला हूँ और मुझसे ही सब उत्पन्न होते हैं।'

भावाः = पदार्थाः । शङ्कर ।

अर्थात्, "सात्विक, राजसिक और तामसिक समस्त पदार्थ मुझ से ही उत्पन्न हुए हैं, वे मुझमें ही रहते हैं, पर मैं उन सब में नहीं हूँ।"

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ।। गीता, १३ । ३० ।

विस्तारं = उत्पत्तिं, विकाशम् । एकस्थम् = एकस्मिन् आत्मनि स्थितम् ॥ —शङ्कर ।

'जब वह भिन्न भिन्न भूतों को एक ही ईश्वर में देखने लगता है तब वह पूर्ण ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।'

यतो भूतानि जायन्ते येन जीवन्ति सर्वतः ।
यस्मिंश्च विलयं यान्ति नमस्तस्मै परात्मने ॥

'जिससे सब भूत उत्पन्न होते हैं, जिसके द्वारा स्थित रहते हैं, जिसमें लय होते हैं —उसी परमात्मा को नमस्कार है ।'

जगत् के इस आविर्भाव-काल को पुराण की भाषा में ब्रह्मा का दिन और उसके तिरोभावकाल को—जिस समय जगत् अव्यक्त अवस्था में रहता है—ब्रह्मा की रात्रि कहते हैं। ब्रह्मा की रात्रि में जगत् की प्रलय और उसी के दिन में जगत् की सृष्टि होती है। गीता इस मत का अनुमोदन करती हुई कहती है,—

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्व्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमे ऽवशः पार्थ प्रभवन्त्यहरागमे ॥ गीता, ८ । १८, १९ ।

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ गीता, ९ । ७—८ ।

'ब्रह्मा का दिन होने पर अव्यक्त से सब व्यक्तियों का उदय होता है और रात को उसी में लय* हो जाता है ।'

---

* अव्यक्त का अर्थ अव्याकृत प्रकृति है—अद्वैतवादी (शङ्कराचार्य्य-मधुसूदन आदि) इस बात को नहीं मानते। उनके मत में अव्यक्त का अर्थ है ब्रह्मा की निद्रावस्था (प्रजापतेः स्वापावस्था)। "मय्याध्यक्षेण प्रकृतिः" (गीता ९ । १०) आदि स्थलों में शङ्कराचार्य्य लिखते हैं "मम माया त्रिगुणात्मिका अविद्यालक्षणा प्रकृतिः सूयते उत्पादयति ।" और "प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्" (गीता, ९ ।७) इस जगह भी प्रकृति के अर्थ में "त्रिगुणात्मिका अपरा निष्ठा" अर्थ किया है ।

'समस्त चराचर वस्तुओं का यह समुदाय इसी प्रकार बार बार दिन को उदय होता है और रात को लय होता है ।' अर्थात्, प्रकृति में स्थित हो कर भगवान् जगत् की सृष्टि करते हैं । इसी का नाम "ईक्षण" है ।

> मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
> हेतुनानेन कौन्तेय जगद् विपरिवर्त्तते ॥ गीता, ९ । १० ।

'हे कौन्तेय, समस्त संसार का स्वामी मैं हूँ और मेरा आश्रय ग्रहण कर प्रकृति चराचर जगत् को उत्पन्न करती है इसीलिए इसका बार बार उदय (परिवर्त्तन) होता है ।'

गीता कहती है कि भगवान् की दो प्रकृतियाँ हैं, अपरा और परा । इन दोनों के संयोग से ही सृष्टि होती है ।

> भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
> अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥
> अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
> जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्य्यते जगत् ॥
> एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
> अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ गीता, ७ । ४–६ ।

'मेरी प्रकृति के आठ भाग हैं; पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहङ्कार । यह अपरा प्रकृति हुई । इससे भिन्न जो मेरी परा अर्थात् श्रेष्ठ प्रकृति है उसे भी जान लो । वह जीवरूपा है और इस जगत् को उसी का आधार है । स्मरण रक्खो कि, ये दोनों प्रकृतियाँ ही सब भूतों की उत्पत्ति के स्थान हैं; समस्त जगत् मुझ से ही उत्पन्न और मुझ में ही लय होता है ।

भगवान् ने जिस भाव में अपरा प्रकृति का परिचय दिया है उससे यही मालूम होता है कि सांख्योक्त प्रधान वा मूल प्रकृति से ही उनका मतलब है । भगवान् ने दूसरी जगह पर कहा है—

मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्त्तयः सम्भवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद् योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ गीता, १४ । ३–४ ।

'हे भारत, महद् ब्रह्म मेरा गर्भ रखने का स्थान है । उसमें मैं गर्भ रखता हूँ, और उससे सब भूतों की उत्पत्ति होती है । सब गर्भों में जो शरीर उत्पन्न होते हैं उन सबका उत्पत्ति-स्थान महद् ब्रह्म है और उसमें बीज रखनेवाला—पिता मैं हूँ ।'

इसी विषय में गीता दूसरी जगह कहती है,—

यावत् सञ्जायते किञ्चित् सत्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥ गीता, १३ । २६ ।

हे अर्जुन, स्थावर और जङ्गम सब प्रकार के प्राणी क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से ही उत्पन्न होते हैं ।

क्षेत्र = अपरा प्रकृति या प्रधान; और क्षेत्रज्ञ = परा प्रकृति या जीव ।

दूसरी जगह, जगत् और जगदीश्वर का सम्बन्ध निर्णय करने के लिए गीता कहती है,—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥ गीता, ९ । ४-५ ।

'मेरा स्वरूप अव्यक्त है इसी स्वरूप के द्वारा मैं व्याप रहा हूँ । मुझ में सब भूत हैं । मैं उनमें नहीं हूँ । इन सब भूतों ने भी मुझे व्याप नहीं रखा है । मेरा यह ईश्वरीय कर्म देखो । मेरी ही आत्मा सब भूतों का पालन करती है, वही सब भूतों का आधार है पर मैं फिर भी भूतस्थ नहीं हूँ ।'

गीता के इन वचनों में कहीं भी जगत् के मिथ्यात्व का उपदेश नहीं पाया गया । जगत् काल्पनिक है, विज्ञानमात्र है, ऐसा तो कहीं दिखाई नहीं दिया । वरन गीता ने—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।

'सत् का अभाव नहीं होता और असत् का भाव नह होता' इस जगह परिणामवाद ही का समर्थन किया है ।* यह सांख्य के मत से मिलता हुआ मत है । सांख्यवादियों का मत भी यही है कि—

---

*श्री शङ्कराचार्य्य ने इस श्लोक का अद्वैतमतानुयायी अर्थ किया है । उसमें उन्होंने जगत् का मिथ्यात्व ही सिद्ध किया है । विकारो हि सः । विकारश्च व्यभिचरति यथा घरादिसंस्थानं चक्षुषा निरूप्यमानं मृद्व्यतिरेकेणानुपलब्धे-रसत् तथा सर्व्वो विकारः कारणव्यतिरेकेणानुपलब्धोऽसत् । जन्म-प्रध्वंसाभ्यां प्रागूर्ध्वं चानुपलब्धेः । मृदादिकारणस्य च तत्कारणव्यतिरेकेणानुपलब्धेरसत्त्वम् । × × तस्माद्देहादेर्द्वन्द्वस्य च सकारणस्यासतो न विद्यते भाव इति । तथा सतश्चात्मनोऽभावोऽविद्यमानता न विद्यते सर्वत्र अव्यभिचारात् इत्यवोचाम । गीता के २ । १६ श्लोक पर शङ्करभाष्य ।

रामानुज की व्याख्या और तरह है । देहस्याचिद्वस्तुनः असत्वमेव स्वरूपमात्मनश्चेतनस्य सत्वमेव स्वरूपमिति निर्णयो दृष्ट इत्यर्थः । विनाश-स्वभावश्चासत्वम् अविनाशस्वभावश्च सत्वम् × × अत्र सत्कार्य्यवादस्यास-ङ्गतत्वाच्च तत्परोऽयं श्लोकः । इस श्लोक पर रामानुज का भाष्य ।

नासदुत्पद्यते न सद् विनश्यति ।

'असत् उत्पन्न नहीं होता और सत् का नाश नहीं होता ।'

अतएव, गीता, जगत् सत्य है या मिथ्या इस विषय में प्रधानतः विशिष्टाद्वैत मत के अनुयायी परिणामवाद का ही अनुमोदन करती है । अद्वैत-मतानुयायी विवर्त्तवाद को नहीं मानते ।

ब्रह्मसूत्र में जिस तरह जगत् का प्रसंग उत्थापित और विचारित हुआ है वह भी प्रधानतः परिणामवाद का ही अनुयायी है— ऐसा मानना असङ्गत नहीं । अब इसी बात की आलोचना करते हैं ।

मुण्डक उपनिषद् का एक मन्त्र है,—

यत् तद् अद्रेश्यम् अग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुमश्रोत्रंतदपाणिपादम् ।
नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद् भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥
मुण्डक, १ । १ । ६ ।

'धीर पुरुष, नित्य, विभु, सर्वगत, अतिसूक्ष्म और अव्यय भूतयोनि को देखते हैं, वह भूतयोनि अदृश्य है, अग्राह्य है, अगोत्र है, अवर्ण है, अचक्षु है, अश्रोत्र है, अपाणि है, अपाद है ।'

बादरायण ने इसी विषय का विचार, ब्रह्मसूत्र के पहले अध्याय के दूसरे पाद में उत्थापित किया है,—

अदृश्यादिगुणको धर्म्मोक्तेः ।—१ । २ । २१ ।

यह (मुण्डक में कही) भूतयोनि क्या है ? क्या यह सांख्योक्त प्रधान है वा जीव है; या ईश्वर है ? बादरायण के मत में यह परमेश्वर है । उनके मत में ईश्वर ही भूतयोनि है ।*

* किमयमदृश्यत्वादिगुणको भूतयोनिः प्रधानं स्यादुत शारीर आहोस्वित् परमेश्वर इति । × × × तस्माददृश्यत्वादिगुणको भूतयोनिः परमेश्वर एव ।— १ । २ । २ सूत्र पर शांकरभाष्य ।

'योनि' शब्द कारण के अर्थ में व्यवहृत हुआ है। कारण दो प्रकार का है, उपादान और निमित्त; जिस तरह गहने का उपादान कारण सुवर्ण है और सुनार निमित्तकारण है। घट का उपादानकारण मट्टी है और कुम्हार निमित्तकारण है। अच्छा तो ब्रह्म जगत् का कौन कारण है? निमित्त या उपादान? बादरायण कहते हैं वह दोनों ही है, निमित्त भी और उपादान भी *।

ब्रह्म जगत् का निमित्तकारण है, बादरायण ने नीचे लिखे सूत्रों में इसका प्रतिपादन किया है—

जगद्वाचित्वात्। ब्रह्मसूत्र, १।४।१६।

इसके भाष्य में श्रीशङ्कराचार्य्य लिखते हैं—

परमेश्वरश्च सर्वजगतः कर्त्ता सर्ववेदान्तेष्ववधारितः॥

शङ्करमतानुयायी भारतीतीर्थ लिखते हैं,—

---

* किस क्रम से ये भूत उत्पन्न हुए हैं—इस विषय में शास्त्रों में बड़ा विरोध है। कहीं कहा है कि पहले आकाश उत्पन्न हुआ (आत्मन आकाशः संभूतः—तैत्तिरीय उपनिषद्)। कहीं कहा है पहले तेज की सृष्टि हुई (तत्तेजोऽसृजत—छान्दोग्य)। कहीं पर पहले प्राण की उत्पत्ति कही गई है। (एतस्माज्जायते प्राणः—मुण्डक)। बादरायण ने प्रथम अध्याय के चौथे पाद में इस विषय का विचार किया है। उनका सिद्धान्त यही है।

कारणत्वेन चाकाशादिषु यथा व्यपदिष्टोक्तः।

समापकर्षात्। ब्रह्मसूत्र, १।४।१४,१५।

भारतीतीर्थ ने अपनी न्यायमाला में इसकी व्याख्या इस तरह की है, भवतु नाम सृष्टेषु विषयादिषु तत्क्रमे च विवादः × × तात्पर्यविषये तु जगत्-सृष्टरि ब्रह्मणि न क्वापि विरोधोऽस्ति। अर्थात् "सृष्ट आकाशादि के विषय में और उनके क्रम में तो विवाद रह सकता है पर ब्रह्म जगत् का बनाने वाला है इस विषय में शास्त्रों में कहीं भी विरोध नहीं है।"

एतद् कृत्स्नं जगद् यस्य कार्यं स एव वेदितव्य इति। कृत्स्नजगत्कर्तृत्वञ्च परमात्मन एव।

अर्थात् 'परमेश्वर ही सारे जगत् का कर्त्ता (निमित्तकारण) है।'

निमित्तकारण के सिवा वह उपादानकारण भी है—यह बात प्रतिपादन करने के लिए बादरायण ने कई सूत्र बनाये हैं,—

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुरोधात् इत्यादि। ब्रह्मसूत्र, १। ४। २३–२७।

इसके भाष्य में शङ्कराचार्य्य लिखते हैं,—

एवं प्राप्ते क्रमः। प्रकृतिश्चोपादानकारणं च ब्रह्माभ्युपगन्तव्यं निमित्तकारणं च। न केवलं निमित्तकारणमेव।

'ब्रह्म जगत् का निमित्त और उपादान—दोनों कारण—हैं।'*

बादरायण ने दूसरे अध्याय के तीसरे पाद में प्रतिपादन किया है कि जल, तेज, पृथ्वी आदि पञ्चभूत ब्रह्म से उत्पन्न हुए हैं। इसीलिए उनको ब्रह्मकार्य्य कहते हैं।

तस्माद् ब्रह्मकार्य्यं वियदिति सिद्धम्। २। ३। ७ ब्रह्मसूत्र पर शाङ्करभाष्य

२। ३। १३ सूत्र के भाष्य में शङ्कर लिखते हैं,—

स एव परमेश्वरस्तेन तेनात्मनावतिष्ठमानोऽभिध्यायन् तं तं विकारं सृजति। × × सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय। इति प्रस्तुत्य सच्चत्यच्चाभवत्। सत् = पुरुषः, त्यत् = प्रकृतिः।

---

*इस सम्बन्ध में भारतीतीर्थ का अधिकरण इस तरह है,—

निमित्तमेव ब्रह्म स्यादुपादानञ्च वीक्षणात्।
कुलालवन्निमित्तं तन्नोपादानं मृदादिवत्॥
बहु स्यामित्युपादानभावोऽपि श्रुत ईक्षितुः।
एकबुद्ध्या सर्वधीश्च तस्मात् ब्रह्मोभयात्मकम्॥

अर्थात्, 'परमेश्वर की जब सृष्टि की इच्छा होती है, उस समय वह सत् (पुरुष) और त्यत् (प्रकृति) रूप में अलग अलग हो जाते हैं। वे अभिध्यान करके सृष्टि उत्पन्न करते हैं।

अनुलोम क्रम में सृष्टि और विलोम क्रम में लय होता है—इसका उपदेश भी बादरायण ने दिया है,—

विपर्य्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च। ब्रह्मसूत्र, २।३।१४।

अर्थात् 'आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी—सृष्टि का यही क्रम है।'

तस्माद्वा एतस्मादाकाशः सम्भूत आकाशाद्वायुर्वायोरग्निरग्नेराप अद्भ्यश्च पृथिवी उत्पद्यते।

प्रलय का क्रम इससे ठीक उलटा है। प्रलय में, पृथ्वी जल तत्त्व में, जल अग्नितत्त्व में, अग्नि वायुतत्त्व में, वायु आकाशतत्त्व में विलीन हो जाता है, और बाद को आकाश ब्रह्म में लीन हो जाता है। यह प्रलय का क्रम है।*

---

*विपर्य्ययेण तु प्रलयक्रमोऽत उत्पत्तिक्रमाद् भवितुमर्हति। तथा हि लोके दृश्यते येन क्रमेण सोपानमारूढस्ततो विपरीतेन क्रमेणावरोहतीति। अपि च दृश्यते मृदो जातं घटशरावाद्यप्ययकाले मृद्भावमप्येति। अद्भ्यश्च जातं हिमकरकाद्यद्भावमप्येतीति। अतश्चोपपद्यते एतत् यत् पृथिव्यद्भ्यो जाता सती स्थितिकालव्यतिक्रान्ता ह्यपोपीयाद्वापश्च तेजसो जाताः सत्यस्तेजोऽपीयुः। एवं क्रमेण सूक्ष्मं सूक्ष्मतरं चानन्तरमनन्तरं कारणमपीत्य सर्वं कार्य्यजातं परमकारणं परमसूक्ष्मं च ब्रह्माप्येतीति वेदितव्यम्। न हि स्वकारणव्यतिक्रमेण कारणकार्य्याप्ययो न्याय्यः। २। ३। १४ ब्रह्म सूत्र पर शङ्करभाष्य।

यह सब कुछ कह कर बादरायण क्या जगत् को रज्जु में साँप की तरह अलीक, माया का विजृम्भण या विज्ञानमात्र कह सकते हैं ?

जगत् अलीक है, मायिक है, यदि बादरायण का सिद्धान्त यही होता तब वे ब्रह्मसूत्र के दूसरे अध्याय के प्रथम पाद में नीचे लिखी आपत्तियों का उत्थापन और खण्डन करने के लिए इतने सूत्र क्यों बनाते ? बादरायण की विचार-पद्धति इस तरह है;—

(क) जगत् अचेतन है और ब्रह्म चेतन है। इसलिए आपत्ति की जा सकती है कि चेतन ब्रह्म से अचेतन जगत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसका उत्तर बादरायण देते हैं कि यहाँ व्याप्ति का व्यभिचार दृष्ट होता है क्योंकि चेतन से अचेतन पदार्थों की उत्पत्ति के अनेक दृष्टान्त हैं। जिस तरह चेतन पुरुष से अचेतन नख, केश आदि की उत्पत्ति देखी जाती है (२।१।४–११ ब्र०सू०)।

(ख) कुम्भकार जब घट बनाता है तो दण्ड, चक्र आदिक उपकरणों की सहायता से बनाता है। ब्रह्म के पास जब कोई उपकरण नहीं तब उसने कैसे जगत् को बनाया इस के उत्तर में बादरायण कहते हैं, कि उपकरण के बिना भी सृष्टि दिखाई देती है;

क्षीरवद्धि। देवादिवदपि लोके।२।१।२४—६ सूत्र।

इसके भाष्य में शङ्कराचार्य्य लिखते हैं,—

यथा हि लोके क्षीरं जलं वा स्वयमेव दधिहिमभावेन परिणमते, अनपेक्ष्य बाह्यं साधनं तथेहापि भविष्यति। एकस्यापि ब्रह्मणो विचित्रशक्तियोगात् क्षीरादिवद् विचित्रपरिणाम उपपद्यते यथा लोके देवाः पितर ऋषय इत्येवमादयो महाप्रभावाश्चेतना अपि सन्तोऽनपेक्ष्यैव किञ्चिद् बाह्यं साधनमैश्वर्य्य

विशेषयोगाद् अभिध्यानमात्रेण स्वत एव बहूनि नानासंस्थानानि शरीराणि प्रासादादीनि च रथादीनि च निर्मिमाणा उपलभ्यन्ते × × एवं चेतनमपि ब्रह्मानपेक्ष्य साधनं स्वत एव जगत् स्रक्ष्यति ।

'जिस तरह जल या दूध किसी बाहरी साधन की अपेक्षा न करके स्वयं ही दही और बर्फ़ रूप में बदल जाता है—ब्रह्म भी उसी तरह जगद् रूप में परिणत हो जाता है। ब्रह्म एक है पर है वह विविध और विचित्रशक्तिमान्। इसलिए उसके विचित्र परिणाम कुछ असंगत नहीं। और जिस तरह ऋषि, पितृ आदि महाभाव चेतन पुरुष किसी बाहरी साधन की अपेक्षा न करके सिर्फ़ अपने ऐश्वर्य्य के बल से अनेक शरीर, महल और रथ आदि की सृष्टि कर देते हैं, चेतन ब्रह्म भी उसी तरह किसी बाह्य साधन की अपेक्षा न करके स्वयं ही जगत् की सृष्टि करता है।'

(ग) यह आपत्ति भी हो सकती है कि जब ब्रह्म निरवयव है और यह जगत् ब्रह्म का परिणाम है तब यह भी हो सकता है कि पूर्ण ब्रह्म जगद् रूप में परिणत (विकारग्रस्त) हो जायँ नहीं तो उनको सावयव कहा जाय।

कृत्स्ने प्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वा।—२।१।२६ सूत्र।

इसके उत्तर में बादरायण कहते हैं—

श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् २।१।२७ सूत्र।

न तावत्कृत्स्नप्रसक्तिरस्ति। कुतः। श्रुतेः। यथैव हि ब्रह्मणो जगदुत्पत्तिः श्रूयते एवं विकारव्यतिरेकेणापि ब्रह्मणोऽवस्थानं श्रूयते। × × "पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' इति चैवं जातीयकात्। शङ्करभाष्य।

'जिस श्रुति में यह उपदेश दिया गया है कि जगत् ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है उसी में यह भी कहा गया है कि ब्रह्म विकार-ग्रस्त

नहीं होता । "उसके एक अंश में सब भूत हैं बाकी तीन अंश अमृत हैं ।" इसीलिए ब्रह्म के विकार की आशंका अमूलक है ।

(घ) फिर एक आपत्ति यह भी हो सकती है कि जब ब्रह्म विकरण (निराकार) है तब वह किस तरह सृष्टि के कार्य्य को सिद्ध करता है ? बादरायण उत्तर में नीचे किसी श्रुति पर लक्ष्य करके कहते हैं,—

विकरणत्वादिति चेत्तदुक्तम् । २ । ३ । ३१ सूत्र ।
अपाणिपादो जवनो गृहीता,
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः । श्वेताश्वतर, ३। १९।

'उसके हाथ नहीं, पर ग्रहण करता है, वह बिना पैर के चलता है; बिना आँख के देखता है; बिना कान के सुनता है ।'

(ङ) फिर आपत्ति होगी कि भगवान् जब आप्तकाम हैं तब किस प्रयोजन के लिए किस अभाव की पूर्त्ति के लिए वे सृष्टि-कार्य्य में प्रवृत्त हुए हैं ? उत्तर में बादरायण कहते हैं,—

लोकवत्तु लीलाकैवल्यम् । २। १। ३३ सूत्र ।

'सृष्टि उसकी लीला का विलास है, जिस तरह बच्चा बिना प्रयोजन के भी क्रीड़ा किया करता है उसी तरह वह बिना प्रयोजन के भी सृष्टि करता है ।'

(च) फिर आपत्ति होगी कि जगत् में अनेक विषमतायें हैं, कोई सुखी है, कोई दुखी है, कोई धनी है, कोई दरिद्री है, यदि इस जगत् को ईश्वर की रचना मानें तो ईश्वर पक्षपाती और निष्ठुर ठहरेंगे । इसके उत्तर में बादरायण कहते हैं,—

वैषम्यनैर्घृण्ये न, सापेक्षत्वात् तथा हि दर्शयति ।—२ । १ । ३४ सूत्र ।

सापेक्षोऽधीश्वरो विषमां सृष्टिं निर्मिमीते, किमपेक्षत इति चेत् । धर्म्मा-धर्म्मे अपेक्षत इति वदामः; शाङ्करभाष्ये ।

भगवान् जीव के कर्म्मानुसार ही सृष्टि करते हैं । जिसके कर्म्म अच्छे हैं, उसको सुखी बनाते हैं, जिसके कर्म्म बुरे हैं उस को दुखी बनाते हैं । इसमें उनके पक्षपात या निठुरता का प्रसंग नहीं उठ सकता ।

जिन बादरायण ने ऐसी ऐसी युक्तियाँ तर्क और प्रमाणों का प्रयोग किया है वे जगत् को कभी विज्ञान मात्र या अलीक कहेंगे ? विशेषत: जहाँ वे तृतीय अध्याय के दूसरे पाद के आरम्भ में (१।६ सूत्र में) स्वप्नसृष्टि और जाग्रत्सृष्टि का भेद दिखाते हैं * वहाँ उन्होंने साफ़ ही साफ़ कह दिया है कि स्वप्न सृष्टि ही मायामय है ।

मायामात्रन्तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात् । ३। २ । ३। सूत्र ।

इसके भाष्य में शङ्कराचार्य्य लिखते हैं,

'स्वप्न में जो सृष्टि होती है वह मायामात्र है । उसमें सत्य की गन्ध तक नहीं । इसलिए स्वप्नदर्शन मायामात्र है । सुतरां जो सृष्टि स्वप्न को आश्रय करके उद्भूत हो वह आकाशादि की सृष्टि की तरह पारमार्थिक नहीं है—यही सिद्ध हुआ ।' तब बताइए जगत् को मिथ्या किस तरह कहा जाय ?

"जगत् सत्य है या मिथ्या" इस विषय में बादरायण ने अपना मत एक जगह साफ़ साफ़ दिया है । इसलिए इस विषय पर बहुत लिखने की आवश्यकता नहीं । बादरायण कहते हैं,—

---

* इस प्रसंग में इसी ग्रन्थ का वेदान्तदर्शन अध्याय देखो ।

भावे चोपलब्धेः । २ । १ । १५ सूत्र ।

न भावोऽनुपलब्धेः २ । २ । ३० सूत्र

'जो वस्तु है, उसी की उपलब्धि होती है, जो वस्तु नहीं है, उसकी उपलब्धि भी नहीं होती ।' इसलिए बादरायण का सिद्धान्त यही हुआ कि जब जगत् की उपलब्धि होती है तब जगत् है ही । इसमें यह बात नहीं कही गई है कि हम जगत् को जिस रूप में देखते हैं, जगत् वास्तव में वैसा ही है । फूल और पहाड़ को हम जैसा देखते हैं फूल और पर्वत वास्त में वैसे ही हैं—यह बात कोई दार्शनिक नहीं मानेगा । किन्तु फूल और पर्वत जब हमको उपलब्ध होते हैं तब फूल और पर्वत में कोई वस्तु है ज़रूर—यह पक्की बात है ।*

तदनन्यत्वम् आरम्भणशब्दादिभ्यः ।२।१।१४ सूत्र ।

बादरायण, इस सूत्र में—जगत् और ब्रह्म अनन्य—हैं, यह उपदेश देते हैं । इस स्थल में उनका लक्ष्य नीचे लिखी छान्दोग्य-श्रुति पर है—

यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यात् । वाचारम्भणं विकारो मृत्तिकेत्येव सत्यम् । एवं सोम्य स आदेशः ।

'जिस तरह मट्टी के एक ढेले को जान लेने से सब मट्टी के पात्रों को मानो जान लिया क्योंकि वाक्य का आरम्भ, विकार

* जर्मन दार्शनिकों ने Noumenon और Phenomenon का जिस तरह भेद किया है यह भी कुछ उसी प्रकार का है । हर्बर्ट स्पेन्सर का Transfigured Realism भी इसी की प्रतिध्वनि है । शंकराचार्य्य ने अनेक जगह व्यवहार वा व्यावर्त और परमार्थ में जो भेद दिखाया है उसके साथ इस मत का सामञ्जस्य किया जा सकता है ।

नाम ही के भेद से है । मट्टी ही एकमात्र सत्य पदार्थ है ब्रह्म का भी यही वृत्त है ।' अर्थात्, एक ब्रह्म को जान लेने से सब पदार्थ जान लिये जाते हैं । इसमें भी यह नहीं कहा गया कि जगत् मायामात्र अलीक अवस्तु है । यही कहा गया कि जगत् और ब्रह्म में नाम रूप का भेद है वास्तव में वे दोनों स्वरूपतः अभिन्न हैं ।

जिस तरह कुण्डल या कड़े आदि सोने के अलङ्कारों में सिर्फ़ आकार और संज्ञा का भेद रहता है, पर रासायनिक दृष्टि से स्वर्ण के सिवा उनमें और कुछ नहीं होता इसी तरह अनेक वैचित्र्य होते हुए भी जगत् ब्रह्म के सिवा और कुछ भी नहीं है । जगत् को ब्रह्म की प्रकृति, ब्रह्म का प्रकार वा aspect मान लेने से सब झगड़ा निबट जाता है, फिर उस (जगत्) को अलीक या अवस्तु कहने की भी ज़रूरत नहीं रहती ।

हमने पहले कहा था कि, प्रधान (Matter) और पुरुष (Spirit या force) जिनके संयोग से यह जगत् बना है—ब्रह्म की परा और अपरा प्रकृति हैं ।

या परापरसंभिन्ना प्रकृतिस्ते सिसृक्षया ।

ब्रह्म जब सिसृक्षा (सृष्टि का संकल्प) करता है तब उसकी प्रकृति परा और अपरा रूप में उससे भिन्न हो जाती हैं । इसलिए ये प्रधान और पुरुष ब्रह्म की प्रकृति वा प्रकार के सिवा और कुछ नहीं है । जो जिसका प्रकार है वह क्या उससे भिन्न हो सकता है ? वह उससे अभिन्न ही रहता है । इसलिए जगत् को ब्रह्म से अभिन्न कहना असङ्गत नहीं है और ऐसा कहने से जगत् का मिथ्यात्व सूचित नहीं होता ।

इस तरह समझ लेने पर—बादरायण दूसरी जगह पर जो कहते हैं कि ब्रह्म को छोड़ कर और कोई चीज़ नहीं—

तथान्यप्रतिषेधात् ३।२।३६ सूत्र।

उसकी भी मीमांसा ठीक हो जाती है। जगत् में जो कुछ भी है वह प्रकृति होगी या पुरुष होगा—जगत् के सब पदार्थ इन्हीं दो कोटियों में रहेंगे। वे प्रकृति और पुरुष जब ब्रह्म के प्रकार मात्र हैं तब एक ब्रह्म के सिवा और क्या है या हो सकता है? वही "एकमेवाद्वितीयम्" है। उसके सिवा "नाना" कुछ भी नहीं है। पर, इससे भी जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध नहीं होता।*

---

* तथान्यप्रतिषेधात्। ३। २। ३६ सूत्र।

इस सूत्र के भाष्य में शङ्कराचार्य्य लिखते हैं, 'तथान्यप्रतिषेधादपि न ब्रह्मणः परं वस्त्वन्तरमस्ति इति गम्यते। तथाहि स एव अधस्तात्। × × ब्रह्मैवेदं सर्वम् + नेह नानास्ति किञ्चन × यस्मात्परं नापरं अस्ति किञ्चित् × × इत्येवमादीनि वाक्यानि स्वप्रकरणस्थान्यन्यार्थत्वेन परिणेतु-शक्यमानानि ब्रह्मव्यतिरिक्तं वस्त्वन्तरं वारयति।' किन्तु रामानुजाचार्य्य ने इस सूत्र का और ही अर्थ किया है,—यत्पुनरुक्तं ततो यदुत्तरतरं परात्परं × अस्ति, तन्नोपपद्यते; तत्रैव ततोऽन्यस्य परस्परप्रतिषेधात् यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिदिति।

'तदन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः।' के भाष्य में रामानुज कहते हैं,—

तस्मात्परमकारणात् ब्रह्मणोऽनन्यत्वं जगत आरम्भणशब्दादिभ्यः। × एतानि हि वाक्यानि चिदचिदात्मकस्य जगतः, परस्माद् ब्रह्मणोऽनन्यत्वं उपपादयन्ति × × कृत्स्नस्य जगतो ब्रह्मैककारणत्वं कारणात् कार्य्यस्यानन्यत्वं च हृदि निधाय कारणभूतब्रह्मविज्ञानेन कार्य्यभूतस्य सर्वस्य विज्ञाने प्रतिज्ञाते सति × × जगतो ब्रह्मैककारणतां उपदेश्यन् × × अतो घटाद्यपि मृत्तिकेत्येव सत्यं मृत्तिका द्रव्यमित्येव सत्यप्रमाणेन उपलभ्यत इत्यर्थः।

इसी पर शङ्कर की व्याख्या और ही प्रकार की है—

और फिर जब कि इसके बाद दूसरे ही सूत्र में बादरायण कहते हैं,—

अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः ।—३।२।३७ सूत्र ।

अर्थात् 'ब्रह्म सर्वगत है, श्रुति ऐसा उपदेश देती है।' यहाँ "सर्व्व" (जगत्) यदि अलीक या विज्ञानमात्र हो तब ब्रह्म सर्वव्यापी किस तरह हों ? शास्त्र ब्रह्म को बार बार सर्वव्यापी कहते हैं।

आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः ।

'वह नित्य है, आकाश की तरह सर्वव्यापी है।'

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ।

'वह नित्य, सनातन, स्थाणु, अचल और सर्वगत है।'

कार्य्यमाकाशादिवतः बहुप्रपञ्चं जगत्; कारणं परं ब्रह्म; तस्मात्कारणात् परमार्थतोऽनन्यत्वं व्यतिरेकेणाभावः कार्य्यस्यावगमते । × × तत्र श्रुताद् वाचारम्भणशब्दात् दार्ष्टान्तिकेऽपि ब्रह्मव्यतिरेकेण कार्य्यजातस्याभाव इति गम्यते × × यथा च मृगतृष्णिकोदकादीनामूषरादिभ्योऽनन्यत्वं दृष्टनष्टस्वरूपत्वात् स्वरूपेण अनुपाख्यत्वात् एवमस्य भोग्यभोक्त्रादिप्रपञ्चजातस्य ब्रह्मव्यतिरेकेणाभाव इति द्रष्टव्यम् ।

सोलहवाँ अध्याय।

वेदान्त और गीता।

जीव और ब्रह्म

अद्वैतमत में जैसा कि पहले अध्यायों में वर्णन हो चुका है जीव ही ब्रह्म है। जीव, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्य-स्वभाव, विभु, सर्वव्यापी, सच्चिदानन्द, एक और अद्वितीय वस्तु है। जीव और ब्रह्म स्वरूपतः अभिन्न हैं। दोनों में जो भेद है वह उपाधिकृत है—अविद्या-कल्पित है। माया की एक शक्ति है—मोहशक्ति। वही शक्ति जीव को मोहित करती है। उसी के कारण जीव ईश्वरभाव को त्याग कर दुःखशोक के पंजे में फँस जाता है। पर विशिष्टाद्वैतमत में जीव और ब्रह्म एक नहीं—अलग अलग चीज़ हैं। जीव ब्रह्म से बिल्कुल ही विपरीत है। जीव तीन तरह के दुःखों के अधीन है, ब्रह्म क्लेश-लेश-हीन है। जीव नियम्य है, ब्रह्म नियामक है। जीव व्याप्य है, ब्रह्म व्यापक है। जीव अणु है, प्रतिशरीर में अलग अलग है अतएव बहु है, ब्रह्म विभु (सर्वव्यापी) है और एक है। इन दोनों मतों में गीता किस मत का अनुमोदन करती है ?

गीता के दूसरे अध्याय में भगवान् अर्जुन को आत्मा की अविनाशिता बताते हुए कहते हैं:—

> अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
> विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्त्तुमर्हति॥

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद् युध्यस्व भारत ॥
य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥
न जायते म्रियते वा कदाचिन्
नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ गीता, २ । १२—२० ।
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्य्योयमुच्यते । गीता, २ । २४ ।

इनमें से कुछ श्लोकों का भावार्थ नीचे लिखा जाता है,—

'जिससे यह संसार व्याप्त है वही अविनाशी और अव्यय है। उसका कोई नाश नहीं कर सकता। देह अनित्य है पर देहाश्रयो आत्मा नित्य है, अविनाशी है, अप्रमेय है। जो आत्मा को मारने वाला या मरा हुआ मानते हैं वे दोनों मूर्ख हैं। आत्मा न मारे न मरे। आत्मा जन्ममृत्यु से हीन है, चय-वृद्धि से हीन है, वह अज, नित्य, शाश्वत और पुराण है। शरीर के नाश होने पर आत्मा का नाश नहीं होता। आत्मा छिद नहीं सकती, जल नहीं सकती, गल नहीं सकती, और सूख नहीं सकती। आत्मा नित्य है, सर्वगत है, स्थाणु है, अचल है और सनातन है। आत्मा अव्यक्त है, अचिन्त्य है और अविकार्य्य है।'

इसमें जीव का लक्षण इस तरह किया गया है। जीव अज है, पुराण है; जीव नित्य है, सनातन है, अविनाशी है; जीव स्थाणु है,

अचल है, शाश्वत है, अविकार है; जीव सर्वगत है, अप्रमेय है; जीव अव्यक्त है और अचिन्त्य है । अर्थात्,

(क) जीव की उत्पत्ति और विनाश नहीं आदि और अन्त नहीं ;

(ख) जीव अविकारी है ;

(ग) जीव सर्वव्यापी है ;

(घ) जीव अमेय है ।

उत्पत्ति-विनाश रहितत्व, विकारशून्यत्व, सर्वव्यापित्व और अमेयत्व—यह सब ब्रह्म के लक्षण हैं । अतएव ब्रह्म के लक्षणों से जीव को लक्षित करके भगवान् ने जीव और ब्रह्म का ऐक्य ही स्थापन किया है । इस बात को साबित करने के लिए किसी तर्क या युक्ति देने की ज़रूरत नहीं है । क्योंकि भगवान् ने स्वयं ही स्पष्टाक्षरों में यह बात कह दी है,—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः । गीता, १० । २० ।

'हे अर्जुन, सब भूतों की बुद्धि में स्थित आत्मा (जीव) मैं ही हूँ ।'

क्षेत्रज्ञञ्चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत । गीता, १३ । २ ।

'प्रत्येक क्षेत्र में मुझे ही क्षेत्रज्ञ समझो ।'

शरीर का एक नाम क्षेत्र भी है, आत्मा को क्षेत्रज्ञ कहते हैं ।

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद् यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः । गीता, १३ । १

'हे कुन्तीपुत्र, इस शरीर को क्षेत्र कहते हैं और जो कहता है कि मैं इस शरीर को जानता हूँ उस (जीव) को क्षेत्रज्ञ कहते हैं ।'

पन्द्रहवें अध्याय में भी भगवान् ने जीव को अपना ही अंश कहा है,—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः । गीता, १५ । ७ ।

'जीवलोक में जो सनातन जीव है वह मेरा ही अंश है ।' अंश और अंशी कभी भिन्न नहीं हो सकते ।

भगवान् निरवयव हैं—उनका अंश होना सम्भव नहीं । पर, उपाधि से उनका अंश हो सकता है । जिस तरह जल में डूबे हुए घड़े के भीतर भरे हुए जल को लक्ष्य कर के उसको पृथक् समझा जाता है । भगवान् भी अविभक्त हैं पर (देह आदि) उपाधि के भेद से उनको विभक्त कहा जाता है ।

अविभक्तञ्च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् । गीता, १३ । १६ ।

भगवान् ही जीवरूप से विराज रहे हैं—यह बात शास्त्रों में और जगह भी लिखी है ।

मनसैतानि भूतानि प्रणमेद् बहुमानयन् ।
ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति ॥ भागवत, ३ । २९ । २९ ।

'सब भूतों को आदर सहित प्रणाम करो, भगवान् ही अंश द्वारा जीव रूप में विराज रहे हैं ।' और जगह भी लिखा है,—

प्रपूज्य पुरुषं देहे देहिनं चांशरूपिणम् ।

'भगवान् के अंशरूपी देही (जीव) को देह में पूजा करो ।'

भगवान् ही देह में देही रूप से अवस्थित हैं—यह बात गीता में और जगह भी लिखी है,—

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्त्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥ गीता, १३।२२।

'इस देह में परम पुरुष परमात्मा महेश्वर विराज रहे हैं, वे साक्षी, अनुमन्ता, भर्त्ता और भोक्ता हैं ।'

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
माञ्चैवान्तःशरीरस्थं तान् विद्धयसुरनिश्चयान् ॥ गीता, १७ । ६ ।

जो आसुरिक साधक हैं वे शरीरस्थ पांच भूतों को और शरीर में स्थित मुझ (जीवरूप ईश्वर) को भी अपनी दुर्बुद्धि के कारण क्लेश देते हैं ।'

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् । गीता, १५ । ११ ।
आत्मनि = स्वस्यां बुद्धौ । शङ्कर ।

'यतनशील योगि-गण बुद्धि में अवस्थित (जीवरूपी) परमात्मा का दर्शन करते हैं ।'

फिर, गीता ने आत्मा के निर्लेपत्व का भी जिस तरह ज़िक्र किया है उससे भी यही मालूम होता है कि गीता ब्रह्म और आत्मा को एक ही मानती है ।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥
यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥ गीता, १३ । ३१-३२ ।

'वह अव्यय परमात्मा अनादि और निर्गुण है इसीलिए देह में रहते हुए भी वह निष्क्रिय और निर्लेप रहता है । जिस तरह सूक्ष्म होने के कारण आकाश सब जगह व्याप्त रहने पर भी किसी से नहीं मिलता, उसी तरह आत्मा समस्त देहों में व्याप्त होते हुए भी लिप्त नहीं होती ।'

आत्मा बहुत नहीं एक है, इसको भी गीता साफ़ साफ़ कहती है ।

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥ गीता, १३ । ३३ ।

'हे भारत, जिसतरह एक सूर्य्य समस्त जगत् को प्रकाशित करता है वैसे ही एक क्षेत्रज्ञ समस्त क्षेत्र को प्रकाशित करता है ।'

भागवत में भी ऐसा ही लिखा है,—

स्वयोनिषु यथा ज्योतिरेकं नाना प्रतीयते ।
योनीनां गुणवैषम्यात् तथात्मा प्रकृतौ स्थितः ॥

भागवत, ३ । २८ । ४३ ।

प्रकृतौ = देहे । श्रीधर ।

जिस तरह एकही अग्नि आधार के गुण-भेद से विभिन्न रूपों में प्रतीयमान होती है उसी तरह देह-स्थित आत्मा गुणों के वैषम्य से विभिन्न रूपों में प्रतीयमान होती है ।'

जीव ब्रह्म का ऐक्य गीता के दूसरे अध्याय के सत्रहवें श्लोक से भी ख़ूब साफ़ प्रकट होता है । अर्जुन को कौरवों को मारने में जब भय हुआ तब भगवान् ने कहा,—

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्त्तुमर्हति ॥

'जिसके द्वारा यह जगत् व्याप्त है वह अविनाशी है, उस अव्यय का नाश कौन कर सकता है ।'

ब्रह्म ही सर्वव्यापी है, जीव के विनाशप्रसङ्ग में उस (जीव) को सर्वव्यापी सर्वगत आदि कहने से उसका ब्रह्म के साथ ऐक्य ही सूचित होता है । गीता में भगवान् को अनेक जगह जगद्व्यापी कहा है,—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥
समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥
गीता, १३। २७, २८।

'परमेश्वर सब भूतों में समान रूप से है, भूतों के नष्ट होने पर भी उसका नाश नहीं होता, यह जो जानता है वही ठीक जानता है। ईश्वर सर्वत्र समान भाव से रहता है—यह जान कर वह अपने हाथ से अपना नाश नहीं कर लेता और इसलिए उसको उत्तम गति मिलती है।'

दूसरी जगह गीता कहती है—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्त्तिना।—गीता, ९। ४
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।—गीता, ७। ७।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्।—गीता, ८। २२

अर्थात् 'अव्यक्त रूप से मैंने जगत् को व्याप्त कर रखा है।' 'सूत में जैसे मणियाँ गुथी रहती हैं उसी तरह मुझमें जगत् है।' 'जिसमें ये सब भूत हैं और जिसकी सामर्थ्य से यह सब चल रहा है।'

उपनिषद् में जिस तरह जीव-तत्त्व समझाया है उसमें और गीता में इस विषय पर कोई मतभेद नहीं। गीता के वचन तो हम पढ़ चुके अब उपनिषदों में से कुछ प्रमाण लीजिए।

स वा एष महान् अज आत्मा अजरोऽमरोऽमृतोऽभयः। बृहदारण्यक ४। ४। २२
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः। कठ, २। १८।
न जायते म्रियते वा विपश्चित्। कठ, २।१७।
न जीवो म्रियते इत्यादि। छान्दोग्य, ६।११।३।

'आत्मा (जीव) अजर है, अमर है, महान् है, अज है, मृत्यु-हीन है और अभय है' ।

'जीव जन्मरहित है, नित्य है, सनातन है, पुराण है ।' 'जीव जन्म भी नहीं लेता, मरता भी नहीं । जीव मरण-रहित है ।'*

जीव निर्विकार है और निष्क्रिय है—इसका प्रमाण तो हमें मिल गया । नित्य, अजर, शाश्वत, पुराण आदि शब्द ही यह बात बताते हैं ।

इस विषय में उपनिषद् और भी साफ़ साफ़ कहते हैं,—

एतद्वै तदक्षरं ब्राह्मणाः ।
अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम् । बृहदारण्यक, ३ । ८ । ८ ।
अथ परा यथा तदक्षरमधिगम्यते । मुण्डक, १।१।५।
नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम् । श्वेत, ६।१३।

'इसी अक्षर को ब्राह्मण अस्थूल, अनणु, अह्रस्व और अदीर्घ कहते हैं ।'

'जिस विद्या से अक्षर को जाना जाता है वह परा कहाती है ।'

---

*बादरायण ने २ । ३ । १६ सूत्र में (चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात् तद्व्यपदेशो भाक्तः तद्भावभावित्वात्) इस विषय का विचार किया है । उनका सिद्धान्त भी यही है कि चराचर देहों का ही नाश और उत्पत्ति है जीव का न मरण है और न जन्म । देह से मिले जीव की जन्म-मृत्यु भाक्त कहाती है ।

''ननु लौकिको जन्ममरणव्यपदेशो जीवस्य दर्शितः सत्यं दर्शितो भाक्तस्त्वेष जीवस्य जन्ममरणव्यपदेशः । किमाशयः पुनरयं मुख्यो यदपेक्षया भाक्त इति उच्यते चराचरव्यपाश्रयः । स्थावरजङ्गमशरीरविषयौ जन्ममरणशब्दौ । शंकरभाष्य ।

'जीव नित्य का नित्य है, चेतन का चेतन है।'*

गीता के वचनों से हमको मालूम हुआ कि जीव सर्वव्यापी है। इस विषय में उपनिषद् भी यही कहते हैं—

आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः।
स वा एष महान् अज आत्मा।—बृहद्, ४।४।२२।
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।—श्वेत, ६।११।

'जीव आकाश की तरह सर्वगत और नित्य है। वह आत्मा (जीव) महान् और अज है।'

'वह सर्वव्यापी है, सब भूतों का अन्तरात्मा है।' इत्यादि †।

---

* इस विषय में बादरायण का सूत्र यह है—

"नात्मा श्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः।—२।३।१७ सूत्र।
उत्पत्त्यसम्भवात्।—२।२।४२ सूत्र।

अर्थात्, आत्मा की उत्पत्ति श्रुति से सिद्ध नहीं होती। श्रुति में आत्मा को नित्य बताया है। आत्मा जड़ नहीं चेतन—(चित् स्वरूप वा ज्ञानस्वरूप) है, बादरायण ने यह भी बताया है। ज्ञोऽत एव। २।३।१४। ब्र॰ सू॰

† जीव विभु है या अणु—बादरायण दूसरे अध्याय के तीसरे पाद के १९ से २३ सूत्रों में इस विषय का विचार करते हैं। इस विषय में उनका सिद्धान्त क्या है, यह मालूम करना बहुत मुश्किल है। उनका एक सूत्र है "नाणुरत-च्छ्रुतेरिति चेन्न इतराधिकारात्।' रामानुज इसको सिद्धान्तसूत्र समझते हैं। यदि यही सच है तब जीव का परिमाण अणु है। पर शंकराचार्य्य कहते हैं कि यह पूर्वपक्ष का सूत्र है। इसका उत्तरसूत्र है 'तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत्।' इसलिए शंकर के मत में बादरायण का सिद्धान्त कि जीव विभु है, महत् परिमाण है। निराकार वस्तु का परिमाण निरूपण करना सम्भव नहीं है। उसकी उपाधि को लक्ष्य करके उसका परिमाण बताना गौण रूप से ही हो सकता है। हृदय वा पुण्डरीक जो आत्मा की उपाधि है उस उपाधि को

गीता के मत में जीव अमेय है; मन, बुद्धि और इन्द्रियों के अगोचर है, अचिन्त्य है और अव्यक्त है। इस विषय में उपनिषद् के प्रमाण—

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टम्।
गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्। कठ, १।२।२२
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च। श्वेत, ६।११।
नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा। कठ, ६ १२।

'वह (आत्मा) बड़ो ही गहन और दुर्दर्श गुहा में रहता है, वह पुराण है।'

'वह साक्षी है, चित्स्वरूप है, उपाधिरहित है, निर्गुण है।'

'वह वाक्य, मन और इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य नहीं हो सकता।'

तो भी वह शुद्धबुद्धि और योगसिद्ध चित्त का लक्ष्य हो जाता है।

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः। मुण्डक, ३।१।९।

'यह सूक्ष्म आत्मा (विशुद्ध) चित्त का ज्ञेय बन जाता है।'

अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति। कठ, २।१२।

'अध्यात्मयोग द्वारा देव को जान कर धीर व्यक्ति सुख-दुःख को जीत लेता है।'

लक्ष्य करके आत्मा को अणु कहना असङ्गत नहीं मालूम होता। २।३।२४ ब्रह्मसूत्र में बादरायण जीव के हृदय की स्थिति के विषय से लक्ष्य करते हैं "अभ्युपगमात् हृदि हि। हृदि ह्येष आत्मा पठ्यते वेदान्तेषु" 'हृदि ह्येष आत्मा।' 'स वा एष आत्मा हृदि।' 'कतम आत्मेति योयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृदि अन्तर्ज्योतिः पुरुषः इत्याद्युपदेशेभ्यः।' शांकरभाष्य।

हृदा मनीषा मनसाभिगुप्तो
य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति । कठ, ६ । ६ ।

वह हृदय में संशय-रहित बुद्धि से दिखाई पड़ता है, उसको जान कर अमृतत्व की प्राप्ति होती है ।

कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् । कठ, ४ । २

अमृतत्व की इच्छा करनेवाला धीर व्यक्ति बाह्य विषयों से इन्द्रियों को हटा कर आत्मा के दर्शन करता है ।

गीता से उद्धृत प्रमाणों में हमने देखा कि आत्मा अकर्ता है पर भोक्ता है । इस विषय में उपनिषद् का उपदेश इस तरह है,—

ध्यायतीव लेलायतीव । बृहद्, ४।३।७।

जीव जिसका ध्यान करता है उसी को प्राप्त करता है ।

आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः । कठ, ३।४।

अर्थात् 'इन्द्रिय और मन के संयोग से ही जीव भोक्ता मालूम होता है वास्तव में वह असङ्ग और निर्लेप है ।

असङ्गो ह्ययं पुरुषः ।—बृहद् ४।३।१५।

पुरुष (जीव) असंग है । *

---

* बादरायण २।३।२२ सूत्र में (कर्त्ता शास्त्रार्थवत्वात्) आत्मा का कर्तृत्व स्थापित करते हैं, ३३ से ३९ सूत्र तक इसके समर्थन में अनेक युक्तियाँ देते हैं । उन युक्तियों को देख कर मालूम होता है कि सांख्यवादियों ने जो प्रकृति को कर्त्री बताया है बादरायण ने इन युक्तियों द्वारा उन्हीं का खण्डन किया है । बादरायण भी यह बात मानते हैं कि आत्मा वास्तव में कर्त्ता नहीं है और यह कि आत्मा में कर्तृत्व का सिर्फ़ अध्यास है । इसीलिए उन्होंने सूत्र बनाया है, यावदात्ममानित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात्, २।३।३० ब्र० सू० । इसके भाष्य में शङ्कराचार्य लिखते हैं, 'यावदेव चायं बुद्ध्युपाधिसम्बन्धस्तावत् जीवत्वं संसारि-

गीता से उद्धृत प्रमाणों से पता चला कि आत्मा बहु नहीं एक है। उपनिषद् तो साफ़ ही यह बात कहता है,—

आकाशमेकं हि यथा घटादिषु पृथग् भवेत्।
तथात्मैकोह्यनेकस्थो जलाधारेष्विवांशुमान्॥
एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्॥ ब्रह्मबिन्दु, ११।१२।

जिस तरह एक आकाश घटादि के भेद से पृथक् पृथक् मालूम होता है, जिस तरह एक सूर्य अनेक जलाशयों में अनेक दीखता है, उसी तरह एक आत्मा भिन्न भिन्न शरीरों में भिन्न भिन्न मालूम पड़ता है।

एक भूतात्मा ही अनेक भूतों में विराजमान है। जल में चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब की तरह वह एक ही अनेक रूपों में दिखाई पड़ता है। इसी आभास या प्रतिबिम्ब-वाद का समर्थन करने के लिए वहाँ बादरायण ने सूत्र बनाया है—

आभास एव च। २।३।५० सूत्र।

और भी—

अतएव चोपमा सूर्य्यकादिवत्। ३।२।१८ सूत्र।

शङ्कर और रामानुज दोनों ही मानते हैं कि बादरायण ने ये दोनों सूत्र ऊपर लिखी श्रुति पर लक्ष्य करके ही बनाये हैं। यदि

त्वञ्च। परमार्थतस्तु न जीवो नाम बुद्ध्युपाधिपरिकल्पितस्वरूपव्यतिरेके नास्ति'। यथा च तक्षोभयथा (२।३।४० सूत्र) इस सूत्र के प्रसंग में भारतीतीर्थ लिखते हैं— 'यथा जपाकुसुमसन्निधिवशात् स्फटिके रक्तत्वमध्यस्तं तथा अन्तःकरणसन्निधि-वशात्कर्तृत्वं आत्मन्यध्यस्यते।' किन्तु कर्त्ता होने पर भी जीव स्वतंत्र नहीं, वह है ईश्वर-परतन्त्र ही। इस बात का भी उपदेश बादरायण ने किया है। परान्तु तच्छ्रुतेः।२।३।४१ ब्र० सू०।

यह ठीक है तब तो बादरायण के मत में भी आत्मा बहु न होकर एक ही है।

गीता के मत में हमने देखा कि ब्रह्म और जीव अभिन्न हैं। वेद के महावाक्य भी इस सत्य की पुष्टि करते हैं। "तत्त्वमसि," "सोऽहं," "अहं ब्रह्मास्मि" "अयमात्मा ब्रह्म" ये चारों वेदों के चारों वाक्य जीव और ब्रह्म का ऐक्य प्रतिपन्न करते हैं।*

बादरायण ने जिस तरह इस प्रसंग की आलोचना की है उसको देख कर यही मालूम होता है वह जीव और ब्रह्म की ऐक्यता का ही अनुमोदन करते हैं। पहले तो, बादरायण कहते हैं कि जीव, ब्रह्म का अंश है,—

अंशो नानाव्यपदेशादित्यादि।२।३।४३ सूत्र।

अंश और अंशी में स्वरूपगत कोई भेद नहीं हो सकता, हाँ, उपाधिगत होता है। इसलिए इससे यही सिद्ध हुआ कि जीव और ब्रह्म एक हैं।

यहाँ यह आपत्ति हो सकती है कि यदि जीव और ब्रह्म

---

* इस प्रसंग में कौषीतकी उपनिषद् का यह वचन भी ध्यान देने योग्य है,—

एष लोकपालः। एष लोकाधिपतिः। एष सर्वेशः सम आत्मेति विद्यात्। सम आत्मेति विद्यात्। कौषीतकी, ३।८।

'यह (ईश्वर) लोकपाल है, लोकों का स्वामी है, सब का ईश्वर है, यही हमारी आत्मा है, यही हमारी आत्मा है। यही जानो'।

स एष आदित्ये पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहमस्मीति। छान्दोग्य, ४।११।१

'सूर्य्य में जो पुरुष दिखाई देता है, वह मैं ही हूँ, वह मैं ही हूँ।'

अभिन्न हैं तो जीव के दुःखों से ब्रह्म भी दुखी होगा । इस का उत्तर बादरायण देते हैं,—

प्रकाशादिवत् नैवं परः ।२।३।४६ सूत्र ।

जिस तरह सूर्य्य की किरणें उपाधि-भेद से सीधी टेढ़ी दिखाई देती हैं पर सूर्य्य पर इनका कुछ प्रभाव नहीं पड़ता, इसी तरह ब्रह्मांश जीव को दुःख होने पर भी ब्रह्म दुखी नहीं होता ।

एवमविद्याप्रत्युपस्थापिते ब्रह्माद्युपहिते जीवाख्येंऽशे दुःखायमानेऽपि न तद्वान् ईश्वरो दुःखायते ।—शङ्कर ।

फिर आपत्ति हो सकती है कि जीव यदि ब्रह्म का अंश है तो शास्त्र में उसके लिए विधि निषेध का उपदेश क्यों किया है ? एक जीव के कर्म्म दूसरे जीव के साथ क्यों नहीं मिल जाते ? इसके उत्तर में बादरायण कहते हैं कि देह के सम्बन्ध के कारण । जिस तरह अग्नि एकही है पर श्मशान की अग्नि हेय है और होम की अग्नि उपादेय है—इसी तरह यहाँ पर भी ।

अनुज्ञापरिहारौ देहसम्बन्धात् ज्योतिरादिवत् । २।३।४८ सूत्र ।

फिर यह आपत्ति बाक़ी रही कि जीव और ब्रह्म के एक होने पर जैसा कि ऊपर कहा गया है जीवों के कर्म्म आपस में मिश्रित क्यों नहीं होते ? इसके उत्तर में बादरायण कहते हैं—

असन्ततेश्चाव्यतिकरः ।

आभास एव च । २।३।४९—५० ब्र० सू० ।

उपाधितंत्रो हि जीव इत्युक्तम् । उपाध्यसन्तानाच्च नास्ति जीवसन्तानः । ततश्च कर्म्मव्यतिकरः फलव्यतिकरो वा न भविष्यति । आभास एव चैष जीवः परस्यात्मनो जलसूर्य्यकादिवत् प्रतिपत्तव्यः । न स एव साक्षान्नापि वस्त्वन्तरम् ।

अतश्च यथा नैकस्मिन् जलसूर्य्यके कम्पमाने जलसूर्य्यकान्तरं कम्पते। एवं नैकस्मिन् जीवे कर्म्मफलसम्बन्धिनि जीवान्तरस्य तत्सम्बन्धः। एवमव्यतिकर एव कर्म्मफलयोः।—शङ्कर-भाष्य।

जीव उपाधितंत्र है। जब उपाधि भी विभिन्न हैं और वे आपस में मिश्रित नहीं होतीं तब जीव क्यों मिश्रित होंगे? जीव और उनके कर्म्म इस लिए मिश्रित नहीं होते। जिस तरह जल में सूर्य्य का प्रतिबिम्ब है उसी तरह जीव में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है। जीव ठीक ब्रह्म भी नहीं है और ब्रह्म से भिन्न भी नहीं है। जिस तरह सूर्य्य का प्रतिबिम्ब एक जल में तो काँप रहा है पर दूसरे जल में नहीं काँप रहा, इसी तरह एक जीव का कर्म्म-सम्बन्ध दूसरे जीव से नहीं होता। इस लिए जीवों के कर्म्म-साङ्कर्य्य की आशङ्का अमूलक है।*

यह भी सच है कि बादरायण ने दूसरी जगह जीव से ब्रह्म को विशेष बताया है पर वहाँ यह नहीं कहा गया है कि जीव ब्रह्म से भिन्न कोई चीज़ है। बादरायण, प्रथम इस तरह पूर्वपक्ष खड़ा करते हैं—

इतरव्यपदेशात् हिताकरणादिदोषप्रसक्तिः।२।१।२१ सूत्र।

जीव और ब्रह्म यदि एकही है, तो जीव ही सृष्टिकर्त्ता हुआ। उसने अपने आपको—बाँधने के लिए क्यों इस देह को बनाया? निर्म्मल होकर उसने इस मलिन देह में क्यों प्रवेश

* इस सम्बन्ध में बहुतसी आपत्तियों के उत्तर देकर बादरायण ने नीचे लिखे तीन सूत्रों की रचना की है—अदृष्टानियमात्। अभिसंध्यादिष्वपि चैवम्। प्रादेशादिति चेतनान्तर्भावात्। ब्र० सू० २।३।५१-५३।

किया ? यदि किया ही था तो इन दुःख देने वाली चीज़ों की बजाय सुखप्रद चीज़ें क्यों न बनाईं ? यदि जीव को ब्रह्म से अभिन्न माना जाय तो उसको हित का न करने वाला और अहित का करने वाला मानना पड़ेगा। * इसके उत्तर में बादरायण कहते हैं—

अधिकन्तु भेदनिर्देशात् ।२।१।२२ सूत्र ।

'यत् सर्वज्ञं सर्वशक्ति ब्रह्म नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं शारीरादधिकं अन्यत् तद्वयं जगतः स्रष्टृक्रमः । न तस्मिन् हिताकरणादयो दोषाः प्रसज्यन्ते, × × × न तु तं (शारीरं) वयं जगतः स्रष्टारं ब्रूमः । कुत एतत् ? भेदनिर्देशात् । शङ्करभाष्य ।

'सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, नित्य, शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वभाव ब्रह्म—जो जीव से अधिक है—वही जगत् का सृष्टिकर्त्ता है। जीव, जगत् को बनाने वाला नहीं है। क्योंकि वह जीव से भिन्न है। इस लिए ब्रह्म में हिताकरण आदि दोष नहीं आ सकते।' परवर्त्ती सूत्र में भी बादरायण ने जीव को ब्रह्म से अधिक कहा है, उसका समन्वय भी इसी रूप में किया जा सकता है। वह सूत्र यह है—

अधिकोपदेशात् तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात् ।—३।४।८ सूत्र ।

अधिकस्तावद् शारीराद् आत्मनोऽसंसारी ईश्वरः कर्तृत्वादिसंसारिधर्म्मरहितोऽपहतपाप्मत्वादिविशेषणः परमात्मा वेद्यत्वेनोपदिश्यते वेदान्तेषु । × × × तथा हि तमधिकं शारीरादीश्वरं आत्मानं दर्शयन्ति श्रुतयः । शङ्करभाष्य ।

---

* तस्माद् ब्रह्मणः स्रष्टृत्वं तत् शारीरस्यैव इत्यतः स्वतंत्रः कर्त्ता सन् हितमेवात्मनः सौमनस्यकरं कुर्य्यान्नाहितं जन्ममरणजरारोगाद्यनेकानर्थजालम् । न हि कश्चित् अपरतंत्रो बन्धनागारमात्मनः कृत्वानुप्रविशति । न च स्वयमत्यन्तनिर्म्मलः सन् अत्यन्तमलिनं देहमात्मत्वेनोपेयात् । कृतमपि कथञ्चित् यद् दुःखकरं तदिच्छया जह्यात् । सुखकरमेवोपाददीत ।—शङ्करभाष्य ।

'जीव (देही, आत्मा) की अपेक्षा ईश्वर (परमात्मा) बड़ा है। क्योंकि वेदान्त-वाक्यों में उसको असंसारी, कर्तृत्व आदि संसार-धर्म्म-रहित, पापहीन आदि विशेषणों से विशेषित किया है। श्रुति ने जीव से ईश्वर को बड़ा बताया है*।

जीव और ब्रह्म का यह भेद स्वरूपगत नहीं उपाधिगत है। इस भाव में जीव और ईश्वर भिन्न ज़रूर हैं, किन्तु अंशी और अंश में, बिम्ब और प्रतिबिम्ब में, स्वरूपतः कोई भेद नहीं हो सकता। अंश की अपेक्षा अंशी, ज़्यादा है, प्रतिबिम्ब की अपेक्षा बिम्ब अधिक है, छाया की अपेक्षा काया अधिक है, पर उनमें क्या स्वरूप का भेद रह सकता है ? जीव और ईश्वर का भेद ऐसा ही है। इसीलिए इस सूत्र के भाष्य में शङ्कराचार्य्य लिखते हैं,—

"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यः" "सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः" "सता सौम्य तदा सम्पन्नो भवति" "शरीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनान्वारूढ़" इत्येवंजातीयकः कर्तृकर्मादिभेदनिर्देशो जीवादधिकं ब्रह्म दर्शयति। ननु अभेदनिर्देशोऽपि दर्शितः 'तत्त्वमसि' इत्येवंजातीयकः। कथं भेदाभेदौ विरुद्धौ संभवेयाताम्। नैष दोषः। आकाशघटाकाशन्यायेनोभयसम्भवस्य तत्र तत्र

---

* बादरायण ने और प्रसंग में भी जीव और ब्रह्म में भेद बताया है, नेतरोऽनुपपत्तेः। भेदव्यपदेशाच्च। (ब्रह्मसूत्र, १।१।१६-१७) पर इस सूत्र का अभिप्राय दूसरा है, 'तस्माद्वा एतस्माद् विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः, तैत्तिरीय उपनिषद् के इस वचन में जीव या ब्रह्म किसकी ओर लक्ष्य है ? बादरायण कहते हैं ब्रह्म, जीव नहीं है। क्यों ? जीव मानने से अनुपपत्ति होगी। और भी जगह जीव और आनन्दमय में भिन्नता दिखाई गई है। 'यस्तावद्दानन्दमयाधिकारे रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति इति जीवानन्दमयौ भेदेन व्यपदिशति।—शङ्करभाष्य।

प्रतिष्ठापितत्वात् । अपि च यदा तत्त्वमसीत्येवं जातीयकेन अभेदनिर्देशेनाभेदः प्रतिबोधितो भवति अवगतं भवति तदा जीवस्य संसारित्वं ब्रह्मणश्च स्रष्टृत्वम् ।"

श्रुति में कहीं तो तत्त्वमसि प्रभृति वाक्यों द्वारा जीव और ब्रह्म की अभिन्नता दिखाई है और कहीं कर्त्ता कर्म्म आदि का निर्देश कर के ब्रह्म को जीव से अधिक बताया है । "आत्मा का ही दर्शन, श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना उचित है ।" "आत्मा का ही अन्वेषण और अनुसन्धान करना चाहिए" "हे सौम्य, उस समय (जीव) सत् (ब्रह्म) के साथ संयुक्त होता है" "प्राज्ञ आत्मा (ब्रह्म) ने देही आत्मा (जीव) को घेर रक्खा है ।" इत्यादि । जीव और ब्रह्म भिन्न भी हैं और अभिन्न भी—यह बात किस तरह मुमकिन है ? उत्तर है, 'जिस तरह घटाकाश और महाकाश भिन्न भी हैं और अभिन्न भी । जब तत्त्वमसि आदि अभेद दिखाने वाले उपदेश द्वारा अभेद की प्राप्ति होती है तब जीव का संसारित्व और ब्रह्म का स्रष्टृत्व दूर हो जाता है ।' तो यही साबित हुआ कि जीव और ब्रह्म वास्तव में अभिन्न हैं, उन में जो भेद है वह उपाधि से है ।

किन्तु यह भी विचारणीय विषय है कि जीव और ब्रह्म की एकता प्रतिपादन करनेवाली इन श्रुतियों का यथार्थ मर्म न समझ कर अज्ञ, दुर्बल, दुःख-क्लिष्ट और पापविद्ध जीव शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सर्वज्ञ, निर्मल और सच्चिदानन्द ब्रह्म के साथ अपनी तुलना करने लगते हैं । उसका यह फल होता है, कि, समाज में अनेक उपद्रव उठने लगते हैं । कर्म्महीनता, कठोरता, दाम्भिकता, आध्यात्मिक स्वार्थपरता, अनधिकारी की संसार-विमुखता आदि इसी बीज के

फलवान् वृक्ष हैं । * शास्त्र में लिखा है कि ब्रह्म अग्नि है और जीव चिनगारियाँ (spark) हैं ।

> यथा सुदीप्तात् पावकात् विस्फुलिङ्गाः
> सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः ।
> तथाक्षरात् विविधाः सोम्य भावाः
> प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्ति ॥—मुण्डक, २ । १ । १ ।
> [भावाः = जीवाः ।]

'यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिंगा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्व्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति ।—बृहदारण्यक, २।१।२०।

'जिस तरह धधकती हुई अग्नि में से हज़ारों चिनगारियाँ निकलती हैं उसी तरह अक्षर पुरुष (ब्रह्म) में से विविध जीव उत्पन्न हो कर उसी में लीन होते हैं ।'

'जिस तरह अग्नि में से चिनगारियाँ निकलती हैं उसी तरह उस परमात्मा में से समस्त प्राण, समस्त लोक, समस्त देव, समस्त भूत निर्गत होते हैं ।†'

---

* संस्कृत के एक कवि कहते हैं, कि किसी पतिव्रता स्त्री ने दूसरी व्यभिचारिणी स्त्री को समझाया और उसके पापकर्म्म की निन्दा की । सब कुछ सुन कर वह दुष्टा अद्वैतवाद की दुहाई देकर बोली कि पतियों और उपपतियों में जब एक ही ब्रह्म विराजते हैं तो उन में भेद-बुद्धि करना बड़ी भारी मूर्खता का काम है ।

† अथापि स्यात् परस्यैव तावदात्मनोंऽशो जीवोऽग्नेरिव विस्फुलिंगाः तत्रैवं सति यथाग्निविस्फुलिंगयोः समाने दहनप्रकाशनशक्ती भवत एवं जीवेश्वरयोरपि ज्ञानैश्वर्य्यशक्ती । × × अत्रोच्यते । सत्यपि जीवेश्वरयोरंशांशिभावे प्रत्यक्षमेव जीवस्य ईश्वरविपरीतधर्म्मत्वम् । ३ । २ । ५ सूत्र पर शाङ्करभाष्य ।

जीव ब्रह्म का अंश है—गीता साफ़ यह बात कहती है—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः । गीता, १५ । ७ ।

'मेरा ही अंश जीवलोक में सनातन जीव के रूप में स्थित है ।'

ब्रह्मसूत्र का भी यही मत है,—

अंशो नानाव्यपदेशात् । २ । ३ । ४७ सूत्र ।

ब्रह्म सच्चिदानन्द है, जीव जब ब्रह्म है तब वह भी सच्चिदानन्द है ।

सच्चिदानन्दरूपोऽहं नित्यमुक्तस्वभाववान् ।

'जीव नित्यमुक्त स्वभाव है, सच्चिदानन्द रूप है ।'

जीव और ब्रह्म में स्वरूपगत कोई भेद नहीं है । उनमें भेद यही है कि ब्रह्म में सत् भाव, चित्भाव और आनन्दभाव सुव्यक्त है किन्तु जीव में सत्भाव, चित्भाव और आनन्दभाव, अव्यक्त है । इसी लिए बादरायण सूत्र बनाते हैं:—

अधिकन्तु भेदनिर्देशात् ।२।१।२२

'जीव से ब्रह्म अधिक है, श्रुति ने दोनों में भेद बताया है ।'

जिस शक्ति में सत्भाव का प्रकाश होता है उसका नाम सन्धिनी है, चित्भाव का जिस शक्ति में प्रकाश होता है उसका नाम संवित् है और आनन्द भाव का प्रकाश जिस शक्ति में होता है उसका नाम ह्लादिनी है । इनके दूसरे नाम—ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति और क्रियाशक्ति हैं । संवित् = ज्ञानशक्ति, ह्लादिनी = इच्छाशक्ति और सन्धिनी = क्रियाशक्ति है । श्वेताश्वतर उपनिषद् में भगवान् का परिचय देते हुए कहा है—

पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च । श्वेत, ६ । ८ ।

उसकी परम शक्ति के बहुत रूप सुने जाते हैं; उसकी ज्ञान-शक्ति, बल-(इच्छा) शक्ति और क्रियाशक्ति स्वाभाविक हैं।

विष्णुपुराण में लिखा है—

ह्लादिनी सन्धिनी संवित् त्वय्यैके सर्वसंस्थितौ ।

"ह्लादिनी, सन्धिनी और संवित् ये तीनों शक्तियाँ अद्वितीय भगवान् में प्रकाशित हैं।" किन्तु जीव में ये अव्यक्त हैं। जीव में जब इन तीनों शक्तियों का पूर्ण प्रकाश होता है—जीव में जिस समय सत् भाव, चित् भाव और आनन्द भाव पूर्ण रूप से व्यक्त होता है उस समय जीव ईश्वर हो जाता है । तभी जीव कह सकता है—

सोऽहं, अहं ब्रह्मास्मि ।

मैं ही वह हूँ, मैं ही ब्रह्म हूँ ।'

क्योंकि श्रुति भी कहती है,—

ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति ।

'जीव ब्रह्म को जान कर ब्रह्म हो जाता है ।'

किन्तु श्रुति यह भी कहती है कि ब्रह्म होकर ही ब्रह्म को जाना जाता है ।

ब्रह्म सन् ब्रह्म अवैति ।

इसका तात्पर्य्य यह है कि ब्रह्म को जानने से पहले जीव को ब्रह्म होना पड़ता है । जीव में जो अव्यक्त-शक्ति है, अव्यक्त सच्चिदानन्द भाव है उसको पहले सुव्यक्त करना पड़ता है । छोटी सी चिनगारी को बृहत् अग्नि बनाना पड़ता है । तभी जीव ब्रह्म होता है । तभी जीव "सोऽहं", "अहं ब्रह्मास्मि" कहने का अधिकारी होता है ।

साधारण जीव जिसको आत्मा जान कर अनुभव करते हैं वह असल में आत्मा नहीं, आत्मा का प्रतिबिम्ब मात्र है। यह आत्मा कभी ब्रह्म नहीं है। ब्रह्म के साथ इसको अभिन्न जानना बड़ी भारी भूल है। किन्तु हमारे हृदय के आकाश में भगवान् छिपे हुए हैं उसी को गुहाहित गह्वरस्थ पुराण आदि विशेषणों से उपनिषद् विशेषित करते हैं (गुहाहितं गह्वरस्थं पुराणं—कठ) वही असली आत्मा है। यही आत्मा ब्रह्म है। इसी आत्मा के वास के कारण देह को ब्रह्मपुर कहते हैं।*

अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म, दहरोऽस्मिन्नन्तर आकाशः। तदस्मिन् यदन्तः तद् अन्वेष्टव्यं तद् विजिज्ञासितव्यम्। छान्दोग्य। ८।१।१।

'इस ब्रह्मपुर में छोटा सा एक पुण्डरीक (कमल) रूप एक घर है, उसमें क्षुद्र अन्तराकाश है, उसमें जो रहता है उसी को ढूँढ़ना चाहिए; उसी का अनुसन्धान करना कर्त्तव्य है।

यह अन्तराकाश क्या है? शङ्कराचार्य्य कहते हैं, यह आकाश ही ब्रह्म है। वेदान्त की परिभाषा में हृदयस्थ आत्मा का नाम दहराकाश है। यही आकाश आत्मा है—उपनिषद् में भी यह बात साफ़ साफ़ लिखी है—

एष आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः। छान्दोग्य, ८।१।५।

यही आत्मा है, यह पापहीन है, जराहीन है, मृत्युहीन है, क्षुधा-तृष्णाहीन है, सत्यकाम और सत्यसङ्कल्प है।

---

*जर्मन तत्त्वविद् नोवालिस (Novalis) ने शरीर को Tabernacle of God कहा है।

उपाधि की सूक्ष्मता के कारण ही आत्मा को अणु कहते हैं—

अणुरेष आत्मा ।

इसी को लक्ष्य करके कहा है,—

अणोरणीयान्—

वह अणु से भी अणु है और वह

महतो महीयान् ।

बड़े से भी बड़ी है ।

क्योंकि जो आत्मा हृदयाकाश में विराज रही है वही जगत् में सब जगह पुर रही है । इसी लिए छान्दोग्य उपनिषद् कहता है,—

यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः । उभे अस्मिन् द्यावा-पृथिवी अन्तरेव समाहिते उभावग्निश्च वायुश्च सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राणि यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन् समाहितमिति ।

छान्दोग्य, ८।१।३।

वह अन्तराकाश भी इसी आकाश की तरह बड़ा है । उसमें भी स्वर्ग, मर्त्य, अग्नि, वायु, चन्द्र, सूर्य्य, विद्युत् और नक्षत्र हैं । जो कुछ है, जो कुछ नहीं है, वह सब उसके भीतर है ।

ब्रह्म ही आत्मा के रूप में हृदय में रहते हैं,—श्रुति में और जगह भी यह बात आई है—

कतम आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृदि अन्तर्ज्योतिः पुरुषः ।

बृहदारण्यक ।

'आत्मा क्या है ? इसके उत्तर में कहते हैं, वह चिन्मय अन्तर्ज्योति पुरुष है, जो प्राणों के बीच हृदय में विराज रहा है ।'

स वा एष आत्मा हृदि । तस्य एतदेव निरुक्तम् । हृदि अयमिति । तस्मात् हृदयम् । छान्दोग्य, ८।३।३।

वह आत्मा हृदय में विराजमान है। उसका निरुक्त (Etymology) इस प्रकार है। वह हृदय में है, इसी लिए उसको हृदय का हृदय कहते हैं।

हृदय के दहराकाश में ब्रह्म अधिष्ठान करता है—बादरायण भी यह बात मानते हैं,—

दहर उत्तरेभ्यः।

इसके भाष्य में शङ्कराचार्य्य कहते हैं, हृदय में जो दहराकाश है—इसके द्वारा भौतिक आकाश को, जीव को या परमात्मा को किसको लक्ष्य किया है? उनका सिद्धान्त है कि परमात्मा को ही लक्ष्य किया है। (स उत्तरेभ्यो हेतुभ्यः परमेश्वरः—इति)

अभ्युपगमात् हृदि हि। २।३।२५ ब्र० सूत्र।

गीता में भी यह बात बार बार कही गई है—

हृदि सर्वस्य धिष्टितम्। गीता, १३।१७
सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टः। गीता, १५।१५
ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। गीता, १८।६१।

'वह सब के हृदयों में अधिष्ठित है, सब के हृदयों में सन्निविष्ट है, ईश्वर सबके हृदयों में वास करता है।'

जिस तरह ज्योतिर्मय सूर्य्य का प्रतिबिम्ब दर्पण में पड़ कर अन्य स्वच्छ पदार्थों में भी अपनी आभा फैलाता है, वह आभा सूर्य्य भी नहीं है, सूर्य्य का प्रतिबिम्ब भी नहीं है; उसी तरह हृदिस्थित (गुहाहित) आत्मा पहले बुद्धि में या आनन्दमय कोष में प्रतिबिम्बित होता है। इसी को लक्ष्य में रख कर बादरायण ने सूत्र बनाया है—

आभास एव च। २।३।१ ब्र० सू०।
अतएव चोपमा सूर्यकादिवत्। ३।२।१८ ब्र० सू०।

'जल में जिस तरह सूर्य्य का प्रतिबिम्ब होता है उसी तरह बुद्धि में परमात्मा का प्रतिबिम्ब होता है। यह प्रतिबिम्ब ही जीव है।

इसी जीवरूपी प्रतिबिम्ब की छाया फिर विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय और अन्नमय कोष में पतित होकर आत्मा के रूप में आभासित होती है।*

आत्मा के प्रतिबिम्ब की छाया को ही हम असली आत्मा समझते हैं। साधारणतः अन्नमय कोष के चिदाभास (जिसको

---

* Suppose, for instance, we compare the Logos itself to the sun. Suppose I take a clear mirror in my hand, catch a reflection of the sun, make the rays reflect from the surface of the mirror—say upon a polished metallic plate—and make the rays which are reflected in their turn from the plate fall upon a wall. Now we have three images, one being clearer than the other and one being more resplendent than the other. I can compare the clear mirror to *Karana Sareera*, the metallic plate to the astral body, and the wall to the physical body. In each case a definite *bimbam* is formed and that *bimbam* or reflected image is for the time being considered as the Self. The *bimbam* formed in the astral body gives rise to the idea of Self in it, when considered apart from the physical body; the *bimbam* formed in the *Karana Sareera* gives rise to the most prominent form of individuality that man possesses. ("Notes on the Bhagvad Gita" by Subba Rao, p. 19).

Brain Consciousness कहते हैं) को ही हम आत्मा समझते हैं। यदि कुछ और आगे बढ़ें तो प्राणमय, मनोमय या विज्ञानमय कोष के चिदाभास (Mind intellect) या (Will) को आत्मा समझ लेते हैं। इसके ऊपर हम नहीं उठ सकते। पर इनमें कोई भी असली आत्मा नहीं है। ये Lower Self हैं। Higher Self नहीं हैं, ये चिदाभास हैं—चिन्मात्र नहीं हैं, यह चिदाभास जिस समय चिन्मात्र के साथ मिल जाता है, यह प्रतिबिम्ब जिस समय बिम्ब के साथ एकीभूत हो जाता है यह Lower Self जिस समय Higher Self के साथ निमज्जित हो जाती है उसी समय जीव कह सकता है "सोऽहम्" "अहं ब्रह्मास्मि"।*

बादरायण कहते हैं कि यह प्रतिबिम्ब भूत जीव नित्य ही सुषुप्ति में विश्वभूत जीव के साथ मिलता है और फिर जागते ही ब्रह्म से अलग हो जाता है।

तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च।
अतः प्रबोधोऽस्मात्। ब्र० सू० ३।२।७—८।

बादरायण का यह मत श्रुति-सिद्ध है। उपनिषद् में अनेक रूप में इसका उपदेश दिया गया है;

य एषोऽन्तर्हृदये आकाशस्तस्मिन् शेते। बृहद्, २।१।१७।
सत्य सोम्य तदा सम्पन्नो भवति। छान्दोग्य, ३।८।१।

---

*इसी विषय पर "Voice of the Silence" (translated by H. P. B.) नामक ग्रन्थ में लिखा है—And now the self is lost in Self, thyself unto Thyself, merged in that Self from which thou first didst radiate.

Where is thy individuality Lanoo, where the Lanoo himself? It is the spark lost in the fire, the drop within the ocean, the ever present ray become the All and the Eternal Radiance.

सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एवं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति। छान्दोग्य, ८।३।२।
सत आगम्य न विदुः सत आगच्छामहे ३।१६।२

'अन्तर्हृदय में जो आकाश है वहाँ जीव सोता है। उस समय वह सत् (ब्रह्म) के साथ मिला रहता है। सभी जीव रोज़ ब्रह्म-लोक को प्राप्त होते हैं, पर वहाँ से लौट आते हैं और इस बात को वे नहीं जानते'।

किन्तु इस मिलन में विच्छेद है। सुषुप्ति में जीव ब्रह्म में मिलता है, फिर जगने पर अलग होता है! जिस तरह जल में ग़ोता लगा कर फिर ऊपर उठना होता है। जो जीव सुषुप्ति में ब्रह्म में लीन होते हैं, सुषुप्ति भङ्ग होने पर उनका फिर उत्थान होता है।

स एव तु कर्म्मानुस्मृतिं शब्दविधिभ्यः। ब्रह्मसूत्र, ३।२।६।

इस ज़रा देर के मिलन से जीव का कल्याण नहीं होता। जिस सुषुप्ति में जागरण नहीं है, जिस मिलन में विच्छेद नहीं है, जिस ग़ोते में उत्थान नहीं है जीव उसी को चाहता है। यह मिलन जीव को उसी समय प्राप्त होता है जिस समय जीव ब्रह्म के साथ एकत्व की साक्षात् उपलब्धि करता है।

आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च।—४।१।३ ब्र० सू०।

"अहं ब्रह्मास्मि" "अयमात्मा ब्रह्म" इत्यादि महावाक्यैस्तत्त्वविद् आत्मत्वेनैव ब्रह्म गृह्णन्ति। तथा "तत्त्वमसि" इत्यादिमहावाक्यैः स्वशिष्यान् ग्राहयन्त्यपि।—भारतीतीर्थ।

'तत्त्वज्ञानी "मैं ही ब्रह्म हूँ" "यह आत्मा ब्रह्म है" इत्यादि महा-वाक्यों द्वारा ब्रह्म को आत्मा के रूप में ग्रहण करते हैं और तत्त्वमसि आदि महावाक्यों द्वारा शिष्यों को भी ग्रहण कराते हैं।'

दूसरे मुण्डक में यही तत्त्व रूपक की भाषा में उपदिष्ट हुआ है,

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः फलं स्वादु अत्ति, अनश्नन् अन्योऽभिचाकशीति। समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नः। अनीशया शोचति मुह्यमानः। जुष्टं यदा पश्यति अन्यमीशं अस्यमहिमानमिति वीत-शोकः॥

'एक वृक्ष पर दो सुन्दर पक्षी बैठे हैं। वे दोनों आपस में मित्र हैं। उनमें से एक मीठे फल खाता है। दूसरा कुछ नहीं खाता, वह देखता रहता है। एक ही वृक्ष में एक (जीव) तो ईश्वर-भाव के अभाव के कारण मोहवश शोक करता है। पर जिस समय वह दूसरे (ईश्वर) को देख लेता है उस समय वह उसकी महिमा को अनुभव करके शोक से अतीत हो जाता है।'

जो अनीश है, जो शोकाधीन है, वही जीव (Lower Self) है: जो ईश्वर महिमान्वित है, कूटस्थ है, हृदय में विराजता है वही ब्रह्म (Higher Self) है। इसी को लक्ष्य करके श्रुति कहती है—

'ज्ञाज्ञौ द्वौ ईशानीशौ।'

'एक अज्ञ है, एक प्राज्ञ है; एक अनीश है, एक ईश है।'*

---

* This spiritual triad, as it is called. Atma-Buddhi-Manas, the Jivatma, is described as a seed, a germ, of divine life, containing the potentialities of its own heavenly father, its Monad, to be unfolded into powers in the course of evolution, ×× He is therein as a mere germ, an embryo, powerless, senseless, helpless while the Monad, on his own plane is strong, conscious, capable, so far as his internal life is concerned. The one is the Monad in eternity, the other is the Monad in time and space; the content of the Monad eternal is to become the extent of the Monad temporal and spatial.

Annie Besant's "A Study in consciousness" p. 65.

इसी पर बादरायण सूत्र बनाते हैं,—

पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्य्ययौ।३।२।५ सूत्र।

देहयोगाद् वा सोऽपि।—३।२।६ सूत्र।

'देह के साथ सम्बन्ध होने से जीव को बंधन, और परमेश्वर के अभिध्यान से मोक्ष होता है, या परमेश्वर से ही जीव का बंध और मोक्ष होता है।'

इसके भाष्य में शङ्कराचार्य्य कहते हैं,—

कस्मात् पुनर्जीवः परमात्मांश एव संतिरस्कृतज्ञानैश्वर्य्यो भवति? × × × सोऽपि तु ज्ञानैश्वर्य्यतिरोभावो देहयोगाद् देहेन्द्रियमनोबुद्धिं विषय-वेदनादियोगाद् भवति। अस्ति चात्र चोपमा। यथा चाग्नेर्दहनप्रकाशनसंपन्नस्यापि अरणिगतस्य दहनप्रकाशने तिरोहिते भवतो यथा वा भस्माच्छन्नस्य। × × अतोऽनन्य एवेश्वराज्जीवः सन् देहयोगाद् तिरोहितज्ञानैश्वर्य्यो भवति। × × तत्पु-नस्तिरोहितं सत्परमेश्वरमभिध्यायतो यतमानस्य जन्तोर्विधूतध्वान्तस्य तिमिरतिरस्कृ-तेव दृगशक्तिरौषधवीर्यात् ईश्वरप्रसादात् संसिद्धस्य कस्यचित् आविर्भवति स्वभावत एव सर्वेषां जन्तूनाम्। कुतः। ततो हि ईश्वराद्धेतोरस्य जीवस्य बन्धमोक्षौ भवतः। ईश्वरस्वरूपापरिज्ञानाद् बन्धस्तत्स्वरूपपरिज्ञानात्तु मोक्षः।

अर्थात् 'जब जीव ईश्वर का अंश है तो उसमें ज्ञानैश्वर्य्य क्यों नहीं दिखाई देता? देह-सम्बन्ध के कारण। देह, इन्द्रिय मन. बुद्धि आदि के साथ संयुक्त होने के कारण जीव का ईश्वरभाव तिरोहित हो जाता है। जिस तरह लकड़ो में या भस्म में दबी अग्नि की दहन और प्रकाश करने की शक्ति तिरोहित हो जाती है। इस लिए ईश्वर से अभिन्न होने पर भी जीव देह-संयोग के कारण अनीश्वर होरहा है। जिस तरह अंधा पुरुष औषध के प्रभाव से फिर देखने लगता है उसी तरह जीव भी ब्रह्म के अभिध्यान में यत्नशील होकर

सिद्धिलाभ करता है और अपना नष्ट ऐश्वर्य्य फिर प्राप्त कर लेता है। क्योंकि ईश्वर से ही जीव का बन्ध और मोक्ष है। ईश्वर के स्वरूप के अज्ञान से बन्धन और ज्ञान से मोक्ष है।'

गीता नीचे लिखे श्लोकों में तीन पुरुषों का उपदेश देकर इस तत्त्व को सुविशद करती है।

> द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
> क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥
> उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
> यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्त्यव्यय ईश्वरः॥
> यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
> अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥
>
> गीता, १५।१६—१८।

'इस लोक में नाशवन्त और अविनाशी दो पुरुष हैं, समस्त भूत क्षर पुरुष हैं और कूटस्थ अक्षर है। और एक पुरुषोत्तम है, जिसको परमात्मा कहते हैं। वह त्रैलोक्य में व्याप्त रह कर उसका धारण और पोषण करता है क्योंकि वह क्षर से परे है और अक्षर से उत्तम है इसी लिए लोक और वेद में उसको पुरुषोत्तम कहते हैं।'

अतएव गीता के मत में पुरुष तीन हैं; क्षर पुरुष, अक्षर पुरुष और उत्तम पुरुष। उत्तम पुरुष = परमात्मा, भगवान्। अक्षर पुरुष = अध्यात्मा, कूटस्थ। क्षर पुरुष = जीवात्मा, सर्व्वभूत। उत्तम-पुरुष = चिदाकाश, अक्षर पुरुष=चिन्मात्र (Monad), क्षर पुरुष = चिदाभास। उत्तम पुरुष अगर सिन्धु है तो अक्षर पुरुष वा चिन्मात्र उसकी बूँदें हैं। सिन्धु और बिन्दु में स्वरूपतः कोई भेद नहीं। जीव

जब तक परमात्मा को अध्यात्मा से अभिन्न नहीं जानेगा तब तक उसको शोक मोह और संसार-चक्र में घूमना पड़ेगा। किन्तु जब वह जानेगा कि आत्मा ईश्वर का ही अंश है उस समय उसका संसार-बन्धन टूट जायगा उस समय वह अपनी महिमा में स्थित होकर 'तत्त्वमसि', 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादि वाक्यों का तात्पर्य्य अनुभव करेगा। श्वेताश्वतर उपनिषद् इसी बात को कहती है,—

× × तस्मिन् हंसो भ्रम्यते ब्रह्मचक्रे × × पृथगात्मानं प्रेरितारञ्च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति।

हंसः = जीवः। आत्मानं जीवं प्रेरितारम् ईश्वरम्। शङ्कर।

'आत्मा और परमात्मा में भेद मान कर जीव संसारचक्र में भ्रमण कर रहा है। जिस समय वह भगवान् के साथ मिल जाता है उस समय उसको अमृतत्व की प्राप्ति होती है।'

गीता में भी देहस्थ आत्मा को परमात्मा से अभिन्न ही बताया है,—

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्त्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः॥ गीता, १३।२२

'इस देह में परम पुरुष परमात्मा विराज रहे हैं, वही, साक्षी, अनुमन्ता, भर्त्ता और भोक्ता हैं।'

———

सत्रहवाँ अध्याय।

वेदान्त और गीता।

ब्रह्म का स्वरूप।

अद्वैत मत में ब्रह्म समस्त विशेषणों से रहित, निर्विकल्प, निरुपाधि और निर्गुण है; अर्थात् ब्रह्म न किसी विशेषण से विशेषित किया जा सकता है, न किसी लक्षण से लक्षित किया जा सकता है, न किसी चिह्न से चिह्नित किया जासकता है, और न किसी गुण से परिचित किया जा सकता है; वह वचन, लक्षण और निर्देश से अतीत है; वह बुद्धि से अगोचर है, अज्ञेय है, अमेय है और अचिन्त्य है। दूसरे पक्ष में, विशिष्टाद्वैत मत में, सगुण ब्रह्म ही श्रुतिसिद्ध है, निर्गुण नहीं वह सगुण है, वह समस्त दोषों से रहित है और अखिल कल्याण गुणों का आकर है; उसको लक्षणों से लक्षित, विशेषणों से विशेषित और चिह्नों से चिह्नित किया जा सकता है; वह अज्ञेय और अचिन्त्य भी नहीं है। पर, अद्वैत मत में यह सगुण ब्रह्म केवल माया का विजृम्भण है, उसकी पारमार्थिक सत्ता नहीं है, वह उपाधि के काल्पनिक विलास के सिवा और कुछ नहीं है। स्वरूपतः निरुपाधि ब्रह्म जब मायाशक्ति की उपाधि से युक्त होता है तभी वह महेश्वर कहाता है। पर, विशिष्टाद्वैत मत में ब्रह्म पूर्वापर माया-शवल है वह सदा ही मायाविशिष्ट है; और यह माया अद्वैतवादियों का भावरूप अज्ञान नहीं है,

वह है विचित्रार्थ-सृष्टिकर्त्री गुणात्मिका प्रकृति। अद्वैतवादी ब्रह्म के दो लक्षण करते हैं, स्वरूप और तटस्थ। पर वे स्वरूप-लक्षण को (सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म) ब्रह्म का असली लक्षण मानते हैं। पर विशिष्टाद्वैतवादी स्वरूप और तटस्थ लक्षणों का इस प्रकार का भेद नहीं मानते। वह कहते हैं—"जन्माद्यस्य यतः" (जिससे जगत् की सृष्टि आदि होती है) वही ब्रह्म है, यही ब्रह्म का लक्षण है; क्योंकि उनके मत में ब्रह्म ही जगत् का कर्त्ता और उपादान है। इस मर्मान्तिक मतद्वैध में गीता का उपदेश क्या है ?

उपनिषद् में ब्रह्म के दो भाग दिखाई देते हैं। एक निर्विशेष निर्गुणभाव दूसरा सविशेष सगुणभाव। निर्गुणभाव का परिचय देते समय श्रुति ने 'नेति नेति'—"यह नहीं है—यह नहीं है" "सिर्फ़ इतना ही कहा है और निर्विशेष ब्रह्म का परिचय देते हुए "नहीं हैं" यही प्रयोग किया है। पर ब्रह्म का सविशेष या सगुणभाव इससे विपरीत है। उस भाव का परिचय देते हुए श्रुति ने ब्रह्म को अशेष कल्याण गुणों का आकर, सर्वज्ञ सर्ववित्, सत्यकाम, सत्य-सङ्कल्प इत्यादि रूपों में निर्द्दोशित किया है। उपनिषदों की आलोचना करने से एक बात और भी मालूम होती है कि उपनिषद् निर्गुण ब्रह्म की आलोचना करते समय प्रायः नपुंसकलिंग और सगुण ब्रह्म की आलोचना करते समय पुँल्लिङ्ग का प्रयोग करते हैं। जिस तरह,—

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्। कठ, ३। १५।

यह हुआ निर्गुण का निर्देश, और

सर्वकर्म्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः। छांदोग्य, ३। १४। २

यह सगुण का निर्देश हुआ । कहीं कहीं श्रुति में इन दोनों विभावों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है ;

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे । बृहदारण्यक, २ । ३ । १ ।

'ब्रह्म के दो रूप हैं ।'

एतद् वै सत्यकामपरम् अपरञ्च ब्रह्म । प्रश्न, ५ । २ ।

'रे सत्यकाम, यही पर और अपर ब्रह्म है ।'

उपनिषदों की आलोचना करते हुए यह भी मालूम होता है कि सगुण और निर्गुण ब्रह्म एक ही चीज़ है । सविशेष और निर्विशेष में केवल भाव का भेद है—वस्तुगत कोई भेद नहीं है । क्योंकि निर्विशेष परब्रह्म जब माया उपाधि को अङ्गीकार करके अपने को सङ्कुचित कर लेते हैं, उस समय उनका जो विभाव (aspect) होता है वही सविशेष या सगुण भाव है ।

यस्तूर्णनाभ इव तन्तुभिः प्रधानजैः ।

स्वभावतो देव एकः स्वमावृणोत् ॥ श्वेताश्वतर, ० । ६ । १० ।

"जिस तरह मकरी अपने जाल में स्वयं फँस जाती है, उसी तरह अद्वितीय ब्रह्म प्रधानज जाल में अपने को फँसा लेते हैं ।"

जिस तरह दुर्निरीक्ष्य, तेजो-मण्डल को फ़ानूस में आवृत करके उसके तेज को सङ्कुचित कर देते हैं उसी तरह परब्रह्म का भी वही भाव होता है । इसी लिए माया को ब्रह्म की यवनिका या तिरस्करणी कहा है । * परब्रह्म जिस समय माया द्वारा उपहित होते हैं उस समय उनको महेश्वर कहते हैं ।

---

*इसी भाव को लक्ष्य करके भागवत कहता है :—

नारायणे भगवति तदिदं विश्वमाहितम् ।

गृहीतमायोरुगुणः सर्गादावगुणः स्मृतः ॥ २।६।२६ :—

मायिनन्तु महेश्वरम् । श्वेताश्वतर उपनिषद् ।

माया-युक्त ही महेश्वर हैं ।

अनन्तसागर की वातहीन, कम्पहीन और प्रशान्त जो अवस्था है—वही ब्रह्म का निर्गुणभाव है; समुद्र की लहरी-सङ्कुल, वीचि-विक्षुब्ध, सफेन और तरङ्गित अवस्था ही—ब्रह्म की सगुण अवस्था है । एक ही समुद्र कभी प्रशान्त और कभी विक्षुब्ध होता है, इसी तरह एक ही ब्रह्म कभी निर्गुण और कभी सगुण होता है । प्रशान्त समुद्र विक्षुब्ध होता है और विक्षुब्ध समुद्र प्रशान्त होता है । पर-ब्रह्म माया की यवनिका के आवरण से सगुण और सङ्कुचित होता है और माया का आवरण दूर कर के निर्गुण और निस्तरङ्ग होता है । पर्याय-क्रम से महासमुद्र की भी ये ही दो अवस्थायें हैं, पर्याय-क्रम से ब्रह्म के भी ये ही दो विभाव हैं । तिरस्करणी के के आवरण से ब्रह्म-ज्योति कभी सङ्कीर्ण ससीम और सङ्कुचित होती है और तिरस्करणी (माया) के हट जाने पर ब्रह्म-ज्योति फिर असीम अनन्त और अनावृत हो जाती है ।

इसी लिए श्रुति कहती है,—

यह जगत् नारायण में निहित है । नारायण स्वभावतः निर्गुण हैं किन्तु सृष्टि के आरम्भ में माया उपाधि को अङ्गीकार करके सगुण हो जाते हैं ।

भागवत में दूसरी जगह लिखा है,—

आत्ममायां समाविश्य सोऽहं गुणमयीं द्विज ।

सृजन् रक्षन् हरन् विश्वं दध्रे संज्ञां क्रियोचिताम् ॥ ४।७।४८।

'हे ब्राह्मण, मैं अपनी गुणमयी माया का आश्रय करके जगत् की सृष्टि स्थिति और लय करता हूँ । इसी के अनुसार मेरी (ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र) विभिन्न संज्ञायें हैं ।

न सत् चासत् शिव एव केवलः। श्वेत, ४।१८

'वह सत् भी नहीं, असत् भी नहीं—है केवल शिव।'

श्रुति में निर्गुण ब्रह्म के लिए नपुंसकलिङ्ग और सगुण ब्रह्म के लिए पुँल्लिङ्ग का प्रयोग हुआ है पर कहीं कहीं एक ही मंत्र में पुँल्लिङ्ग और नपुंसकलिंग का प्रयोग मिलता है। जैसे—

स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।
ईश, ८।

यहाँ पहला अंश निर्गुण ब्रह्म का निर्देशक है—इसी लिए वहाँ नपुंसकलिङ्ग का प्रयोग हुआ है और दूसरा अंश सगुण ब्रह्म का निर्देशक है इस लिए वहाँ पुँल्लिङ्ग का प्रयोग है। एक ही मन्त्र में सगुण और निर्गुण दोनों—भावों का निर्देश करके श्रुति ने यह उपदेश किया है कि सविशेष और निर्विशेष में केवल भाव ही का प्रभेद है वस्तुतः सगुण और निर्गुण एक ही चीज़ है। इसी लिए श्रुति में ब्रह्म के लिए परावर नाम भी आया है।

तस्मिन् दृष्टे परावरे।—मुण्डक।२।२।८।

पर और अवर = निर्गुण और सगुण। दोनों का समास करके श्रुति ने बताया है कि सगुण और निर्गुण एक ही वस्तु है।

श्रुति ने सगुण ब्रह्म या महेश्वर के दो लक्षण बताये हैं,—स्वरूप-लक्षण और तटस्थलक्षण। वह सत्, चित् और आनन्द है, वह सच्चिदानन्द है (सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म—तैत्तिरीय, २।१।१), यह हुआ उसका स्वरूपलक्षण और वह "तज्जलान्" (ब्रह्म तज्जलानिति—छान्दोग्य, ३।१४।१) है अर्थात् वह जगत् की सृष्टि, स्थिति

और लय का हेतु है—यह हुआ उसका तटस्थलक्षण । श्रुति यह भी कहती है कि ब्रह्म माया को अङ्गीकार करके यद्यपि सोपाधिक हो जाता है पर ससीम नहीं होता । क्योंकि वह विश्वानुग (Immanent) होकर भी विश्वातिग (Transcendent) है; प्रपञ्च का अभिमानी होकर भी प्रपञ्च से अतीत है । इसी लिए श्रुति कहती है,—

तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः । ईश, ५ ।

'वह समस्त जगत् के भीतर भी है और जगत् के बाहर भी ।'

बृहदारण्यक भी यही बात कहता है,—

अयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः ।—बृहदारण्यक, ४।५।१३ ।

पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ।—पुरुषसूक्त, ३ ।

'समस्त भूत उसका एक पाद है उसके बाक़ी तीन पाद अमृत अर्थात् विश्वातीत हैं ।'

गीता की आलोचना करने से मालूम होता है कि गीता उपनिषद् के इन सकल उपदेशों का सर्व्वांश में समर्थन करती है । परब्रह्म के परिचय में गीता कहती है,—

अनादिमत् परं ब्रह्म न सत् तन्नासदुच्यते ।—गीता, १३।१२।

'अनादि परब्रह्म सत् भी नहीं है, असत् भी नहीं है ।'

परब्रह्म सत् और असत् से अतीत है—यह बात गीता में और जगह भी कही गई है,—

त्वमक्षरं सदसत् तत्परं यत् । गीता, ११।३१।

'वह अक्षर है, सत् और असत् है और सत् और असत् से

भी परे है । दूसरी जगह गीता ने परब्रह्म को "निर्दोष सम" (absolutely homogeneous) कहा है;

निर्दोषं हि समं ब्रह्म । गीता, ५।१६।

ब्रह्म को निर्दोष रूप में सम कहने का तात्पर्य्य यही है कि वह समस्त भेदों से रहित है । विजातीय, सजातीय और स्वगत—उसमें किसी भेद की गुंजायश नहीं अर्थात् वह "एकमेवाद्वितीयम्" है । उपनिषद् में कहा निर्विशेष या निरुपाधि ब्रह्म यही है ।

गीता में सगुण या सविशेष भाव के उपदेश में अनेक-रुचि-पूर्ण बड़े ही अच्छे अच्छे श्लोक मिलते हैं । उन सकल उपदेशों को यदि एकत्र किया जाय तब सगुण ब्रह्म वा महेश्वर का स्वरूप नीचे लिखे रूप में उपलब्ध हो ।

गीता के मत में भगवान् का आदि नहीं, मध्य नहीं और अन्त नहीं । इसी लिए गीता में अनेक जगहों पर भगवान् को अनादि, अमध्य और अनन्त कहा है ।

नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप । गीता ११।१६

'हे विश्वेश्वर, विश्वरूप, तुम्हारी आदि मध्य और अन्त कुछ दिखाई नहीं देता ।'

गीता में और भी कहा है,—

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य्यमनन्तबाहुं शशिसूर्य्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥ गीता, ११ । १६ ।

तुम्हारा न आदि है, न मध्य है और न अन्त है । तुम अनन्त शक्ति वाले और अनन्त हस्त वाले हो । चन्द्र सूर्य्य तुम्हारे नेत्र हैं । तुम्हारे मुख से अग्नि निकल रही है, समस्त विश्व को

तुम अपने तेज से तपा रहे हो, तुम्हारा ऐसा रूप मैं देख रहा हूँ ।

वह अजर है, अक्षर है, अमर है, अमेय है, अव्यय है, सनातन है, पुराण है, परम पुरुष है ।

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्म्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥ गीता, ११।१८
दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ।—गीता, ११ । १७ ।

तुम पर ब्रह्म हो, जानने योग्य वस्तु हो, विश्व के परम आधार हो, नित्य हो, शाश्वत धर्म्म के रक्षक हो, सनातन हो, पुरुषोत्तम हो, ऐसा मेरा मत है ।

जलती अग्नि की शिखा के समान हो, अप्रमेय हो ।

वह विश्व का बीज है, विश्व का परम निधान है, विश्वव्यापी है, और विश्वरूप है । चराचर विश्व उसमें स्थित है, सूत में जिस तरह मणियाँ गुँथी रहती हैं सारे भूत उसमें उसी तरह गुँथे हैं । स्थावर और जङ्गम सब उसमें ही हैं । उसको छोड़ कर कुछ हो ही नहीं सकता ।

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।—गीता, ७ । १० ।
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।—गीता, ११ । १८ ।
निधानं बीजमव्ययम् । गीता, ९ । १८ ।
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ।—गीता, ११ । ४० ।
येन सर्वमिदं ततम् ।—गीता, १८ । ४६ ।
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ।—गीता, ११ । ३८ ।
इहैकस्थं जगत् कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि ॥ गीता, ११ । ७ ।

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥ गीता, ७। ७।
न तदस्ति विना यत्स्यान् मया भूतं चराचरम्।
यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन॥ गीता, १४। ३९।

उसी से जीव की प्रवृत्ति, जगत् की उत्पत्ति, विश्व की सृष्टि स्थिति और लय है। वही भूतों का आदि, मध्य और अन्त है।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानाम्। गीता, १८। ४६।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च। गीता, १३। १६
अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते।—गीता, १०। ८।
ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्।—गीता, ९। १३।
अहमादिश्च मध्यञ्च भूतानामन्त एव च।—गीता, १९। २०
सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यञ्चैवाहमर्जुन। गीता, ९। ३२।

वह अनन्तवीर्य्य है, अमितविक्रम है और अप्रतिमप्रभाव है।

अनन्तवीर्य्यामितविक्रमस्त्वम्। गीता, ११। ४०।
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभावः।—गीता, ११। ४३।

वह आदिदेव है, देवेश है, जगत् का निवास है, देवताओं और महर्षियों की आदि है, सप्तर्षि और मनुगणों का कारण है। ब्रह्मा का भी आदिकर्त्ता है, समस्त लोक का बड़ा गुरु है। उससे बढ़ कर तो क्या उसके बराबर भी कोई नहीं है।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणः। गीता, ११। ३८।
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास। गीता, ११। ३७।
न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणाञ्च सर्वशः॥ गीता, १०। २७

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥ गीता, १० । ६
पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेप्यप्रतिमप्रभाव ॥
गीता, ११।४३।

वह अक्षय काल है, ब्रह्म की प्रतिष्ठा है, विश्वतोमुख धाता है, शाश्वतधर्म्म का गोप्ता है, अमृत का आधार है और ऐकान्तिक सुख का आस्पद है ।

अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः । गीता, १४।३३।
ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्म्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥—गीता, १४।२७।

वह—

कविं पुराणमनुशासितारं अणोरणीयांसमनुस्मरेद् यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥ गीता, ८।९

'सर्वज्ञ है, अनादि है, सब का सञ्चालक है, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है, संसार का शासक है, सब का पोषण करनेवाला है, आदित्य रूप है और अन्धकार से परे है ।'

वह वेदवेद्य है, चरम ज्ञेय है, वेदवित् है, वेदान्त का कर्त्ता है और साधक का परम धाम है ।

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यम्, गीता ११।१८।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद् वेदविदेव चाहम् ।—गीता, १५।१५
वेत्तासि वेद्यञ्च परञ्च धाम । गीता, ११।३८

वह दूर होकर भी निकट है, बाहर होकर भी भीतर है, वेत्ता होकर भी वेद्य है, वह अव्यक्त होकर भी व्यक्त है, अविभक्त

होकर भी विभक्त है, निर्गुण होकर भी सगुण है। वह अन्धकार से परे है, ज्योति की ज्योति है, वह परम ज्योति है।

बहिरन्तश्च भूतानां दूरस्थे चान्तिके च तत् ।—गीता, १३ । १५ ।

वेत्तासि वेद्यञ्च परञ्च धाम ।—गीता, ११ । ३८ ।

ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यम् ।—गीता, १३ । १७ ।

अविभक्तञ्च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।—गीता, १३ । १६ ।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।—गीता, १३ । १७ ।

आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।—गीता, ८ । ६ ।

वह लोक-महेश्वर है, समस्त जगत् का अद्वितीय प्रभु है।

यो मामजमनादिञ्च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।—गीता, १० । ३ ।

'मेरा जन्म नहीं, मैं अनादि और सब लोक का महेश्वर हूँ।'

वह विश्वेश्वर है, विश्वरूप है,—

पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ।—गीता, ११ । १६ ।

वह अनन्तरूप है;

त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ।—गीता, ११ । ३८ ।

'हे अनन्तरूप, तुम विश्व-व्यापी हो।'

वह—

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य्यमनन्तबाहुं शशिसूर्य्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥
गीता ११ । १९ ।

है। और उसके—

सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥
सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥—

गीता, १३।१४।१५।

सर्वत्र हाथ हैं, सर्वत्र पैर हैं, सर्वत्र नेत्र हैं, सर्वत्र मस्तक और सर्वत्र मुख हैं, सर्वत्र कान हैं और वह त्रैलोक्य में व्याप रहा है। उसमें सब इन्द्रियों के गुणों का भास है, पर उसकी कोई इन्द्रिय नहीं है, वह सबका आधार है पर उसकी किसी में आसक्ति नहीं है, स्वयं निर्गुण होकर भी वह सब गुणों का आश्रय है।

उसके विषय में गीता कहती है,—

यदादित्यगतं तेजो जगद् भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥
गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः॥
अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥ गीता, १५। १२–१४।
रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्य्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृपु॥
पुण्यो गन्धः पृथिव्याञ्च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु॥
बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्॥
बलं बलवतामस्मि कामरागविवर्जितम्।
धर्म्माविरुद्धो भूतेपु कामोऽस्मि भरतर्षभ॥ गीता, ७। ८–११।
अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाऽहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥ गीता, ९। १६।
तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतञ्चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन॥ गीता, ९। १९।
पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक् साम यजुरेव च॥

गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥ गीता, ६ । १७–१८ ।
सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनञ्च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद् वेदविदेव चाहम् ॥
गीता, । १५।१५

'यह बात जान लो कि समस्त जगत् को प्रकाश देनेवाला जो तेज सूर्य्य में, चन्द्र में और अग्नि में है, वह मेरा ही है ।'

'मैं पृथ्वी में सामर्थ्य रूप से प्रवेश कर सब जीवों को धारण करता हूँ और रसमय चन्द्र होकर सब ओषधियों का पोषण करता हूँ ।'

'मैं जठराग्नि होकर प्राणियों की देह में रहता हूँ और प्राण तथा अपान वायु से मिल कर चतुर्विध अन्न को पचाता हूँ ।'

'हे कौन्तेय, जल में रस मैं हूँ, सूर्य्य और चन्द्र में प्रकाश मैं हूँ, वेदों में प्रणव मैं हूँ, आकाश में शब्द मैं हूँ, पुरुषों में पराक्रम मैं हूँ ।'

'पृथ्वी में पुण्यमय गन्ध मैं हूँ, अग्नि में तेज मैं हूँ, सब भूतों का जीवन मैं हूँ, तपस्वियों का तप मैं हूँ ।'

'सब भूतों का सनातन बीज मैं हूँ, बुद्धिमानों की बुद्धि मैं हूँ, तेजस्वियों में तेज मैं हूँ ।'

'बलवानों में काम-राग से वर्जित बल मैं हूँ, धर्म्मानुकूल काम भी मैं हूँ ।'

'श्रौत-यज्ञ मैं हूँ; स्मार्त्त यज्ञ मैं हूँ और पितृयज्ञ मैं हूँ । औषध, मन्त्र, होम का साधन घृत, अग्नि और होम मैं हूँ ।'

'मैं सूर्य्य रूप से तपता हूँ, मैं वर्षा बन्द करता हूँ और मैं

ही वर्षा करता हूँ; हे अर्जुन, मैं ही अमृत और मृत्यु हूँ, सत् भी मैं ही हूँ और असत् भी मैं ही हूँ।'

'इस जगत् का पिता, माता, धारणकर्त्ता, पितामह, जानने योग्य पदार्थ, ओंकार, ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद मैं हूँ।

'गति, पालनकर्त्ता, प्रभु, साक्षी, रहने का स्थान, रक्षक मित्र, उत्पत्ति और संहार करनेवाला, आधार, प्रलय-स्थान और अविनाशी बीज मैं हूँ।'

'प्रत्येक के हृदय में मेरा प्रवेश है, स्मरण, ज्ञान और तर्क मुझसे ही उत्पन्न होते हैं, सब वेदों की सहायता से मैं ही जाना जाता हूँ। वेदान्त का प्रवर्त्तक मैं हूँ और वेद जाननेवाला भी मैं ही हूँ।'

गीता के दशम अध्याय में भगवान् के विश्वरूप का परिचय मिलता है और ग्यारहवें अध्याय में उसी विश्वरूप का वर्णन है। उस वर्णन के सौन्दर्य्य की रक्षा अनुवाद में होना कठिन है। ध्यान-मग्न होकर बारंबार पढ़ने से उसका कुछ कुछ भाव हृत्पटल पर जम जाता है। वेद और उपनिषद् में भी भगवान् के विराट् स्वरूप का वर्णन है पर जैसा हृदय-स्पर्शी वर्णन गीता में किया गया है वैसा और कहीं भी नहीं है।

ऋग्वेद का पुरुषसूक्त इस तरह कहता है:—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्॥
पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति॥ इत्यादि।

'विराट् पुरुष के हज़ार सिर, हज़ार आँख और हज़ार चरण हैं । वह जगत् के भीतर भी भरा हुआ है और बाहर भी । भूत, भविष्यत् वर्त्तमान—जो कुछ भी है—वही पुरुष है,—मर्त्त्य और अमर्त्त्य—वह—सभी का अधीश्वर है ।

इसी विराट् पुरुष को लक्ष्य करके श्वेताश्वतर उपनिषद् कहता है,—

सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ ३।१६ ॥

उसके हाथ पाँव सब कहीं हैं । सब कहीं उसकी आँखें, कान, सिर और मुख हैं । वह सब जगह ही भरा हुआ है ।'

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात् ।
संबाहुभ्यां धमति संपतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ॥

श्वेताश्वतर, ३।३।

'उसके चक्षु, मुख, बाहु, चरण सब कहीं हैं । उस प्रकाशमय देव ने पृथ्वी और अन्तरिक्ष को बना कर मनुष्य को बाहु और पक्षी को पक्ष दिये हैं ।'

इसी सम्बन्ध में मुण्डकोपनिषद् में लिखा है कि उसका मस्तक द्युलोक है, चन्द्र सूर्य्य उसकी आँखे हैं, दिशायें उसके कान हैं, वेद उसकी वाणी है, वायु उसका प्राण है, विश्व उसका हृदय है, पृथ्वी उसका चरण है और वह समस्त भूतों की आत्मा है ।

अग्निर्मूर्द्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्य्यौ दिशः श्रोत्रे वाग् विवृताश्च वेदाः ।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथ्वी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥

मुण्डक २।१।४

इसी विराट् रूप को विश्वरूप कहा गया है । क्योंकि, जगत्

ही जगदीश्वर की मूर्त्ति है । यहाँ पर जगत् से मतलब इस छोटी सी पृथ्वी से ही नहीं है । भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्य—ये सात ऊर्ध्व लोक और पाताल, रसातल, महातल, तलातल, सुतल, और अतल—ये—सात अधोलोक भी जगत् के अन्तर्गत माने गये हैं । यह सब जगत् और जगत् के कुल पदार्थ—स्थावर-जङ्गम, तरुलता, गुल्म, कीट-पतङ्ग सरीसृप, पशु-पत्ती, मनुष्य, देव-दानव, यत्त-रत्त, किन्नर-गन्धर्व्व, सिद्ध साध्य आदि जो कुछ पदार्थ हैं -होंगे—वा—थे, वह सब विराट् समष्टि या प्रकाण्ड संयोग भगवान् का रूप है । गीता के ग्यारहवें अध्याय में इसी विश्वरूप का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है । उसका आरम्भ मात्र यहाँ उद्धृत किये देते हैं;—

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥
अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ! ॥

गीता, ११।१५—१६।

अर्जुन कहते हैं,—

'तुम्हारे शरीर में मैं सब देवताओं को देखता हूँ, उसी में मैं भिन्न भिन्न प्रकार के प्राणियों के समुदाय को देखता हूँ । कमलासनस्थ ब्रह्मा को भी देखता हूँ ! सब ऋषियों को भी देखता हूँ और दिव्य सर्प को भी देखता हूँ ।

'हे विश्वेश्वर, तुम्हारे अनेक बाहु, अनेक उदर, अनेक मुख और अनेक नेत्र हैं । तुम्हारा रूप अनन्त है । तुम्हारा आदि,

मध्य, अन्त दिखाई नहीं देता । सारा विश्व हा आपका रूप हो रहा है ।

गीता में फिर और कहा है,—

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यञ्च परञ्च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥
वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥
नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्य्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥

गीता ११।३७—४० ।

'हे अनन्त रूप, तुम आदिदेव हो. पुराण पुरुष हो, विश्व का लय-स्थान हो, ज्ञाता और जानने योग्य वस्तु हो; परम धाम हो, विश्व को उत्पन्न करने वाले हो ।'

'वायु, यम, वरुण, अग्नि, चन्द्र, ब्रह्मा और ब्रह्मा के भी पिता हो; तुमको हज़ार बार नमस्कार है, बार बार नमस्कार है ।'

'हे सर्वरूप, तुम्हारी सामर्थ्य अनन्त है, तुम्हारा पराक्रम अनन्त है, तुम सब विश्व में व्याप्त हो इसीसे तुम्हारा नाम सर्व है । तुमको सामने से नमस्कार है, पीछे से नमस्कार है और सब दिशाओं से नमस्कार है ।'

भगवान् का विश्व रूप जीव समझ सके—इसीलिए उसकी सहायता के लिए भगवान् ने गीता के दशम अध्याय में विभूतियोग का वर्णन किया है । उसका थोड़ा बहुत परिचय दिया भी जा चुका है । उस उपदेश का सार यही है कि, जहाँ शक्ति, महिमा या

ऐश्वर्य्य का प्रकाश दिखाई दे उसको भगवान् ही का प्रभाव समझो। गीता में इसीलिए कहा है;

यद् यद् विभूतिमत्सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंशसम्भवम् ॥ गीता, १०।४१ ।

'तुम इतना जान रक्खो कि, जिन पदार्थों में ऐश्वर्य्य, शोभा अथवा प्रभाव है वे सब मेरे ही तेज के अंश से उत्पन्न हुए हैं।'

एक ही ब्रह्म सगुण और निर्गुण भी है, यह बात साफ़ तौर पर गीता में कही गई है।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ गीता, १३।१४ ।

'अर्थात् जिसमें सब इन्द्रियों के गुण होने का भास होता है पर जिसकी कोई इन्द्रिय नहीं है, जिसको किसी में आसक्ति नहीं है पर जो सब का आधार है—जो स्वयं निर्गुण होने पर भी गुणों का आश्रय है।'

अन्यत्र गीता में भगवान् को ही परब्रह्म एवं अपरब्रह्म (पुरुष) भी कहा है:—

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥ गीता, १०।१२ ।

अर्जुन कहते हैं 'भगवन्, आपही परब्रह्म हैं, श्रेष्ठ धाम हैं परम पवित्र हैं, शाश्वत पुरुष हैं, अज हैं, विभु हैं, दिव्य हैं और आदिदेव हैं।'

गीता में और भी लिखा है,—

सर्व्वतः पाणिपादन्तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमंल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥

गीता, १३।१३।

'जिसे सर्वत्र हाथ हैं, सर्वत्र पैर हैं, सर्वत्र नेत्र हैं, सर्वत्र मस्तक, सर्वत्र मुख और सर्वत्र कान हैं और त्रैलोक्य में वह व्याप रहा है ।'

शास्त्र में और जगह भी इस तत्त्व का उपदेश दिया गया है । सबका यही सार है कि सगुण और निर्गुण एक ही वस्तु है केवल भाव का ही भेद है ।

सगुणो निर्गुणो विष्णुर्ज्ञानगम्यो ह्यसौ स्मृतः ।

'भगवान् सगुण भी हैं और निर्गुण भी हैं—वह ज्ञान द्वारा जाने जाते हैं ।'

सदक्षरं ब्रह्म य ईश्वरः पुमान् गुणोर्मिसृष्टिस्थितिकालसंलयः ।
विष्णुपुराण- १।१।२

'प्रकृति के क्षोभ से उत्पन्न हुई सृष्टि स्थिति और लय के कारण-भूत ईश्वर सत् हैं, अक्षर हैं और ब्रह्म है ।

भागवत में कई प्रकार से यह उपदेश दिया गया है,—

वदन्ति तत् तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमव्ययम् ।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥—१।२।११

'तत्त्वज्ञानी इसी चित् वस्तु को तत्त्वज्ञान कहते हैं, वही ब्रह्म है, वही परमात्मा है और वही भगवान् है ।'

सर्वं त्वमेव सगुणो विगुणश्च भूमन्
नान्यत् त्वदस्त्यपि मनोवचसा निरुक्तम् ।—भागवत, ७।९।४८ ।

'हे भूमा ! तुम्हीं सगुण हो, तुम्हीं निर्गुण हो, तुम्हीं सब कुछ हो, मन और बुद्धि से जो कुछ जाना जा सकता है वह तुम ही हो ।'

लीलया वापि युञ्जेरन् निर्गुणस्य गुणाः क्रियाः । भागवत, ३।७।२

'लीला के कारण निर्गुण ब्रह्म में गुण और क्रिया का समावेश होता है ।'

निर्गुण और सगुण भाव का असली स्वरूप न जान कर एवं निर्गुण और सगुण ब्रह्म को एक न समझ कर अनेक वेदान्ती नास्तिक बन गये हैं। वे कहते हैं कि सगुण ब्रह्म तो माया का खेल है, झूठा पदार्थ है और उपाधि का उपघात है। जिस तरह वृक्षों की समष्टि वन, जल की समष्टि समुद्र, उनके मत में इसी तरह, कारण-शरीरों में स्थित चैतन्य ही ईश्वर है।

इदमज्ञानं समष्टिव्यष्ट्यभिप्रायेण एकमनेकमिति च व्यवह्रियते। तथाहि यथा वृक्षाणां समष्ट्यभिप्रायेण वनं इत्येकत्वव्यपदेशः यथा वा जलानां समष्ट्यभिप्रायेण जलाशयमिति, तथा नानात्वेन प्रतिभासमानजीवगताज्ञानानां समष्ट्यभिप्रायेण, तदेकत्वव्यपदेशः "अजामेकामित्यादि" श्रुतेः। इयं समष्टिरुत्कृष्टोपाधितया विशुद्धसत्वप्रधाना, एतदुपहितं चैतन्यं सर्व्वज्ञत्व-सर्वैश्वरत्व-सर्व्वनियन्तृत्व-गुणकं, सदसदव्यक्तमन्तर्य्यामि, जगत्कारणमीश्वर इति च व्यपदिश्यते। वेदान्तसार १३,

अर्थात्, 'वृक्ष की समष्टि वन है, अतएव वृक्ष व्यष्टि हुआ और वन समष्टि।' जल की समष्टि जलाशय है, इसलिए जल व्यष्टि हुआ और जलाशय समष्टि। वृक्ष अनेक हैं पर वन एक है। जल अनेक हैं पर जलाशय एक है। इसी तरह जीवों में व्यष्टि अज्ञान अनेक हैं पर उनकी समष्टि एक है। इस समष्टि अज्ञान में छिपा हुआ चैतन्य ही ईश्वर कहलाता है। उसी को सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, सर्वनियन्ता, सदसत्, अव्यक्त, अन्तर्य्यामी और जगत् का कारण कहा जाता है।

इस वन और जलाशय के दृष्टान्त ने अनेक क्षेत्रों में नास्तिकता रूप कुफल पैदा किये हैं। वृक्ष से वन का और जल से भिन्न जलाशय का स्वतंत्र अस्तित्व कहाँ है? इसलिए यह दृष्टान्त ठीक

नहीं। पाश्चात्य विज्ञान की सहायता से हमको इस विषय का एक बढ़िया दृष्टान्त हाथ लगा है। उससे यह बात प्रमाणित होती है कि समष्टि निरी काल्पनिक चीज़ ही नहीं है। समष्टि का भी स्वतन्त्र और स्वाधीन अस्तित्व है। वह कोषाणु (cell) का दृष्टान्त है। कोषाणुओं की समष्टि से ही जीव—शरीर बना है। प्रत्येक कोषाणु का स्वतंत्र और स्वाधीन अस्तित्व है और कोषाणु की समष्टि शरीर का अस्तित्व भी, उन कोषाणुओं के अस्तित्व से बिल्कुल स्वतंत्र और स्वाधीन है। जिस तरह कोषाणुओं की समष्टि से एक देह बनता है उसी तरह जीवों में जो व्यष्टि उपाधि है—उस की समष्टि से—यह समष्टि-उपाधि निर्म्मित हुई है। परब्रह्म जिस समय इस उपाधि को अङ्गीकार करते हैं, जिस समय वह माया के द्वारा उपहित होते हैं, उस समय वह सगुण ब्रह्म या महेश्वर कहाते हैं, जिस तरह हमारे स्थूल देह का प्रत्येक कोषाणु अपना व्यक्तित्व और स्वातन्त्र्य अक्षुण्ण रख कर समष्टि (देह) की पुष्टि और परिणति के लिए नियोजित रहता है, उसी तरह प्रत्येक जीव की उपाधि अपने व्यक्तित्व और स्वातन्त्र्य को अक्षुण्ण रखती हुई सब तरह से भगवान् की विराट् समष्टि उपाधि के लिए व्यवहृत होती है। व्यष्टि और समष्टि की यही बात है। सगुण और निर्गुणभाव की भिन्नता पर ये अवलम्बित रहती हैं। इस लिए इसमें नास्तिकता का लेश भी नहीं।

भगवान् विश्व के बाहर और भीतर एक रूप से अवस्थित हैं—यह बात भी गीता में साफ़ साफ़ कही है;—

> बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च। गीता, १३। १५।

'वह चराचर भूतों के बाहर और भीतर है।'

अन्यत्र, भगवान् कहते हैं:—

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञानेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥ गीता, १० । ३ ।

'हे अर्जुन, और अधिक कहने से क्या लाभ, तुम इतना ही जान लो कि, एक अंश से मैं इस समस्त जगत् में व्याप्त हूँ ।

पुरुष-सूक्त में लिखा है, कि भगवान् के एक पाद में यह जगत् है और उनके तीन पाद इस (जगत्) से ऊपर हैं—यह ठीक ही है। जिस तरह सूर्य्य का एक अंश मेघ से ढका रहता है और अवशिष्ट अंश मेघहीन एवं ज्योतिर्मय रहता है। भगवान की भी यही बात है। उनका एक अंश ही—विश्वानुग है, वही योगमाया से युक्त है—उसी अंश में वे व्यक्त हैं, उसी का दूसरा नाम अपर भाव है। पर उनका अन्य (विश्वातिग) अंश, सदा अव्यक्त रहता है; वहा उनका परभाव है। इसी लिए भगवान् कहते हैं,—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।—गीता, ७ । २५ ।

'मेरी चारों ओर योगमाया का परदा है, इस लिए मैं सबको दिखाई नहीं देता।'

भगवान् और भी कहते हैं,—

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥—गीता, ७ । २४ ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ।
त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥ गीता, ७ । १३ ।

'मैं अव्यक्त अर्थात् अस्पष्ट हूँ, पर बुद्धिहीन मनुष्य मुझे

देहधारी समझते हैं। मेरी नित्य और अत्युत्तम स्थिति का उन्हें पता नहीं।'

'मेरे महेश्वर परम-भाव को मूढ़ मनुष्य नहीं जानते। तीनों गुणों से व्याप्त इन अनेक पदार्थों ने समस्त जगत् को मोह में डाल रखा है। इस लिए जगत् यह नहीं जानता, कि मैं इन तीनों से अलग और अव्यक्त हूँ।'

पर-भाव को लक्ष्य करके गीता दूसरी जगह कहती है,—

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥
अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥
पुरुषः स परः पार्थ भक्त्यालभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥

गीता, ८। २०—२२।

'पर इनमें जो एक सनातन अव्यक्त है वह उस व्यक्त से श्रेष्ठ है। चराचर का नाश होने पर भी उसका नाश नहीं होता।'

'अव्यक्त को ही अक्षर कहते हैं। उसी को परमगति कहते हैं। वही मेरा परम धाम है, जिसको प्राप्त करके फिर जन्म नहीं होता।'

'हे पार्थ, जिसमें ये सब भूत हैं और जिस की सामर्थ्य से यह सब चल रहा है, वह परम पुरुष अनन्य भक्ति से ही प्राप्त होता है।'

गीता के मत में भगवान् ही सब से बड़े तत्त्व हैं। जड़ चीज़ों का उपादान अर्थात् प्रधान प्रकृति उनकी अपरा प्रकृति और जीव-रूपी पुरुष उनकी परा प्रकृति कहाती है।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्य्यते जगत् ॥
एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥
मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥

गीता, ७।-४-७ ।

'मेरी प्रकृति के आठ भाग हैं; पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहङ्कार। पर हे महाबाहो, यह मेरी अपरा अर्थात् निचली प्रकृति है। इसके सिवा मेरी एक परा अर्थात् बढ़िया प्रकृति भी है, उसे भी सुनो। वह जीवरूपा है और इस जगत् को उसी का आधार है। याद रखो कि ये दोनों प्रकृतियाँ ही सब भूतों की उत्पत्ति के स्थान हैं। सारे जगत् को उत्पन्न और नष्ट करनेवाला मैं हूँ। हे धनञ्जय, मुझ से श्रेष्ठ और कुछ नहीं है। सूत के द्वारा जैसे मणि पिरोये जाते हैं उसी प्रकार यह सब (विश्व) मेरे द्वारा पिरोया गया है।'

दूसरी जगह पर गीता में परा और अपरा प्रकृति को क्षर पुरुष और अक्षर पुरुष कहा है। क्षर पुरुष = प्रधान अक्षर पुरुष = क्षेत्रज्ञ। भगवान् क्षर से परे और अक्षर से उत्तम हैं। इसीलिए उनको परमात्मा और पुरुषोत्तम कहा गया है।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥

यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥
गीता, १५ । १६-१८ ।

'इस लोक में क्षर और अक्षर दो पुरुष हैं । समस्त चराचर में जो जड़ है वह क्षर या नाशवन्त है और उसमें पर्वत-शिखर के समान जो स्थिर है वह अक्षर अर्थात् अविनाशी है । इनसे भिन्न एक उत्तम पुरुष भी है—उसी को परमात्मा कहते हैं । वह अविनाशी है, सबसे श्रेष्ठ है । वह त्रैलोक्य में व्याप्त रहकर उसका धारण और पोषण करता है ।'

इसी विषय पर श्वेताश्वतर उपनिषद् कहता है;

संयुक्तमेतत् क्षरमक्षरञ्च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः ।—१ । ८ ।
क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानौ ईशते देव एकः ।—१ । १० ।

'ये व्यक्त और अव्यक्त, क्षर और अक्षर अर्थात् प्रकृति और पुरुष नित्य सम्बन्ध में जकड़े हुए हैं । इसी का पालन ईश्वर करते हैं ।'

'क्षर प्रधान (प्रकृति) है और अक्षर अमृत (पुरुष) है; इनके सिवा अद्वितीय ईश्वर इन (प्रकृति और पुरुष) का अधीश्वर है ।'

गीता के मत में जड़ और चेतन का समन्वय भगवान् में होता है । प्रधान और क्षेत्रज्ञ, पुरुष और प्रकृति—भगवान् के विभाव या प्रकार मात्र हैं ।

गीता में लिखा है कि हर युग में, धर्म्म स्थापन के लिए भगवान् अवतार लिया करते हैं ।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥
यदा यदा हि धर्म्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्म्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥ गीता, ४। ६-८।

'यद्यपि मैं अजन्मा हूँ, यद्यपि मेरा स्वभाव शाश्वत है, यद्यपि मैं सब भूतों का स्वामी हूँ, तोभी अपनी प्रकृति में स्थित होकर अपनी माया से मैं जन्म लेता हूँ। हे भारत, जब जब धर्म्म क्षीण होता और अधर्म्म प्रबल होता है, तब तब मैं जन्म लेता हूँ। सज्जनों की रक्षा और दुष्टों का नाश करने के लिए एवं धर्म्म की स्थापना के लिए मैं युग युग में जन्म लिया करता हूँ।'

उपनिषद् में तो कहीं कहीं अवतार-वाद का प्रसङ्ग दिखाई पड़ता है पर वेदान्त-दर्शन में उस का निशान तक नहीं मिलता। किन्तु गीता बताती है कि करुणामय भगवान् जीव के हित के लिए और जगत् की उन्नति के लिए एक बार नहीं अनेक बार पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए हैं। भगवान् कहते हैं,—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन। गीता, ४। ५।

'हे अर्जुन, तुम्हारे और हमारे बहुत से जन्म हो चुके हैं।'

अवतार रूप में उनका जन्म और उनके अवताररूपी कर्म्म दोनों ही अप्राकृत और असाधारण हैं।

जन्म कर्म्म च मे दिव्यम्।—गीता, ४। ९।

कहने की ज़रूरत नहीं कि इन कर्मों से उनके अव्यय भाव में किसी तरह का व्यतिक्रम नहीं होता। क्योंकि,—

न मां कर्म्माणि लिम्पन्ति न मे कर्म्मफले स्पृहा। गीता, ४। १४।

'कर्म्मों के फल में उन की स्पृहा ही नहीं—कर्म्म करने से भी वे निर्लिप्त ही रहते हैं। इसी लिए भगवान् अन्यत्र कहते हैं,—

न च मां तानि कर्म्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्म्मसु॥—गीता, ९। ९।

'हे धनञ्जय, वे कर्म्म मुझे नहीं बाँधते, क्योंकि मैं उन में आसक्त नहीं होता, मैं उनसे सदा उदासीन रहता हूँ।'

गीता में लिखा है कि भगवान् पक्षपात-रहित हैं—उन को प्रिय अप्रिय में कोई भेद नहीं।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः। गीता, ९। २९।

'मैं जीव मात्र को सम दृष्टि से देखता हूँ। मुझे न कोई अप्रिय है न प्रिय।' वेदान्तसूत्र में भी इसी तरह की बात कही गई है:—

वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्।—ब्रह्मसूत्र, २। १। ३४।

बादरायण ने जिस तरह परब्रह्म तत्त्व का विचार किया है उस को देखते हुए यह मालूम होता है कि इस विषय में उन का मत गीता के साथ बिल्कुल मिलता है। गीता के मत में भगवान् ही परम तत्त्व हैं, वही परात्पर हैं, उन से परे और कुछ नहीं है।

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय। गीता, ७। ७।

इस बात को पुष्ट करने के लिए बादरायण ने अनेक युक्तियाँ दी हैं। वे कहते हैं कि ब्रह्म से अधिक भी कोई तत्त्व ज़रूर है क्योंकि श्रुति में उन को "सेतु" कहा है—ऐसी आशङ्का यदि कोई करे और कहे कि 'सेतु' कहने से यही अभिप्राय है कि उस को पार करके किसी अन्य तत्त्व की प्राप्ति होती है

परमतः सेतून्मानसं बद्धभेदव्यपदेशेभ्यः ।—ब्रह्मसूत्र, ३ । २ । ३१ ।

परम् अतो ब्रह्मणः अन्यत् तत्त्वं भवितुमर्हति । कुतः सेतुव्यपदेशात् ।—शङ्करभाष्य ।

तो इस पूर्वपक्ष के उत्तर में बादरायण प्रत्येक आपत्ति का खण्डन करते हुए कहते हैं;

सामान्यात् तु । बुद्ध्यर्थः पादवत् । स्थानविशेषात् प्रकाशादिवत् । उपपत्तेश्च ।—ब्रह्मसूत्र, ३ । २ । ३२—३५ ।

इस लिए यही सिद्धान्त स्थिर रहा कि ब्रह्म ही चरमतत्त्व है, ब्रह्म के सिवा और कुछ नहीं है ।

तथान्यप्रतिषेधात् । ब्रह्मसूत्र, ३। २। ३६

ब्रह्म के सिवा अन्य वस्तु का प्रतिषेध किया जाता है । इसी भाव पर श्वेताश्वतर उपनिषद् कहता है;—

यस्मात् परं नापरं अस्ति किञ्चित् । श्वेत, ३ । ९ ।

'उसके पर अपर कुछ नहीं है ।'

ब्रह्म सगुण है या निर्गुण—सविशेष है या निर्विशेष—इस प्रश्न के उत्तर में बादरायण कहते हैं—

न स्थानतोऽपि परस्य उभयलिंगं सर्वत्र हि । ब्रह्मसूत्र, ३ । २। ११।

'सब जगह ब्रह्म को उभयलिंग (निर्गुण और सगुण) कहा गया है । उपाधि का संयोग हो जाने पर भी उसका निर्गुण भाव विलोप नहीं होता ।* यहाँ आपत्ति हो सकती है कि जब शास्त्रों में

---

* बादरायण ने तीसरे अध्याय के दूसरे पाद में ११ वें सूत्र से ३० वें सूत्र पर्यन्त ब्रह्मतत्त्व का विचार किया है । इन सब सूत्रों की व्याख्या और अन्वय करने में आचार्यों में बड़ा मतभेद दिखाई देता है । शङ्कराचार्य्य

निर्गुण और सगुण भाव में भेद बताया गया है तब ब्रह्म 'उभयलिंग' नहीं हो सकते। इसके उत्तर में बादरायण कहते हैं,—

इन्हीं सूत्रों पर निर्भर करके ब्रह्म की निर्गुणता प्रतिपादन करते हैं। दूसरे पक्ष में, रामानुजाचार्य्य इन्हीं सूत्रों के सहारे अपना विशिष्टाद्वैतवाद सिद्ध करते हैं; उन्होंने 'ब्रह्म सकल अच्छे गुणों का आकर है और समस्त बुरे गुणों से विपरीत है।' इस अपने सिद्धान्त को पुष्ट करने वाली इन सूत्रों की व्याख्या की है। शङ्कर की की गई इन सूत्रों की व्याख्या प्रायः इसकी उलटी है। पहले सूत्र 'न स्थानतोपि परस्योभयलिंगं सर्वत्र हि।'' की व्याख्या को ही उदाहरण-स्वरूप यहाँ लिखते हैं। इस सूत्र का अन्वय रामानुजाचार्य्य इस तरह करते हैं,— न स्थानतोऽपि परस्य; सर्वत्र उभयलिंगं हि। और शङ्कर का किया गया अन्वय इस प्रकार है—न स्थानतोपि परस्य उभयलिंगं; सर्वत्र हि (दर्शयति)। रामानुज की व्याख्या सुनिए—न पृथिव्यात्मादिस्थानतोपि परस्य ब्रह्मणः अपुरुषार्थगन्धः सम्भवति। कुतः, उभयलिंगं सर्वत्र हि। यतः सर्वत्र श्रुति-स्मृतिषु परं ब्रह्मोभयलिङ्गं, उभयलक्षणमभिधीयते निरस्तनिखिलदोषत्व-कल्याणगुणाकरत्वलक्षणोपेतमित्यर्थः।' शङ्कर की व्याख्या इस प्रकार है:— 'न तावत् स्वत एव परस्य ब्रह्मण उभयलिंगत्वमुपपद्यते। न ह्येकं वस्तु स्वत एव रूपादिविशेषोपेतं तद्विपरीतं चेत्यभ्युपगन्तुं शक्यं विरोधात्। अस्तु तर्हि स्थानतः पृथिव्याद्युपाधियोगादिति। तदपि नोपपद्यते। × ×। अतश्चान्य-तरलिंगपरिग्रहेऽपि समस्तविशेषरहितं निर्विकल्पकमेव ब्रह्म न तद्विपरीतम्। सर्वत्र हि ब्रह्मप्रतिपादनपरेषु वाक्येषु "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्"—इत्येव-मादिषु अपास्तसमस्तविशेषमेव ब्रह्मोपदिश्यते।' इतने ही से मालूम हो जायगा कि इस विषय में आचार्य्यों में परस्पर कितना बड़ा मतभेद है। इस मतद्वैध के स्थल पर हमने किसी आचार्य के भाष्य का सर्वांश नहीं माना है। अपनी बुद्धि के अनुसार मूलसूत्रों का जो ठीक अर्थ मालूम हुआ है—वही लिख दिया है। इसमें शक नहीं कि यह कार्य्य हमने दुस्साहसिकता का किया है। इसकी कैफ़ियत में हम इतना ही कह सकते हैं कि हमारे ज्ञान और विश्वास के अनुसार जो व्याख्या हमको ठीक मालूम पड़ी उसी को हमने सिर्फ़

प्रत्येकमतद्वचनात्। अपि च एवं एके। ब्रह्मसूत्र, ।३।२।।२—१३ *

सब जगह भेद नहीं कहा गया है। किसी किसी वेद की शाखा में इस तरह का (अभिन्न रूप में निर्देश) पाया जाता है:—

एतद्वै सत्यकाम परञ्च अपरञ्च ब्रह्म।

विवृत कर दिया है। ऐसा करने से गीता के साथ ब्रह्मसूत्र का सामञ्जस्य हो गया है इसलिए बहुत सम्भव है कि यह व्याख्या सत्य ही हो।

सूत्र में जो "स्थान" शब्द आया है, उसका असली अर्थ क्या है? ब्रह्मसूत्र में और भी दो एक जगह 'स्थान' शब्द का प्रयोग हुआ है। स्थानविशेषात् प्रकाशादिवत्—(३।२। २४ सूत्र); एवं स्थानादिव्यपदेशाच्च—(१।२।१४ सूत्र)। प्रथम सूत्र के भाष्य में शङ्कर इस प्रकार लिखते हैं,—'यदप्युक्तं सम्बन्धव्यपदेशात् भेदव्यपदेशाच्च परमतः स्यात् इति तदपि न सत्। यत एकस्यापि स्थानविशेषापेक्षया एतौ व्यपदेशौ उपपद्येते। × ×। यथा एकस्य प्रकाशस्य सौर्य्यस्य चान्द्रमसस्य वा उपाधियोगात् उपजात् विशेषस्य उपाध्युपशमात् सम्बन्धव्यपदेशो भवति। उपाधिभेदाच्च भेदव्यपदेशः १।२।१४ सूत्र के भाष्य में शङ्कर ने इस तरह लिखा है:—कथं पुनराकाशवत् सर्वगतस्य ब्रह्मणः स्थानमुपपद्येत इति। भवेत् एषा अनवक्लृप्तिः यदि एतदेव एकं स्थानमस्य निर्दिष्टं भवेत्। सन्ति अन्यानि अपि पृथिव्यादीनि स्थानानि अस्य निर्दिष्टानि यः पृथिव्यां तिष्ठन् इत्यादि।× ×। निर्गुणमपि सद् ब्रह्म नामरूपगतैः गुणैः सगुणमुपासनार्थं तत्र तत्र उपदिश्यते। इसलिए स्थान का अर्थ "न स्थानतोऽपि" सूत्र में 'उपाधि' करना असङ्गगत नहीं है।

* प्रत्येकं अतद्वचनात्। प्रत्युपाधिभेदं ह्यभेदमेव ब्रह्मणः श्रावयति शास्त्रम्। शाङ्करभाष्य।

तत्र तत्र स्वेच्छया नियमनं कुर्वतस्तत्तत्प्रयुक्तापुरुषार्थप्रतिषेधात् × × परस्परं तु ब्रह्मणः स्वाधीनस्य स एव सम्बन्धस्तत्तद्विचित्रनियमरूपलीलारसायैव स्यात्। रामानुज।

हे सत्यकाम, ब्रह्म के पर और अपर दो विभाव हैं *

आपत्ति हो सकती है कि यदि ब्रह्म सगुण (सोपाधिक) है तो वह साकार (ससीम) भी हो जायगा !

इसके उत्तर में बादरायण कहते हैं,—

अरूपवद् एव हि तत् प्रधानत्वात्। † ब्रह्मसूत्र, ३।२।१४

रूपाद्याकाररहितमेव ब्रह्म अवधारयितव्यं न रूपादिमत्।

निराकारमेव ब्रह्म अवधारयितव्यम्। शाङ्करभाष्य।

'ब्रह्म को निराकार ही मानना चाहिए। उपाधि से सम्बन्ध रखते हुए भी वह साकार (ससीम) नहीं होता'। क्योंकि उसकी 'उपाधि' स्वेच्छाकृत है। ‡ जो कहो कि फिर सगुण लिंगश्रुति की क्या गति होगी ? इसके उत्तर में बादरायण कहते हैं;—

प्रकाशवत् च वैयर्थ्यम्।—ब्रह्मसूत्र, ३।२।१५।

---

* निर्गुण ब्रह्म ही को उपाधिसंयोग से शास्त्र में सगुण कहा है—शङ्कराचार्य्य ने यह बात और भी एक जगह कही हैः—निर्गुणमपि सत् ब्रह्म नामरूपगतैः गुणैः सगुणमुपासनार्थं तत्र तत्र उपदिश्यते। २।१।१४। सूत्र पर शाङ्करभाष्य।

† देवादिशरीरानुप्रवेशे तेन तेन रूपेण युक्तमपि अरूपवदेव। रामानुज।

‡ बादरायण ने और जगह भी ऐसा ही कहा है :—विकारावर्त्ति च, तथाहि स्थितिमाह—४।४।१९। सूत्र। विकारावर्ति अपि नित्यमुक्तं पारमेश्वरं रूपं न केवलं विकारमात्रगोचरम्। × × तथाहि—अस्य द्विरूपा स्थितिः महामायः 'एतावानस्य महिमातोज्यायांश्च पूरुषः। पादोस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' इत्येवमादि।—शङ्करभाष्य।

इसकी भामती टीका में वाचस्पति मिश्र कहते हैं,—

एतावानस्य महिमेति विकारवर्त्ति रूपमुक्तम्। ततो ज्यायांश्चेति निर्विकारं रूपम्।

सगुण भाव उपाधिकृत है। जिस तरह सूर्य्य का प्रकाश* झरोखों के कारण टेढ़ा सीधा अनेक आकार धारण करता है, ब्रह्म भी उसी तरह सगुण भाव को प्राप्त होता है। पर, ब्रह्म जब प्रकाश-स्वरूप और चिन्मय है तब वह किस तरह साकार हो सकता है?

आह च तन्मात्रम् † १। ब्रह्मसूत्र, ३।२।१६।

इस तत्त्व को विशद करने के लिए जल में सूर्य्य के प्रतिबिम्ब का दृष्टान्त दिया जाता है।

अत एव चोपमा सूर्य्यकादिवत्। ब्रह्मसूत्र, ३।२।१८

यदि कहो कि यह दृष्टान्त ठीक नहीं तो इस का उत्तर बादरायण देते हैं,—

तथा—पादोऽस्य विश्वा भूतानीति विकारवर्त्ति रूपं, त्रिपादस्यामृतं दिवीति-निर्विकारमाह रूपम्।

अर्थात् ब्रह्म के दो भाव हैं। एक विकार के भीतर और दूसरा विकार से बाहर। उसका एक पाद विश्व के भीतर है और बाक़ी तीन पाद विश्वातिग हैं। 'पादोस्य विश्वा भूतानि' श्रुति में इसी तत्त्व का उपदेश किया है।

* यथा प्रकाशः सौरश्चान्द्रमसो वा वियद् व्याप्यावतिष्ठमानोऽङ्गुल्युपाधिसम्बन्धात् तेषु ऋजुवक्रादिभावं प्रतिपद्यमानेषु तद्भावमिव प्रतिपद्यते। एवं ब्रह्मादि पृथिव्याद्युपाधिसम्बन्धात् तदाकारतामिव प्रतिपद्यते।—शाङ्कर-भाष्य।

यथा प्रकाशादेर्विततस्य वातायनघटादिस्थानभेदैः, परिच्छिद्य अनुसन्धान-सम्भवः। ३।२।३४ सूत्र के भाष्य में रामानुज।

† किञ्च "सत्यं ज्ञानमनन्तम्" इत्यादिवाक्यं ब्रह्मणः प्रकाशस्वरूपता-मात्रं प्रतिपादयति।—रामानुज। आह च श्रुतिश्चैतन्यमात्रं विलक्षणरूपान्तर-रहितं निर्विशेषं ब्रह्म। × × नास्य आत्मनोन्तर्बहिर्वा चैतन्यादन्यत् रूप-मस्ति। चैतन्यमेव तु निरन्तरमस्य रूपम्।—शङ्कर।

वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवम् ।
दर्शनाच्च * ब्रह्मसूत्र, ३।२।२०—२१।

उपाधि में ब्रह्म के अन्तर्भाव के कारण गौणभाव में उसकी वृद्धि और ह्रास उत्पन्न होता है। जिस तरह जल में प्रतिबिम्बित सूर्य्य का जल के कम्पन से कम्प और जल के स्थैर्य्य से निष्पन्द भाव होता है। श्रुति में भी यही बात कही है,—

अनेन जीवेनात्मने नानुप्रविश्य।

'प्रत्यगात्म रूप में उसीने (उपाधि से) प्रवेश किया।'

अगले सूत्र में बादरायण कहते हैं कि ब्रह्म सोपाधिक होने पर भी वास्तव में ससीम नहीं होता; श्रुति का भी यही उद्देश है। †

प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति। ततो ब्रवीति च भूयः। ब्रह्मसूत्र, ३।२।२—२।

श्रुति में ऐसा कहाँ लिखा है?

जिस तरह कि पुरुषसूक्त में कहा है—

अतो ज्यायांश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।

परम पुरुष प्रपञ्च से परे है; उसके एक पाद में समस्त भूत हैं और बाक़ी तीन पाद प्रपञ्च से अतीत (निर्गुण) हैं।

---

* परमात्मा तत्तद्गतवृद्धिह्रासादिदोषैरसंस्पृष्टः।—रामानुज। किं पुनरत्र विवक्षितं सारूप्यमिति। तदुच्यते। वृद्धिह्रासभाक्त्वमिति। जलगतं हि सूर्य्यप्रतिबिम्बं जलवृद्धौ वर्धते, जलह्रासे ह्रसति, जलचलने चलति, जलभेदे भिद्यते इत्येवम्।—शाङ्करभाष्य।

† तदेतद् उच्यते प्रकृतैतावत्त्वं प्रतिषेधतीति। प्रकृतं यद् एतावदियत्तापरिच्छिन्नं मूर्त्तामूर्त्तलक्षणं ब्रह्मणो रूपं तदेव शब्दः प्रतिषेधति।—शङ्कर।

एक ब्रह्म कभी निर्गुण है और कभी सगुण है। सगुण और निर्गुण भिन्न तत्त्व नहीं हैं। इसी विषय में बादरायण कहते हैं।

प्रकाशादिवच्च अवैशेष्यम्। प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात्। ब्रह्मसूत्र, ३।२।२५।

इसका दृष्टान्त—प्रकाश है। झरोखे से निकला सूर्य्य का प्रकाश क्या आकाशगत सूर्य्य के प्रकाश से भिन्न चीज़ है? दोनों के बीच में केवल उपाधि का भेद है।*

उपाधि के दूर हो जाने पर उसका स्वेच्छाकृत ससीमभाव भी दूर हो जाता है और फिर वह असीम हो जाता है। फिर वह अनन्तरूप में विराजता है। इसीलिए बादरायण कहते हैं,—

अतोऽनन्तेन तथाहि लिंगम्।—ब्रह्मसूत्र, ३।२।२६।

श्रुति ने इसी तरह ब्रह्म का लिंग (लक्षण) बताया है। इसलिए सगुण और निर्गुण भिन्न तत्त्व नहीं हैं।

बादरायण ने और दृष्टान्त देकर भी इस तत्त्व को समझाया है।

जिस तरह, अहिकुण्डल—सर्प और उसकी कुण्डली।

उभयव्यपदेशात्तु अहिकुण्डलवत्। ब्रह्मसूत्र, ३।२।२७।

अत उभयव्यपदेशदर्शनात् अहिकुण्डलवद् अत्र तत्त्वं भवितुमर्हति। यथाहि अहिरित्यभेदः कुण्डलाभोगप्रांशुत्वादीनि इति भेद एवमिहापीति। शाङ्करभाष्य।

---

* यथा प्रकाशाकाशसवितृप्रभृतयः अङ्गुलीकरकोदकप्रभृतिषु कर्म्मसु उपाधिभूतेषु सविशेषा इवावभासन्ते न च स्वाभाविकीं सविशेषात्मकतां जहति। एवं उपाधिनिमित्त एवायं आत्मभेदः—शाङ्करभाष्य। आत्मा प्रकाशशब्दितोऽज्ञानतत्कार्ये कर्म्मणि उपाधौ सविशेषः—आनन्दगिरि।

जब भेद और अभेद दोनों का उपदेश किया गया है तब इस तत्त्व को अहिकुण्डलवत्—समझना चाहिए। सर्प को देखते हुए तो अभेद और कुण्डल का विस्तार और उसकी ऊँचाई देखते हुए भेद प्रतीत होता है—ब्रह्म में भी यही बात है।

बादरायण सगुण और निर्गुण के भेदाभेद को समझाने के लिए फिर कहते हैं,—

प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात्। पूर्ववद्वा।—ब्रह्मसूत्र, । ३ । २ । २८—२९ ।

'ब्रह्म जब तेजःस्वरूप हैं तब ज्योति के दृष्टान्त से भी सगुण और निर्गुण का उपाधिगत भेद और स्वरूपगत अभेद प्रतिपन्न होता है।'

जिस तरह सफ़ेद ज्योति रंगीन चिमनी के संयोग से रंगीन मालूम पड़ती है और अपने आधार के अनुसार टेढ़ी या सीधी दिखाई देती है—उपाधि के योग से ब्रह्म की भी यही बात है। वह वस्तुतः असीम है पर उपाधि के कारण वह ससीम मालूम देता है। वह स्वरूपतः निर्गुण है पर तो भी वह सगुण मालूम देता है। पर शास्त्र में सगुण और निर्गुण का भेद नहीं माना गया है।

प्रतिषेधाच्च। ब्रह्मसूत्र। ३। २। ३०।

इसी निर्गुण ब्रह्म का परिचय देते हुए बादरायण इस तरह कहते हैं,—

अदृश्यत्वादिगुणको धर्म्मोक्तेः।—ब्रह्मसूत्र, १। २ २१।

इस सूत्र में बादरायण ने निश्चय ही ब्रह्म के निर्गुणभाव पर लक्ष्य रखा है। क्योंकि जिस श्रुति में ब्रह्म को अदृश्य, अग्राह्य, अगोत्र, अवर्ण, अचक्षुः, अश्रोत्र, अपाणि, अपाद है ऐसा कहा गया

है वह प्रसिद्ध श्रुतिवाक्य ही उनका यहाँ लक्ष्य है। और जगह बादरायण कहते हैं,—

तदव्यक्तम् आह हि ।—ब्रह्मसूत्र, ३ । २ । २३ ।
अव्यक्तम् अनिन्द्रियग्राह्यम्—शङ्कर ।

इस सूत्र का लक्ष्य भी निर्गुण ब्रह्म ही है। 'ब्रह्म अव्यक्त है वह इन्द्रिय मन और बुद्धि का अगोचर है।'

स एष वा नेति नेति आत्मा अगृह्यो नहि गृह्यते।—बृहदारण्यक, ३।६।२३।

'परमात्मा 'नेति नेति' लक्षण से लक्षणीय है। वह अगृह्य है अर्थात् ग्रहण करने से अतीत (परे) है।' इस श्रुति को ही यहाँ लक्ष्य किया गया है। परन्तु, संराधनकाल में योगी के ध्यान में ब्रह्म आता है—श्रुति-स्मृति में ऐसा लिखा है।

अपि संराधने* प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ।—ब्रह्मसूत्र, ३ । २ । २४ ।

यहाँ लक्ष्य सगुण ब्रह्म है।

बादरायण के मत में सगुण ब्रह्म सर्व-शक्तिमान् और सर्व-धर्म-युक्त है।

सर्वधर्म्मोपपत्तेश्च ।—ब्रह्मसूत्र, २ । १ । ३७ ।
सर्वोपेता च तद्दर्शनात् ।—ब्रह्मसूत्र, २ । १ । ३० ।
सर्वोपेता सर्वशक्तियुक्ता च परा देवता [परमेश्वरः] ।—शाङ्करभाष्य ।

'ब्रह्म सर्वज्ञ है, सर्ववित् है; सत्यकाम है, सत्य-सङ्कल्प है; उस

---

* संराधनञ्च भक्तिध्यानप्रणिधानाद्यनुष्ठानम् ।—शङ्कर । संराधने सम्यक् प्रीणने भक्तिरूपापन्ने निदिध्यासन एवास्य साक्षात्कारो नान्यत्र इति श्रुतिस्मृतिभ्यामवगम्यते । रामानुज ।

की विविध प्रकार की विचित्र शक्तियाँ हैं ।' बादरायण ने इन सूत्रों में इन्हीं श्रुतिवाक्यों की ओर लक्ष्य किया है ।

परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते ।—श्वेताश्वतर, ६ । ८ ।
यः सर्वज्ञः सर्ववित् ।—मुण्डक, १ । १ । ६ ।
सत्यकामः सत्यसंकल्पः । छान्दोग्य, ८ । ७ । १

सगुण ब्रह्म ही जगत् बनाता, पालता और बिगाड़ता है ।

जन्माद्यस्य यतः ।—ब्रह्मसूत्र, १ । १ । २ ।

यही नहीं कि वह ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण ही हो वह विश्व का उपादानकारण भी है । *

प्रकृतिश्च ।—ब्रह्मसूत्र, १ । ४ । २३ ।
योनिश्च गीयते ।—ब्रह्मसूत्र, १ । ४ । २७ ।

भगवान् ने भूतों को बना कर उनके नाम भी रखे हैं ।

संज्ञामूर्त्तिक्लृप्तिस्तु । त्रिवृत् कुर्वत उपदेशात् । ब्रह्मसूत्र, २ । ४ । २० ।

वह अन्तर्यामी रूप से जीव को प्रेरित भी करता है । पर ऐसा करने से उसमें पक्षपात नहीं होता । क्योंकि वह जीव के कर्म्मानुसार ही उसमें प्रेरणा उत्पन्न करता है ।

परात्तु तच्छ्रुतेः ।—ब्रह्मसूत्र, २ । ३ । ४१ ।

'परमेश्वर ही जीवों में प्रेरणा उत्पन्न करता है' श्रुति के इस वाक्य का यहाँ अनुमोदन किया है ।

य आत्मनि तिष्ठन् आत्मानमन्तरो यमयति ।

---

* ब्रह्म को केवल निमित्तकारण मानने से और उसको उपादानकारण न मानने से जिन दोषों की उत्पत्ति होती है उनको बादरायण ने २ । २ । ३७–४१ सूत्रों में दिखाया है ।

'जो अन्तर्यामि रूप से आत्मा में स्थित हो आत्मा का चिन्तन करता है ।

कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिसिद्धा वैयर्थ्यादिभ्यः ।—ब्रह्मसूत्र २ । ३ । ४२

'भगवान् जीव के कर्मानुसार ही प्रेरणा करते हैं । ऐसा न होने से शास्त्र का विधि-निषेध निरर्थक हो जायगा ।'

गोता का भी यही मत है, उस में लिखा है,—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥—गीता, १८ । ६१ ।

'हे अर्जुन, ईश्वर प्रत्येक भूत के हृदय में वास करता है; वह अपनी माया से जीव मात्र को चक्र पर चढ़ा कर फिरा रहा है' ।

भगवान् कर्म्मानुसार प्रेरणा करते हैं—इसका यही कारण है कि फलदाता भी वही हैं ।

फलमतः उपपत्तेः । श्रुतत्वाच्च । ३ । २ । ३६ । ३६ ।
अतः = ईश्वरात् ।—शङ्कर ।

'ईश्वर से ही जीवों को कर्म्मफल की प्राप्ति होती है—यह मत श्रुति और युक्ति दोनों से सिद्ध है ।' क्योंकि, श्रुति कहती है,—

स वा एष महान् अज आत्मा वसुदानः ।—बृहदारण्यक, ४ । ४ । २४ ।

'वह अनादि परमात्मा ही कर्म्मफल का देनेवाला है ।'

भोक्ता और भोग्य—प्रकृति और पुरुष—ये भगवान् के ही विभाव हैं—बादरायण ने नीचे लिखे सूत्र से यही प्रमाणित किया है ।

भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत् स्याल्लोकवत् ।—ब्रह्मसूत्र, २ । १ । १३ ।

इस के भाष्य में शङ्कराचार्य्य कहते हैं,—

तस्मात् प्रसिद्धस्यास्य भोक्तृभोग्यस्याभावप्रसंगाद् युक्तमिदं ब्रह्मकारणतावधारणमिति चेत् कश्चित् चोदयेत् तं प्रति ब्रूयात्—स्याल्लोकवदिति । उपपद्यते एवायमस्मत्पक्षेपि विभागः । एवं लोके दृष्टत्वात् । तथाहि समुद्रादुदकात्मनः अनन्यत्वेऽपि तद्विकाराणां फेनवीचितरंगबुद्बुदादीनामितरेतरविभाग इतरेतरसंश्लेषादिलक्षणश्च व्यवहार उपलभ्यते । नच समुद्रादुदकात्मनोऽन्यत्वेऽपि तद्विकाराणां फेनतरंगादीनामितरेतरभावापत्तिर्भवति । न च तेषामितरेतरभावानापत्तावपि समुद्रात्मनोऽन्यत्वं भवति । एवमिहापि न च भोक्तृभोग्ययो इतरेतरभावापत्तिः ।

अर्थात्, यदि कोई आपत्ति करे कि, ब्रह्म को जगत् का कारण कहने से उसका भोक्ता और भोग्य का विभाग लुप्त हो जायगा तो उसका उत्तर यह है "स्यात् लोकवत् ।" ऐसा कहने से विभाग में कोई हानि नहीं आती, क्योंकि ऐसा लोक में देखा जाता है। जिस तरह समुद्र की तरंगें, बुदबुदे और झाग एक दूसरे से भिन्न हैं—पर ये सब विकार जल ही के हैं—अतएव जलात्मक समुद्र से ये अभिन्न भी हैं और उनका आपस में संश्लेष और विश्लेष भी देखा जाता है—उसी तरह ब्रह्म का भी भोक्ता और भोग्यभाव का विषय है। फेन, तरंग आदि सब जलात्मक ही हैं—जल से अभिन्न होने पर भी उनका विभाग लुप्त नहीं होता—तरंग तरंग रहती है और झाग झाग रहते हैं,—इसी तरह भोक्ता और भोग्य—प्रकृति और पुरुष दोनों ही ब्रह्मात्मक हैं, पर ब्रह्म से अभिन्न होने पर भी उनका आपस का भेद लुप्त नहीं होता।' इस लिए ब्रह्म ही एक मात्र कारण है; जड़ और चित्, प्रकृति और पुरुष, भोक्ता और भोग्य, ये दोनों उसके विभाव (aspects) हैं—ब्रह्मसूत्र से इस मत का भी समर्थन पाया जाता है।

अठारहवाँ अध्याय।

वेदान्त और गीता।

ब्रह्म की साधना।

अद्वैतमत में दो प्रकार की उपासना बताई गई है, सगुण और निर्गुण। इन दोनों उपासनाओं के फल में भी फ़र्क़ है। सगुण साधक उत्तर मार्ग से देवयान द्वारा सूर्य्यमंडल में पहुँचते हैं और वहाँ से क्रमपूर्वक ब्रह्मलोक में पहुँच कर तत्त्वज्ञान को प्राप्त करते हैं; और महाप्रलय में जब कि ब्रह्मा के दिन का अवसान होता है तब ब्रह्मा के साथ वे भी परब्रह्म में लीन हो जाते हैं। इस को क्रम-मुक्ति कहते हैं। पर जो निर्गुण ब्रह्म के उपासक हैं, वे प्राण छोड़ते ही इधर उधर न घूम कर—इस शरीर का त्याग करते ही अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाते हैं। इसका नाम विदेह मुक्ति है। पर विशिष्टाद्वैतवादी उपासना के ये दो प्रकार और उनके फलों का तारतम्य नहीं मानते। वे कहते हैं कि सगुण ब्रह्म ही की उपासना हो सकती है और उसका एक ही तरह का फल होता है। इस मतभेद में गीता का उपदेश क्या है?

हमने देखा कि ब्रह्म के दो विभाव हैं एक सगुण और दूसरा निर्गुण। सगुण और निर्गुण भिन्न तत्त्व नहीं हैं—केवल भाव का भेद है। इसलिए गीता के मत में निर्गुण साधना और सगुण साधना के फल में कोई भेद नहीं होना चाहिए। किन्तु

निर्गुण ब्रह्म की उपासना बहुत मुश्किल है । क्योंकि वह अचिन्त्य है और अव्यक्त है, वह समस्त विशेषणों से रहित है, सब उपाधियों से हीन है । पर फल एक ही है । क्योंकि जो सगुण है वही निर्गुण है ।

गीता के दूसरे अध्याय में स्थितप्रज्ञ का लक्षण कहते हुए निर्गुण साधना का कुछ ज़िक्र किया गया है ।

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥
यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ॥
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ गीता, २।५५—५७ ।
विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निस्पृहः ।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति ॥
एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वाऽस्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥ गीता, २। ७१, ७२ ।

'हे पार्थ, जो समस्त मनोरथों का त्याग करके अपने ही में प्रसन्न रहता है उस को 'स्थित-प्रज्ञ' अर्थात् दृढ़ बुद्धिवाला कहते हैं । जो न दुःख से दुखी होता है, न सुख चाहता है, जिसे न राग है, न भय है, न क्रोध है, उसी को स्थितप्रज्ञ मुनि कहते हैं । जिसे किसी से प्रेम नहीं है । जो न शुभ से प्रसन्न होता है न अशुभ से दुखी—वही स्थितप्रज्ञ है । × × । जो पुरुष सब कामनाओं को त्याग कर इच्छा-रहित हो जाता है, जिस में "मैं" और "मेरा" भाव नहीं रहता, उसी को शान्ति मिलती है । हे पार्थ, यही ब्रह्मनिष्ठा है । इसे पाकर फिर मोह नहीं होता ।

अन्तकाल में भी यदि इसकी प्राप्ति हो जाय तो मोक्ष मिल जाता है ।'

गीता के पाँचवें अध्याय में भी निर्गुण साधना का प्रसङ्ग आया है,

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥
विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥ गीता, ५।१७, १८ ।
न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥
बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत् सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षय्यमश्नुते ॥ गीता, ५ । २०, २१ ।
योन्तः सुखोन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥
लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥—गीता, ५ । २४-२५ ।

'उस (परब्रह्म) में जिनकी बुद्धि लग जाती है, जो उसी को अपनी आत्मा समझते हैं, एक मात्र उसीमें जिनकी श्रद्धा है और उसी को जो परम पुरुषार्थ समझते हैं—उनके सब पाप आत्म-ज्ञान से धुल जाते हैं और वे फिर जन्म नहीं लेते। ज्ञानी समदर्शी होते हैं; वे विद्याविनय से युक्त ब्राह्मण को, बैल को, हाथी को, कुत्ते को और चाण्डाल को भी एक ही दृष्टि से देखते हैं। × × । जिसने ब्रह्म को जाना और ब्रह्ममय हो गया, वह प्रिय के मिलने से आनन्दित भी नहीं होता और अप्रिय प्राप्त होने से दुःख भी नहीं मानता। बाहरी चीज़ों में मन

आसक्त न करके जो भीतरी सुख का अनुभव करता है, वह ब्रह्म में अन्तःकरण को मिला कर अक्षय सुख लाभ करता है। × ×। जिसको भीतरी सुख, भीतरी आनन्द और भीतरी प्रकाश प्राप्त हुआ है वह योगी ब्रह्मरूप होकर ब्रह्म में विलीन हो जाता है। जिनको सच्चा ज्ञान प्राप्त हुआ है, जिनके पाप नष्ट होगये हैं, जिनका मन अपने अधीन हुआ है, जीवमात्र का हित ही जिनका व्रत है वे ब्रह्म में मिल जाते हैं।'

दूसरी जगह गीता में सगुण साधना का ज़िक्र भी आया है,—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥—गीता, ५। २९।

'मैं यज्ञ और तपस्या का भोक्ता हूँ, सब जगत् का परमेश्वर हूँ, यह जो जानता है वही शान्ति पाता है।'

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥—गीता, ७। २८।

'पुण्यकर्मों से जिनके पाप नष्ट हो गये हैं ऐसे मनुष्य सुख-दुःखादि के मोह से छुटकारा पाकर निश्चयपूर्वक मेरी आराधना करते हैं।'

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥ गीता, ८। ८।

'हे पार्थ, जो मनुष्य अपने चित्त को सब ओर से हटा कर अभ्यास से उसे एकाग्र कर परम प्रकाशवाले पुरुष का चिन्तन करता है वह उसमें मिल जाता है।'

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥—गीता, ८। १४।

'हे पार्थ, जो अनन्यगति होकर सर्वदा मेरा ही स्मरण करता है, उस सदा सन्तोषयुक्त योगी को सहज में मेरी प्राप्ति हो जाती है ।'

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥ गीता, ९ । १३ ।

'हे पार्थ, जिनका मन शुद्ध है, वे दैवी प्रकृति का आश्रय ग्रहण करते हैं । वे मुझे सब भूतों का मूल और अविनाशी जान कर अनन्यभाव से मेरी पूजा करते हैं ।'

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥ गीता, १० । ९–१० ।

'वे मुझमें चित्त लगाकर, मुझको अपना-कर, एक दूसरे को मेरे सम्बन्ध में समझाते हुए, मेरा भजन करते हुए, सर्वदा सन्तुष्ट रहते हैं और आनन्द से समय बिताते हैं । चित्त का समाधान कर वे प्रेम से मेरा भजन करते हैं । मैं उनको ऐसी बुद्धि देता हूँ जिससे वे मुझे प्राप्त कर लेते हैं ।'

इस तरह गीता में सगुण और निर्गुण दोनों तरह की साधनाओं का प्रसंग और उपदेश दिखाई पड़ता है; और दोनों साधनाओं के फल से साधक भगवान् को प्राप्त कर लेता है—यह भी प्रकट होता है । अब देखना यह है कि गीता किस प्रणाली को अधिक अच्छा समझती है । गीता के बारहवें अध्याय में अर्जुन श्रीकृष्ण से यही प्रश्न करते हैं;—

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्य्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥—गीता, १२ । १ ।

अर्जुन पूछता है, इस प्रकार के तुम्हारे सगुण रूप में चित्त स्थिर कर जो तुम्हारी उपासना करते हैं और जो अव्यक्त ब्रह्म की उपासना करते हैं इन दोनों प्रकार के भक्तों में श्रेष्ठ योगी कौन है ?

इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं,—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥
येत्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यञ्च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥ गीता, १२। २—५।

'जो मुझमें चित्त स्थिर रख कर बड़ी श्रद्धा से मेरा भजन करते हैं, उन्हींको मैं श्रेष्ठ योगी समझता हूँ। पर, जो इन्द्रियों का संयम कर, सर्वत्र समदृष्टि रख कर प्राणिमात्र के हित में लगे रहते हैं और अविनाशी ब्रह्म—जिसके बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता कि वह क्या है, जो अव्यक्त है, सर्वत्र व्याप्त है, अचिन्त्य है, नित्य है, अचल है, स्थिर है—की उपासना करते हैं वे भी मुझको ही प्राप्त करते हैं। किन्तु जिनका मन अव्यक्त में लगा है उनको कष्ट अधिक होता है। क्योंकि देहवाले प्राणी के लिए अव्यक्त गति का ज्ञान कर लेना बड़े ही कष्ट का काम है।'

इससे मालूम हुआ कि गीताकार के मत में, उपासना के लिए निर्गुण की अपेक्षा सगुण ब्रह्म या महेश्वर ही अधिक प्रशस्त हैं।

उन्नीसवाँ अध्याय।

वेदान्त और गीता।

ब्रह्मप्राप्ति का उपाय।

हमने देखा कि अद्वैत मत में जीव मुक्त-स्वभाव है, वह पूर्वापर मुक्त है—क्योंकि वह और ब्रह्म दो नहीं, एक ही हैं—जीव ब्रह्म ही है—उसको जो बन्धन मालूम पड़ता है वह अविद्या की परिकल्पना है—बिल्कुल भ्रम है। अविद्या का नाश करने से ही भ्रम का भी नाश हो जाता है। जीव ब्रह्म से अभिन्न है इस तत्त्वज्ञान से ही अविद्या की निवृत्ति होगी। जीव, 'सोऽहं' 'अहं ब्रह्मास्मि' ऐसी उपलब्धि जब कर लेगा तभी अविद्या का पर्दा फट जायगा और वह ब्रह्म के साथ एक होकर अपनी महिमा में स्थित हो जायगा। इसलिए अद्वैत मत में जीव और ब्रह्म का ऐक्य-ज्ञान ही मुक्ति का उपाय है। दूसरे पक्ष में, विशिष्टाद्वैत मत में अविद्या और विद्या, कर्म्म और भक्तिरूपापन्न ध्यान—इन दोनों का समुच्चय ही मुक्ति का साधन है। विशिष्टाद्वैतवादी कहते हैं कि जिस साधक का अन्त:करण ज्ञान और कर्म्मरूप दोनों तरह के योग से संस्कृत हो गया है—वही ऐकान्तिक और आत्यन्तिक भक्तियोग द्वारा भगवान् को प्राप्त करलेता है। इस सम्बन्ध में गीता का मत क्या है?

गीता की आलोचना करने से पता चलता है कि गीता के प्रचार

के समय भारतवर्ष में मोक्षप्राप्ति के चार तरह के जुदा जुदा मार्ग प्रचलित थे । उन चारों के नाम इस प्रकार हैं,—कर्म्ममार्ग, ज्ञानमार्ग, ध्यानमार्ग और भक्तिमार्ग । जो जिस मार्ग पर चलता था, वह उसी मार्ग को सब से बढ़िया समझता था, बल्कि उस मार्ग को एक मात्र मार्ग समझता था—उसकी दृष्टि में मुक्ति का दूसरा मार्ग ही न था । भगवान् ने गीता का प्रचार करके साधना के इन विभिन्न मार्गों का अपूर्व समन्वय कर दिया है । उसका यह फल हुआ कि जिस तरह प्रयाग में गंगा, यमुना और सरस्वती तीनों की पतितपावन धारायें मिल कर त्रिवेणी के रूप में देश को पवित्र करती हुई समुद्र को प्राप्त होती हैं, उसी तरह गीता में कर्म, ज्ञान, ध्यान और भक्ति-रूप चारों मार्ग इकट्ठे होकर संसार को पवित्र करते हुए भगवान् की ओर जा रहे हैं । यह समन्वयवाद गीता की अपनी चीज़ है । शास्त्र में और कहीं इतनी अच्छी तरह इनका उपदेश दिखाई नहीं पड़ता । अब इसकी आलोचना करते हैं ।

गीता के तेरहवें अध्याय में भगवान् कहते हैं ,—

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्म्मयोगेन चापरे ॥
अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥

गीता, १३।२४—२५।

'कोई ध्यान से अपने में ही आत्मा को देखता है, कोई सांख्य-योग से देखता है और कोई कर्म्मयोग से । पर जिन्हें इस प्रकार का ज्ञान नहीं है, वे दूसरों से सुन कर ध्यान करते हैं और इस प्रकार सुन कर ध्यान करनेवाले भी मृत्यु को पार कर जाते हैं ।'

इस श्लोक में भगवान् ने कर्म्मवाद, ज्ञानवाद, ध्यानवाद और भक्तिवाद—इन चार मार्गों की ओर इशारा किया है। कर्म्मवाद कर्म्मयोग में, ज्ञानवाद ज्ञानयोग में, ध्यानवाद ध्यानयोग में और भक्तिवाद भक्तियोग में परिणत होने से मोक्ष की प्राप्ति होजाती है—यह बात भी भगवान् ने ऊपर लिखे उपदेश में कही है।

जैसा पहले उल्लेख हो चुका है कि कर्म्मवादी के मत में कर्म्मकाण्ड ही सार्थक है ज्ञानकाण्ड निरर्थक है।

आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्।—मीमांसासूत्र, १।२।१।

'जब वेद कर्म्म को ही प्रतिपादन करता है तब उसमें जितना ज्ञानांश है निरर्थक है।'

कर्म्मवादी कहते हैं कि जीव वेदविहित कर्म्मानुष्ठान करने से स्वर्ग की प्राप्ति कर सकता है। जिस सुख में दुःख की मिलावट नहीं, जो सुख बाद को दुःख में परिणत नहीं होता, जो सुख इच्छा करते ही मिल जाता है—स्वर्ग में वही सुख मिलता है। वेद में लिखा है,—

अक्षय्यं हि वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति।

'चार महीने बराबर यज्ञ करने वाले को अक्षय पुण्य की प्राप्ति होती है।'

सर्वान् लोकान् जयति, मृत्युं तरति पाप्मानं तरति ब्रह्महत्यां तरति योऽश्वमेधेन यजते।

'अश्वमेध यज्ञ करने वाला यजमान सब लोकों को जीत लेता है, मृत्यु से पार हो जाता है—ब्रह्महत्या से भी वह छूट जाता है।'

अपाम सोमं अमृता अभूम ।

'हम सोम-पान करके अमर हो गये हैं ।'

इसी लिए कर्म्मवादी कहते हैं कि संसार से छूटने और मोक्ष के पाने का एक मात्र उपाय—कर्म्म है । दूसरे पक्ष में ज्ञानवादी कहते हैं कि कर्म्म के द्वारा कभी श्रेयोलाभ नहीं हो सकता ।

न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेनामृतत्वमानशुः ।

'न कर्म्म से, न पुत्र से, न धन से ही अमृतत्व मिलता है—एक मात्र त्याग के द्वारा ही मनुष्य अमर हो सकता है ।'

वे यह भी कहते हैं कि कर्म्म का फल चिरस्थायी नहीं है । कर्म्म के फल से जिस भोग की प्राप्ति होती है वह सदा रहने वाला न होकर भंगुर होता है । भोग के द्वारा कर्म्म का क्षय होते ही कर्मी का पतन अवश्यम्भावी है । इस लिए यज्ञ आदि कर्म्म को मोक्ष-प्राप्ति का उपाय मानना निरा मोह है ।

प्लवाह्येते अदृढ़ा यज्ञरूपाः ।

'यज्ञरूप कर्म्म संसार को तरने का कमज़ोर उपाय है ।'

वे और भी कहते हैं कि कर्म्म का फल अस्थायी हो—यही बात नहीं—वह बन्धन का कारण भी होता है । कर्म्म करते ही जीव को कर्म्मपाश में बद्ध होना पड़ता है ।

कर्म्मणा बध्यते जन्तुः ।

'जीव कर्म्म द्वारा बद्ध होता है ।'

पाप हो या पुण्य जीव को कर्म्मफल भोगना ही पड़ता है । कर्म्मफल भोगने के लिए उसको बार बार संसार में आना ही पड़ता है । इसलिए जिस कर्म्म में इतने दोष हों—उससे बचना ही

अच्छा । सब तरह के कर्म्मों का त्याग ही ज्ञानवादी के मत में बढ़िया मार्ग है । कर्म्म के द्वारा कभी मोक्ष नहीं मिलता । ज्ञान-वादियों के मत में ज्ञान ही मोक्ष लाभ करने का एक मात्र उपाय है ।

ज्ञानान्मुक्तिः ।

'ज्ञान से ही मुक्ति होती है ।'

किसके ज्ञान से ? ज्ञानवादी कहते हैं—प्रकृति पुरुष के विवेक-ज्ञान से, सांख्य में कहे पच्चीस तत्त्वों के ज्ञान से ।

पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसेत् ।
जटी मुण्डी शिखी वापि मुच्यते नात्र संशयः ॥

'जिन को पच्चीस तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त हो गया है, वे किसी आश्रम में वास करें, वे ब्रह्मचारी हों चाहे गृहस्थ—उनकी मुक्ति होने में कोई सन्देह नहीं ।'

इसीलिए इस ज्ञान को सांख्यज्ञान कहते हैं और ज्ञानवाद को सांख्य वा सांख्ययोग कहते हैं ।

हमने देखा कि गीता के मत में कर्म्म छोड़ने से कर्म्म करना अच्छा है । गीता कहती है कि साधारणतः कर्म्म बन्धन का कारण ज़रूर होता है—पर ऐसी तरह से भी कर्म्म किया जा सकता है कि कर्म्म भी किया जाय और बन्धन भी न हो । इस कर्म्मकौशल को ही कर्म्मयोग कहते हैं ।

योगः कर्म्मसु कौशलम् ।

हमने यह भी देखा, कि एक के बाद दूसरे—ऐसे तीन सोपानों

को पार करके गीता में बताये कर्म्मयोग पर कोई पहुँच पाता है। वे तीन सोपान यथाक्रम ये हैं:—

(क) फलाकांक्षावर्जन;

कर्म्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। गीता, २।४७।

'कर्म करने में ही तुम्हारा अधिकार है, फल में कभी नहीं है।'

(ख) कर्तृत्वाभिमानपरित्याग;

प्रकृत्यैव च कर्म्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्त्तारं स पश्यति॥ गीता, १३।२९।

'प्रकृति की सामर्थ्य से ही सब कर्म्म हो रहे हैं, यह जो जानता है और जो अपने को करने वाला नहीं समझता वही ठीक जानता है।'

(ग) ईश्वरार्पण; ईश्वर में सब कामों का अर्पण; यज्ञ के लिए कर्म्म करना;

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम्॥
शुभाशुभफलैरेव मोक्ष्यसे कर्म्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥

गीता, ९।२७—२८।

'हे कौन्तेय, तुम जो कुछ करते हो, खाते हो, आहुति देते हो, दान करते हो, वह सब मुझे अपर्ण करो। ऐसा करने से शुभ और अशुभ फल रूप कर्म्मों के बन्धनों से मुक्त हो जाओगे और संन्यास-योगयुक्त होकर मुझसे मिल जाओगे।'

जब इस तरह फलों की आकांक्षा को छोड़ कर, अहङ्काररहित और भगवान् को अर्पण करके कर्म किये जाते हैं तब वे कर्म्मयोग में परिणत हो जाते हैं। इसी कर्म्मयोग को लक्ष्य करके भगवान्

कहते हैं कि सांख्यज्ञान द्वारा जो फल मिलता है कर्मयोग से भी वही मिलता है ।

> सांख्ययोगौ पृथग् बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
> एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥
> यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद् योगैरपि गम्यते ।
> एकं सांख्यं च योगञ्च यः पश्यति स पश्यति ॥ गीता, ५ । ४—५ ।

'संन्यास अर्थात् सांख्यमार्ग और योग अर्थात् कर्म्ममार्ग—इन दोनों को मूर्ख ही भिन्न कहते हैं । पण्डित नहीं कहते । दो में से एक का भी यदि उत्तम रीति से आश्रय लिया जाय, तो दोनों का फल मिलता है । जो पद सांख्यों (ज्ञानियों) को मिलता है वही योगियों को भी मिलता है । सांख्य और योग को जो एक समझता है, वही ठीक समझता है ।'

इसके भाष्य में शङ्कराचार्य्य लिखते हैं,—

> उभयोर्विन्दते फलमुभयोस्तदेव हि निःश्रेयसं फलम् । अतो न फले विरोधोऽस्ति । × × सांख्यैः ज्ञाननिष्ठैः संन्यासिभिः प्राप्यते स्थानं मोक्षाख्यम् ।

अर्थात् 'कर्म्मयोग और ज्ञानयोग दोनों का एक ही फल—निःश्रेयस् वा मोक्ष—है ।'

अतएव फलसम्बन्ध में दोनों में कोई विरोध नहीं है । × + । ज्ञाननिष्ठ संन्यासी जिस मोक्षरूप स्थान को प्राप्त करते हैं—कर्म्मयोगी भी उसी को प्राप्त करते हैं ।

श्रीधरस्वामी ने भी इन श्लोकों की टीका इसी तरह की है । इस लिए गीता के मत में ज्ञानयोग और कर्म्मयोग दोनों के द्वारा ही मोक्ष की प्राप्ति होती है । ज्ञानद्वारा ही मोक्ष मिलता है, कर्म्मद्वारा नहीं, या कर्म्मद्वारा ही मोक्ष मिलता है, ज्ञान-

द्वारा नहीं—गीता इन दोनों मतों में किसी का अनुमोदन नहीं करती ।

इसका कारण यही है कि गीता के बताये कर्म्मयोग को प्राप्त होने में साधक को केवल कर्म्मी होने से ही काम नहीं चलता है उसको ज्ञानी और भक्त भी होना चाहिए । क्योंकि बिना ज्ञानी हुए कर्त्तृत्वाभिमान किस तरह छोड़ सकता है और बिना भक्त हुए किस तरह सब कर्म्म भगवान् में अर्पण कर सकता है । इसी तरह का कर्म्मयोग—मुक्ति का सोपान है—भगवान् ने साफ़ साफ़ यह उपदेश दिया है,—

कर्म्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ।।—गीता, २ । ५१ ।
सर्वकर्म्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥ गीता, १८ । ५६ ।

'बुद्धियोगावलम्बी ज्ञानी पुरुष कर्म से पैदा हुए फल का त्याग कर जन्मबन्धन से मुक्त हो सब दुःखों से रहित परमपद को पाते हैं ।'

'सब समय अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हुए ही जो मेरी प्राप्ति की इच्छा करता है वह मेरी कृपा से अनादि और अव्यय पद प्राप्त करता है ।'—

गीता में दूसरी जगह भी लिखा है,—
दैवी सम्पद् विमोक्षाय । गीता, १६ । ५ ।
'दैवी सम्पद् मोक्ष के लिए है ।'

यह दैवी सम्पद् क्या है ? गीता उसका इस तरह परिचय देती है,—

अभयं सत्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥
तेजः क्षमाधृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ गीता, १६ । १, ३ ।

'निर्भीकता, प्रसन्नता, ज्ञानप्राप्ति के लिए उद्योगशीलता, दानशीलता, इन्द्रिय-संयम, यज्ञ करना, स्वाध्याय, तप, सारल्य, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, उदारता, शान्ति, चुगली न करना, जीव मात्र पर दया, निर्लोभ, नम्रता, शालीनता और गम्भीरता, तेज, क्षमा, धैर्य्य, पवित्रता, निर्द्वेष, अभिमान न करना, हे भारत, ये गुण उसी को प्राप्त होते हैं जिसने दैवी सम्पत्ति भोगने के लिए ही जन्म ग्रहण किया है ।'

इससे मालूम होता है कि गीता के मत में मुमुक्षु साधक को मोक्षपथ के लिए कौन कौन से साधन संग्रह करने होते हैं । साधक जब अभय आदि उच्च गुणों का अधिकारी हो जाता है तभी उसको मुक्तिमन्दिर में प्रवेश करने का अधिकार मिलता है । गीता ने अनेक स्थानों में, अनेक तरह से इन मोक्षोपयोगी साधनों का उपदेश दिया है । दूसरे अध्याय में स्थितप्रज्ञ के लक्षण-निर्देश में हमें उनका परिचय मिलता है । चौदहवें अध्याय में गुणातीत के वर्णन में भी इन गुणों का उल्लेख मिलता है ।

प्रकाशञ्च प्रवृत्तिञ्च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ॥
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्त्तन्त इत्येवं योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥
माञ्च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

गीता, १४। २२—२६।

'हे पाण्डव, प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह के प्राप्त होने से जो दुखित नहीं होता और इनके चले जाने से फिर पाने की इच्छा नहीं करता, उदासीन मनुष्य के समान जो सुख दुःख को समान मानता है, और गुणों के कार्य्य होते रहते हैं—यह जान कर जो निश्चिन्त रहता है कभी विचलित नहीं होता, जिसको सुख, दुःख, मिट्टी का ढेला, पत्थर और सोना, प्रिय, अप्रिय तथा निन्दा और स्तुति समान है, जो धीर और शान्त रहता है—जिसको मान अपमान, एवं मित्र और शत्रु समान है जो बखेड़ों में नहीं पड़ता उसे गुणातीत कहते हैं। जो एकनिष्ठ होकर भक्तिपूर्वक मेरी सेवा करता है, वह निश्चय ही इन गुणों को भली भाँति जीतता है और ब्रह्मभाव के योग्य होता है।'

गीता में और भी लिखा है,—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥

न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥ गीता, ५। १९—२०।

'जिसके मन में समता उत्पन्न हो गई है, उसने इस लोक में रह कर ही संसार को जीत लिया है; क्योंकि ब्रह्म निर्दोष और सर्वत्र समान है—इसलिए वह ब्रह्म में मिल गया है। जिसने ब्रह्म को जाना और ब्रह्ममय हो गया; वह प्रिय के मिलने से आनन्दित भी नहीं होता तथा अप्रिय पाने से दुःखित भी नहीं होता।'

गीता में और भी लिखा है,—

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः॥—गीता, ५। २८।
विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥ गीता, २। ७१।
वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः॥ गीता, ४। १०।
श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥ गीता, ४। ३९।

'जो मनुष्य मन, इन्द्रियों और बुद्धि को अपने अधीन कर लेता है; इच्छा, भय और क्रोध को जिसने दूर कर दिया है, जिसे मोक्ष ही एक मात्र उपार्जन करने योग्य पदार्थ मालूम होता है—वह सर्वदा मुक्त ही है।'

'जो मनुष्य सब कामनाओं का त्याग करके इच्छा-रहित हो जाता है, जिसमें मैं और मेरा भाव नहीं रहता उसी को शान्ति मिलती है।'

'जिनका राग, भय और क्रोध नष्ट हो गया था, जिनका नेह केवल मुझसे था, जिन्हें मेरा ही आसरा था, ऐसे अनेक मनुष्य ज्ञानरूप तप से पवित्र होकर मुझमें मिल गये।'

'जिसमें श्रद्धा है, जिसका एक मात्र ज्ञान पर ही दृढ़ विश्वास है, जिसने इन्द्रियों का दमन कर उन्हें अपने अधीन कर लिया है—उसी को ज्ञान प्राप्त होता है। ज्ञान प्राप्त होने से उसको शान्ति मिलती है।'

सिद्धि लाभ करने के लिए गीता के मत में साधक को इन साधनों को प्राप्त करना ज़रूरी है।

साधारण ज्ञानमार्ग और गीता का ज्ञानयोग एक वस्तु नहीं है। क्योंकि ज्ञानवादी जिसको कैवल्यप्राप्ति का उपाय बताते हैं वह चित् और जड़ का विवेक-ज्ञान है—सत् और असत् वस्तु का विचार लब्ध-ज्ञान है। पर गीता जिस ज्ञान का उपदेश करती है वह तत्त्वज्ञान है—जिसको परा विद्या कहते हैं, उसी के सहारे परम पुरुष को प्राप्त किया जाता है। गीता के मत में वही ज्ञान है जिसके द्वारा जीव समस्त प्राणियों को पहले पहल अपने में और फिर ईश्वर में देखता है।

येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि।—गीता, ४। ३५।

इस तरह के ज्ञानी सब भूतों में भगवान् को ही देखते हैं, उनकी सब में समान-बुद्धि हो जाती है। भगवान् इसी तरह के साम्यज्ञानी की प्रशंसा करते हैं,—

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥

सुहृन्मित्रार्य्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ गीता, ६ । ८–९ ।
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥ गीता, ६ । ३२ ।
विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥ गीता, ५ । १८ ।

'जिसने शास्त्रज्ञान से और अनुभवज्ञान से अपने अन्तःकरण को तृप्त किया है जो निर्विकार होगया है, जिसकी इन्द्रियाँ अपने वश में हैं, जिसके लिए मट्टी का ढेला पत्थर और सोना समान है वह योगी कहाता है।'

'सुहृद्, मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य, सम्बन्धी, साधु और पापी—इन सबको जो समदृष्टि से देखता है—वह अधिक श्रेष्ठ है।'

'हे अर्जुन, जो यह जानकर कि मेरा जैसा ही औरों को भी सुख दुःख होता है, सबको समदृष्टि से देखता है—वही श्रेष्ठ-योगी है।'

'ज्ञानी समदर्शी होते हैं; वे विद्या-विनय से युक्त ब्राह्मण को, बैल को, हाथी को, कुत्ते को और चाण्डाल को भी एक दृष्टि से देखते हैं।'

ऐसा होना विचित्र नहीं है। क्योंकि प्रकृतिज्ञानी सर्वत्र भगवान् का साक्षात्कार करते हैं।

इस तत्त्वज्ञान के फल से ज्ञानयोगी किस तरह मोक्षलाभ करता है, गीता उसके विषय में अनेक उपदेश देती है,—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥—गीता, ५ । १७ ।
वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥—गीता, ४ । १० ।
इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥
न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥ गीता, ५ । १९–२० ।

'उसमें हा जिनकी बुद्धि लग जाती है, जो उसीको अपनी आत्मा समझते हैं, एक मात्र उसीमें जिनकी श्रद्धा है और उसीको जो परम पुरुषार्थ समझते हैं—उनके सब पाप आत्मज्ञान से धो डाले जाते हैं और वे फिर जन्म नहीं लेते ।'

'जिनका प्रेम, भय और क्रोध नष्ट होगया था, जिनका नेह केवल मुझसे था, जिन्हें मेरा ही आसरा था ऐसे अनेक मनुष्य ज्ञानरूप तप से पवित्र होकर मुझमें मिल गये ।'

'जिनके मन में इस प्रकार की समता उत्पन्न होगई है, उन्होंने इस लोक में रह कर ही संसार को जीत लिया है; क्योंकि ब्रह्म निर्दोष और सर्वत्र समान है, इसलिए वे ब्रह्म में मिल गये हैं ।'

'जिसने ब्रह्म को जाना और ब्रह्ममय हो गया वह प्रिय के मिलने से आनन्दित भी नहीं होता तथा अप्रिय प्राप्त होने से दुखी भी ।'

इस तरह के ज्ञानयोगी की अवस्था भगवान् ने नीचे लिखे श्लोक में वर्णन की है,—

निर्मानमोहा जितसंगदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ गीता, १५ । ५ ।

'जिनका अहङ्कार और मोह दूर हो गया है जो संसार से अनुराग-हीन हो गये हैं, जो सर्वदा स्मरण रखते हैं कि हम परमात्मा के अंश हैं, जिन की कामनायें दूर हो गई हैं; जो सुख-दुःख आदि द्वंद्वों से मुक्त हो गये हैं ऐसे ज्ञानी यह शाश्वत पद पाते हैं ।'

गीता में और भी लिखा है,—

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥—गीता, १३ । ३० ।

'जब वह भिन्न भिन्न भूतों को एक ही ईश्वर में देखने लगता है तब वह ब्रह्म को प्राप्त करलेता है ।'

गीता में और भी लिखा है,—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ गीता, ७ । १६ ।

'बहुत जन्मों के बाद यह जान कर कि वासुदेव ही सब कुछ है, ज्ञानी पुरुष मेरा भजन करता है । पर ऐसा महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है ।'

जो सब जगह भगवान् को प्रत्यक्ष करते हैं, जो भगवान् से ही जगत् का विस्तार देखते हैं—वे ही असली ज्ञानयोगी हैं ।

ऐसे ज्ञानी को भगवद्भक्त होना ही पड़ता है क्योंकि जो भगवान् को रात दिन सब जगह देखता है वह उनका अनुरागी

हुए बिना किस तरह रह सकता है। इस लिए गीता के मत में ज्ञान और भक्ति दोनों पास पास जकड़ी हुई हैं।

पिछले समय के भक्तिवादी—देखा जाता है—अंधी और नंगी भक्ति के पक्षपाती थे, उन्होंने ज्ञान और भक्ति के बीच में चिर-विच्छेद कर दिया था। वे ज्ञान-गन्धहीन भक्ति को ही बढ़िया भक्ति मानते थे। वैष्णव-ग्रन्थों में उत्तमा भक्ति का इस तरह निर्देश किया है—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्म्माद्यसंवृतम् ।
आनुकूल्येन कृष्णानुभजनं भक्तिरुत्तमा ।

'अन्य कामनाओं से शून्य, ज्ञान कर्म्म आदि से असंवृत और अनुकूल भाव से कृष्ण का जो भजन है वही परमा भक्ति है'।

इसका फल यह हुआ कि व्रज-गोपी ही भक्तों का चरम आदर्श बन गईं।

व्रजगोपिकादिवत् ।—नारद-सूत्र ।

किस तरह भगवान् का भजन करना चाहिए।—जिस तरह व्रज-गोपियाँ करती थीं।

गोप्यः कामात् । भागवत, ७ । ७ । २९ ।

'काम के द्वारा गोपियों ने श्रीकृष्ण को प्राप्त किया था।'

पर, गीता के मत में ज्ञानी ही भगवान् का श्रेष्ठ भक्त है।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥—

गीता, ७ । १६--१६ ।

भगवान् कहते हैं,—'हे भरत-श्रेष्ठ अर्जुन, पुण्यवान् ही मेरा भजन करते हैं । वे चार प्रकार के होते हैं; (१) रोगी, (२) तत्त्व जानने की इच्छा करने वाले, (३) अर्थार्थी अर्थात् भोग चाहने वाले और (४) ज्ञानी । पर इन सब में ज्ञानी ही श्रेष्ठ है, क्योंकि उसका चित्त सब समय मेरी ओर लगा रहता है और वह केवल मेरी ही भक्ति करता है । ज्ञानी को मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और मुझे वह अत्यन्त प्रिय है । यों तो ये सब उत्तम हैं पर इन में ज्ञानी को तो मैं अपनी आत्मा ही समझता हूँ, क्योंकि, वह मुझ में चित्त लगा कर, मुझे ही सर्वोत्तम गति समझ कर मेरा ही आश्रय ग्रहण करता है ।'

गीता के बारहवें अध्याय में भगवद्भक्त के जो लक्षण लिखे हैं उन को पढ़ कर यह ख़याल होता है कि गीता का लक्ष्य भाव-प्रधान भक्ति नहीं है ।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी ॥
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मे भक्तः स मे प्रियः ॥
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥
यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः ॥

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः ॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान् मे प्रियो नरः ॥—
गीता, १२ । १३–१९ ।

'जो किसी से द्वेष नहीं करता, जो भूत मात्र का मित्र है, जो दयाशील है, जिसमें "मेरा और मैं" भाव नहीं है, जिसे सुख दुःख दोनों समान हैं, जो क्षमावान् हैं, जो हमेशा प्रसन्न, स्थिरचित्त संयमित मन, दृढ़निश्चय है और जिसने मन और बुद्धि मुझे अर्पण कर दी है—ऐसा भक्त मुझे प्यारा है । जिससे न लोगों को भय है—न वह किसी से भीत होता है; दूसरों का हर्ष, क्रोध सुख देख कर खेद, भय और विषाद, से जो मुक्त हो गया है—वह मुझे प्यारा है । जो कुछ मिले उसी में सन्तुष्ट, पवित्र, आलस्यहीन, पक्षपातहीन, दुःखरहित और फल की आशा छोड़ कर कर्म करने वाला भक्त मुझे प्यारा है । जो आनन्द से फूलता नहीं, दुःख से उकताता नहीं, इष्ट पदार्थ के नाश से शोक नहीं करता, किसी का लोभ नहीं करता, जिसने शुभ और अशुभ दोनों का त्याग किया है जो भक्तिमान है—वह मुझे प्यारा है । जो शत्रु और मित्र को समान समझता है, मान और अपमान को, ठंढ और गर्मी को, सुख और दुःख को, समान समझता है, और सब प्रकार का संग जिसने त्याग दिया है—वह मुझे प्यारा है । जिसके लिए निन्दा और स्तुति समान है, जो बकवाद नहीं करता, सदा सन्तुष्ट रहता है, जो यह नहीं समझता कि यह घर मेरा है । जिसका चित्त स्थिर है, जो भक्तिमान् है—वह मुझे प्यारा है ।'

ज्ञान भक्ति से अलग नहीं है इसी बात को समझाने के लिए ज्ञान का लक्षण कहते हुए गीताकार कहते हैं,—

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।—गीता, १३। १०

'अनन्य-भाव-युक्त एकनिष्ठ भक्ति ही ज्ञान है।'

ध्यानवादियों के मत में चित्तवृत्ति का निरोध ही कैवल्य-सिद्धि का एक मात्र उपाय है। चित्तवृत्ति का निरोध करने के लिए उन्होंने नाना प्रकार के उपाय बताये हैं—अभ्यास, वैराग्य, ईश्वर-प्रणिधान, प्राणायाम, अभिमत ध्यान आदि। योगसिद्धि का फल है— द्रष्टा के स्वरूप में अवस्थान,—पुरुष स्वतंत्र (केवल) होकर अपनी निर्म्मल ज्योति में प्रतिष्ठित होता है—ऐसा कहते हैं। इसलिए उनके अभीष्ट योग में जीव ब्रह्म का संयोग नहीं है—उसमें प्रकृति और पुरुष का वियोग है।

पुंप्रकृत्योर्वियोगोऽपि योग इत्युदितो यथा।

पर, गीता में मन के संयम के साथ ईश्वर में चित्त लगाने का बार बार उपदेश दिया है,—

मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः। गीता, ६। १४।

गीता में यह भी लिखा है कि योग के फल से जिस शान्ति की प्राप्ति होती है वह भगवान् में स्थिति ही का फल है।

शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति।—गीता, ६। १५।

इसलिए गीता के मत में ईश्वर में चित्त लगाना ही योग है। ईश्वर को बाद करके गीता के मत में योग करना बिलकुल असम्भव है। भगवान् में चित्त समर्पण करके जो श्रद्धायुक्त भगवान् का भजन करते हैं गीता के मत में वे ही श्रेष्ठ योगी हैं।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥—गीता, ६ । ४७ ।

गीता में और भी लिखा है,—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥
—गीता, ६ । ३०—३१ ।

'जो सब में मुझको और मुझमें सब को देखता है, उसके लिए कभी मैं नष्ट नहीं होता और मेरे लिए कभी वह नष्ट नहीं होता। जो अभेद भाव से रहता है, और सभी भूतों में मैं हूँ यह जान कर मेरा भजन करता है वह योगी चाहे जिस अवस्था में रहे पर वह मुझी में रहता है ।'

इसी लिए भगवान् गीता में इस चरम योग का उपदेश देते हैं,—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥—गीता, ६ । ३४ ।

'अपना मन मुझे अर्पण करो, मेरी भक्ति करो, मेरी पूजा करो, मुझे नमस्कार करो, चित्त का समाधान कर उसे मुझ में मिलाओ और सर्वथा मुझमें ही आसक्ति रखो; तब मुझसे मिलोगे ।'

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥—गीता, ६ । २६ ।

'जिस का मन योग में स्थिर हो गया है, उसकी दृष्टि सर्वत्र समान रहती है और वह अपने को सब भूतों में तथा सब भूतों को अपने में देखता है ।'

गीता के मत में ध्यानयोग द्वारा भी मोक्ष की प्राप्ति होती है–पर वह ध्यान भक्ति से हीन नहीं है। ध्यानवाद में ईश्वर का स्थान कितना गौण है और उसमें भक्ति का अवसर कितना कम है—यह बात हम बहुत पहले कह चुके हैं। किन्तु गीता के बताये ध्यान-योग में ईश्वर ही का अवलम्ब है और उसकी भक्ति ही करना मुख्य बात है। फिर उसके फल से योगी समदर्शी होकर सब भूतों में भगवान् के साक्षात्कार रूप चरम ज्ञान को प्राप्त कर लेता है।

अब यह खूब अच्छी तरह देख लिया गया कि क्या कर्म्म, क्या ध्यान और क्या ज्ञान—गीता ने सभी के साथ ईश्वर-भक्ति को संयुक्त किया है। जिस तरह सूत में मणियाँ पुरी रहती हैं उसी तरह गीता के बताये कर्म्म, ज्ञान, और ध्यान के बीच में ईश्वर पुर रहा है। कर्म्मवाद, ध्यानवाद और ज्ञानवाद में ईश्वरवाद भरा हुआ है।

ब्रह्मसूत्र को देखने से पता लगता है कि बादरायण विद्या को ही मोक्षप्राप्ति का उपाय बताते हैं।

पुरुषार्थोऽतः शब्दात् इति बादरायणः।—३। ४। १ सूत्र।

अस्माद् वेदान्तविहितादात्मज्ञानात् स्वतंत्रात् पुरुषार्थः सिद्ध्यतीति बादरायण आचार्य्यो मन्यते।—शङ्करभाष्य।

अर्थात् बादरायण के मत में वेदान्त के बताये आत्मज्ञान से ही पुरुषार्थ की सिद्धि होती है, क्योंकि श्रुति में भी कहा है,—

तरति शोकमात्मवित्। ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति॥

'आत्मज्ञ व्यक्ति शोक को तर जाता है,' 'ब्रह्म को जान कर

ब्रह्म होजाता है ।' इस लिए बादरायण के मत में विद्या ही पुरुषार्थ की जननी है—रहा कर्म्म—वह विद्या का सिर्फ़ अङ्ग है ।

जैमिनि का सिद्धान्त इसके ठीक विपरीत है । उनके मत में ज्ञान ही कर्म्म का अंग है । ब्रह्मसूत्र के तीसरे अध्याय के चौथे पाद में बादरायण कर्म्म और ज्ञान के अङ्गाङ्गित्व का विचार करते हुए जैमिनि का मत पूर्वपक्ष की तरह लिखते हैं,—

शेषत्वात् पुरुषार्थवादो यथाऽन्येषु इति जैमिनिः । ३ । ४ । २ ।

जैमिनि के मत में—'ज्ञान से मुक्ति होती है' यह बात जो श्रुति में मिलती है वह केवल अर्थवाद है । देह से अलग आत्मा है, वही कर्म्म करता है—इस ज्ञान को दृढ़ कराकर कर्म्मी को कर्म्म में उत्साहित करना ही इन श्रुतियों का लक्ष्य है ।

बादरायण ने तीसरे सूत्र से सातवें सूत्र पर्य्यन्त जैमिनि की युक्तियाँ दी हैं और आठवें सूत्र से सत्रहवें सूत्र तक एक एक करके उन का खण्डन किया है ।

अतोऽपि न विद्यायाः कर्म्मशेषत्वं नापि तद्विषयायाः फलश्रुतेरयथार्थत्वं शक्यमाश्रयितुम् ।—३ । ४ । १७ सूत्र पर शङ्करभाष्य ।

'विद्या को कर्म्म का अङ्ग बताना और विद्या की फलश्रुति को अयथार्थ (अर्थवाद) बताना ठीक नहीं है ।'

आश्रमविहित कर्म्म ज्ञान का अङ्ग है, ज्ञान की उत्पत्ति का सहकारी कारण है, बादरायण ने नीचे लिखे सूत्रों में इस बात का प्रतिपादन किया है;

सर्वापेक्षः च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत् ।* ३ । ४ । २६ सूत्र ।

विहितत्वादाश्रयकर्म्मापि । सहकारित्वेन च । ३ । ४ । ३२—३३ ।

विद्यासहकारीणि तु एतानि स्युः ।—शङ्कर ।

अर्थात् आश्रम-विहित कर्म्म ज्ञानोत्पत्ति के सहकारी कारण हैं ।

ज्ञानोत्पत्ति के अङ्ग रूप में शम दम आदि का भी ज़रूर अनुष्ठान करना चाहिए—बादरायण ने नीचे लिखे सूत्र में यह बात बताई है,—

शमदमाद्युपेतः स्यात् तथापि तु तद्विधेः तदङ्गतया तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात् । ३ । ४ । २७ । सूत्र ।

यदि कोई प्रतिबन्ध न हो तो इसी जन्म में ज्ञान उत्पन्न हो सकता है, नहीं—दूसरे जन्म में तो होगा ही ।

ऐहिकमपि अप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात् ।—ब्रह्मसूत्र, ३ । ४ । ५१ ।

तस्मात् ऐहिकं आमुष्मिकं वा विद्याजन्म प्रतिबन्धक्षयापेक्षया इति स्थितम् । शङ्करभाष्य ।

अर्थात्, प्रतिबन्ध दूर होने पर इस जन्म में ही या दूसरे जन्म में विद्या (ज्ञान) उत्पन्न होती ही है ।

बादरायण के मत में इसी विद्या का फल मुक्ति है । उस में भी अनियम है, अर्थात् मुक्ति ऐहिक वा आमुष्मिक (परलोक में होनेवाली) भी हो सकती है ।

---

* उत्पन्ना हि विद्या फलसिद्धिं प्रति न किञ्चिदन्यत् अपेक्षते । उत्पत्तिं प्रति तु अपेक्षते । कुतः ? यज्ञादिश्रुतेः । इस सूत्र पर शङ्करभाष्य ।

एवं मुक्तिफलानियमः । तदवस्थावधृतेः । † ब्रह्मसूत्र, ३ । ४ । ५२ ।

किन्तु ये शमदमादि और आश्रमकर्म्म ज्ञान-लाभ के सिर्फ़ बहिरङ्ग साधन हैं। ज्ञानप्राप्ति के अन्तरङ्ग साधन—श्रवण, मनन और निदिध्यासन हैं। क्योंकि श्रुति कहती है,—

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः ।

'आत्मा को देखना चाहिए, सुनना चाहिए, मनन करना चाहिए, और ध्यान करना चाहिए।' अर्थात् आत्मा को साक्षात् करने के उपाय हैं—श्रवण, मनन और निदिध्यासन, पहले, आत्मा के विषय में श्रुतिवाक्य सुनने चाहिए। उसके बाद उनका मनन और निदिध्यासन करना चाहिए। ऐसा करने से साधक को आत्मा का साक्षात्कार हो जाता है। बादरायण ने इसी श्रुति पर सूत्र किया है,—

आवृत्तिरसकृद् उपदेशात् ।
लिङ्गाच्च । ब्रह्मसूत्र, ४ । १ । १—२ ।

श्रवण, मनन और निदिध्यासन को एक दफ़ा करने से यदि आत्मदर्शन न हो तब इन को बार बार करना चाहिए। जब तक आत्मदर्शन न हो तब तक किये जाना चाहिए। शास्त्र में इसी लिए उन को बार बार करने के अनेक उपदेश दिखाई देते हैं।

श्रवण, मनन और निदिध्यासन बार बार ही नहीं देहान्त तक करने चाहिए।

---

† इस सूत्र पर शङ्करभाष्य और तरह का है। हमने यहाँ रामानुज के मत का अनुसरण किया है।

आप्रयाणात् तत्रापि हि दृष्टम् ।—ब्रह्मसूत्र, ४ । १ । १२ ।

आत्म-साक्षात्कार के लिए उपनिषद् में अनेक तरह की प्रणालियाँ कही गई हैं । बादरायण ने तीसरे अध्याय के तीसरे पाद में इस की आलोचना की है ।

नानाशब्दादिभेदात् । ब्रह्मसूत्र, ३ । ३ । ५८ ।

यह उपासना प्रधानतः तीन प्रकार की है; अङ्गाश्रित, तटस्थ वा प्रतीक और अहंग्रह ।* बादरायण अहंग्रह-उपासना का अनुमोदन करते हैं । इस विषय में उन्होंने सूत्र किया है,—

आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च ।—ब्रह्मसूत्र, ४ । १ । ३ ।

'उस परमात्मा को अपनी आत्मा के रूप में ही जानना होगा ।' अर्थात् "सोऽहं" भाव में उपासना करनी होगी ।

---

* प्रत्येक उपासना के अनेक भेदों में जिनका उपनिषदों में वर्णन है—बादरायण किसको पसन्द करते हैं और किस को नहीं—इस बात का विवेचन उन्होंने इस पाद के ५८ सूत्र से ६६ सूत्र पर्य्यन्त किया है । उन के सिद्धान्त में अहंग्रह-उपासना में ही विकल्प का नियम है—अर्थात् किसी एक विशेष प्रणाली का अनुसरण करना ही होगा ।

विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात् । ब्रह्मसूत्र, ३ । ३ । ५९ ।

तटस्थ उपासना में साधक जैसी इच्छा हो समुच्चय कर सकते हैं और नहीं भी कर सकते ।

काम्यास्तु यथाकामं समुच्चियेरन्न वा पूर्वहेत्वभावात् । ब्रह्मसूत्र, ३ । ३ । ६० ।

और अंगाश्रित उपासना के विकल्प और समुच्चय में जैसी इच्छा हो कर सकते हैं ।

अङ्गेषु यथाश्रयभावः । ब्रह्मसूत्र, ३ । ३ । ६१ ।

प्रतीक उपासना से यह प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। इस लिए बादरायण कहते हैं कि प्रतीक में अहंज्ञान को स्थापित नहीं करना चाहिए।

न प्रतीकेन हि सः।—ब्रह्मसूत्र, ४।१।४।

परन्तु प्रतीक में ब्रह्मदृष्टि रखनी चाहिए।

ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात्।—ब्रह्मसूत्र, ४।१।५।

क्योंकि ब्रह्मदृष्टि से देखे जाने के कारण, ब्रह्मभाव से भावित होने पर प्रतीक भी उत्कृष्ट ब्रह्म का अध्यास होने से उत्कृष्ट फल को देता है।

कहना नहीं होगा कि ये उपासनायें और भक्ति-प्रणोदित ईश्वर-भजन एक चीज़ नहीं हैं। वास्तव में ब्रह्मसूत्र, में कहीं भी भक्ति शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है—भक्ति की बात भी कहीं नहीं उठाई गई है। बस तीन जगह भक्ति का और इशारा है,—

(१) अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्।—३।२।२४ सूत्र।

अपि चैनं आत्मानं संराधनकाले पश्यन्ति योगिनः। संराधनं भक्तिध्यान-प्रणिधानाद्यनुष्ठानम्, शङ्करभाष्य।

'योगी संराधनकाल में परमात्मा का दर्शन करते हैं। संराधन का अर्थ है, भक्ति, ध्यान और प्रणिधान आदि अनुष्ठान करना।

(२) पराभिध्यानात्तु तिरोहितम्।—३।२।५ सूत्र।

तत्पुनस्तिरोहितं सत् परमेश्वरमभिध्यायतो यतमानस्य जन्तोः × × × × ईश्वरप्रसादात् संसिद्धस्य कस्यचिदाविर्भवति।

'परमेश्वर का ध्यान करनेवाले यत्नशील साधक को ईश्वर के प्रसाद से उसका खोया हुआ ईश्वरभाव फिर प्राप्त हो जाता है।'

(३) तदोकोऽग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो हार्दानुगृहीतः शताधिकया ।—
४ । २ । १७

'विद्वान् साधक का ब्रह्मागार (हृदय) उज्ज्वल हो जाता है। तभी वह द्वार देख पाता है और इस तरह का "हार्दानुगृहीत" साधक सौ से अधिक नाड़ियों (सुषुम्ना) के मार्ग से बाहर निकल जाता है।'

हार्दानुगृहीतः = हृदयालयेन ब्रह्मणा समुपासितेन अनुगृहीतः ।—शङ्कर । प्रसन्नेन हार्देन परमपुरुषेण अनुगृहीतः ।—रामानुज ।

अर्थात्, इसी तरह के साधक के प्रति हृदय में स्थित भगवान् अनुग्रह करते हैं।

इन सूत्रों को छोड़ कर और कहीं भी ईश्वर-भक्ति का प्रसङ्ग नहीं पाया जाता है।

पर गीता की आलोचना करने से मालूम होता है कि उसमें भक्ति का स्थान बहुत ऊँचा है। भक्ति ही साधक का मुख्य अवलम्ब है। भक्ति साधन के मार्ग में प्रधान सहारा है।

भगवान् कहते हैं,—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥ गीता, ७ । १४ ।

'मेरी यह अतिदिव्या और त्रिगुणात्मिका माया अत्यन्त दुस्तर है। जो अनन्यभाव से मेरा ही भजन करते हैं, वे ही इसका पार पा सकते हैं।'

भगवान् को प्राप्त करने का उपाय क्या है ?

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।—
गीता, १८। ६२।

'हे भारत, तुम सब प्रकार से उसी हृदय-स्थित ईश्वर की शरण जाओ, उसके प्रसाद से तुम परम शान्ति और शाश्वतपद पाओगे।'

गीता, अनेक जगह ऐसी भक्ति को ही ईश्वरप्राप्ति का मुख्य उपाय बताती है,—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्यैवमात्मानं मत्परायणः॥ गीता, ९। ३४।
मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥ गीता, १०। ९।
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुञ्च परन्तप॥
मत्कर्म्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥ गीता, ११। ५४—५५।
ये तु सर्वाणि कर्म्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥
मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥—गीता, १२। ६—८।
तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥
अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्।
कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्॥

प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥—
गीता, ८। ७--१०।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥—गीता, ८। १४।

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥ गीता, ८। २२।

माञ्च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥—गीता, १४।२६।

सर्वकर्म्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥ गीता, १८। ५६।

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत॥ गीता, १५।१९।

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात् तरिष्यसि। गीता, १८। ५८।

'अपना मन मुझे अर्पण करो, मेरी भक्ति करो, मेरी पूजा करो, मुझे नमस्कार करो, चित्त का समाधान कर उसे मुझमें मिलाओ और सर्वथा मुझ में ही आसक्ति रखो, तब मुझसे मिलोगे।'

'वे मुझमें चित्त लगा कर, मुझको अपना कर, एक दूसरे को मेरे सम्बन्ध में समझाते हुए, मेरा भजन करते हुए, सर्वदा सन्तुष्ट रहते हैं और आनन्द से समय बिताते हैं।'

'हे परन्तप अर्जुन, केवल अनन्य भक्ति से मुझे चाहे जो इस प्रकार जान सकता है, प्रत्यक्ष देख सकता है और मुझमें मिल सकता है।'

'हे पाण्डव, मुझ पर विश्वास कर जो मनुष्य कर्म करता है,

जो मुझे ही परम पुरुषार्थ समझता है मेरी ही जो भक्ति करता है जो और किसी प्राणी से द्वेष नहीं करता, वह मुझसे मिल जाता है ।'

'जो अपने सब कर्म्म मुझे अर्पण कर, मुझ पर ही भरोसा रख कर, अनन्य भक्ति से मेरा ध्यान करते हैं और मेरी सेवा करते हैं ।'

'उनका चित्त मुझमें बँधा रहता है । इसलिए हे पार्थ, मैं मृत्यु-युक्त संसार-सागर से उनका शीघ्र ही उद्धार करता हूँ ।'

'मुझ में ही मन रखो, मुझ में ही बुद्धि रखो, इससे देहान्त के बाद तुम निश्चय मुझ में ही वास करोगे—इसमें सन्देह नहीं ।'

'इसलिए सब समय मन और बुद्धि मुझमें लगा कर मेरा ध्यान करो और युद्ध करो; ऐसा करने से तुम भी निःसन्देह मुझमें मिल जाओगे ।'

'हे पार्थ, जो मनुष्य अपने चित्त को इधर उधर कहीं भटकने न देकर, अभ्यास से उसे एकाग्र कर, परमप्रकाशमय पुरुष का चिन्तन करता है, वह उसमें मिल जाता है ।

'जो अन्त समय स्थिर मन कर, भक्तियुक्त होकर, योगबल से दोनों भौंहों के बीच में प्राणों को स्थिर करता है; और सर्वज्ञ, अनादि, सबके सञ्चालक, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म, सबके पालन करने वाले, अचिन्त्य रूप, सूर्य्य को भी प्रकाश देने वाले, तमोगुण से दूर रहने वाले दिव्य परम पुरुष का सतत चिन्तन करता है, वह देह-त्याग के बाद उसी में मिल जाता है ।

'हे पार्थ, जो अनन्यगति होकर सर्वदा मेरा ही स्मरण करता है, उस सदा सन्तोष-युक्त योगी को सहज में मेरी प्राप्ति होती है ।

'हे पार्थ, जिसमें ये सर्वभूत हैं और जिसकी सामर्थ्य से यह सब चल रहा है वह परम पुरुष अनन्यभक्ति से ही प्राप्त होता है ।'

'जो एकनिष्ठ होकर भक्तिपूर्वक मेरी सेवा करता है वह निश्चय ही इन गुणों को भली भाँति जीतता है और ब्रह्मभाव के योग्य होता है ।'

'सब समय अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हुए ही जो मेरी प्राप्ति की इच्छा करता है वह मेरी कृपा से अनादि और अव्यय पद प्राप्त करता है ।'

'हे भारत, जो मोह से मुक्त होकर मुझे ही पुरुषोत्तम समझता है वह सर्वज्ञ होता है और सब प्रकार से मेरी ही उपासना करता है ।'

'यदि तुम मुझमें चित्त लगाओगे तो मेरी कृपा से समस्त दुःखों से पार हो जाओगे ।'

परन्तु जिस भक्ति को भगवान् ने माया रूप समुद्र को तरने की तरणी बताया है—वह भक्ति ज्ञान-कर्म्म-ध्यान-वर्जित भक्ति नहीं है । उस भक्ति के साथ ज्ञान, कर्म और ध्यान अपूर्व समन्वय के डोरे में गुथे हुए हैं । भगवान् कहते हैं—

> तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
> ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥
> तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
> नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥
>
> गीता १० । १०—११ ।

'चित्त का समाधान कर वे प्रेम से मेरा भजन करते हैं । मैं उनको ऐसी बुद्धि देता हूँ जिससे वे मुझे प्राप्त कर लेते हैं ।'

'उन पर अनुग्रह करने के लिए मैं उनकी बुद्धि में वास कर भली तरह प्रकाशित ज्ञान-दीप की सहायता से अज्ञान-मूलक अन्धकार का नाश करता हूँ ।'

तभी तो भगवद्भक्त उच्चतम ज्ञान का अधिकारी होता है । गीता का भक्त निकम्मा भावुक ही नहीं है—इस बात को गीता साफ़ साफ़ भाषा में कहती है,—

> मत्कर्म्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
> निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥ गीता, ११ । ५५ ।

'हे पाण्डव, मुझ पर विश्वास कर जो मनुष्य कर्म्म करता है, जो मुझे ही परम पुरुषार्थ समझता है, मेरी ही जो भक्ति करता है, जो और किसी प्राणी से द्वेष नहीं करता वह मुझ से मिल जाता है ।'

इससे पता चलता है कि भक्त साधक ध्यानयोग से विरत नहीं है,

> मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
> मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥—गीता, ९ । ३४ ।
> ये तु सर्वाणि कर्म्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
> अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥—गीता, १२ । ६ ।

'अपना मन मुझे अर्पण करो, मेरी भक्ति करो, मेरी पूजा करो, मुझे नमस्कार करो, चित्त का समाधान कर उसे मुझमें मिलाओ और सर्वथा मुझ में ही आसक्ति रखो; तब मुझसे मिलोगे ।'

'जो अपने सब कर्म्म मुझे अर्पण कर, मुझ पर ही भरोसा रख कर अनन्य भक्ति से मेरा ध्यान करते हैं और मेरी सेवा करते हैं ।'

गीता में और भी लिखा है,—

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥
कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद् यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥
प्रयाणकाले मनसा चलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥

गीता, ८ । ८ । १० ।

'हे पार्थ, जो मनुष्य अपने चित्त को इधर उधर कहीं भटकने न देकर, अभ्यास से उसे एकाग्र कर परम प्रकाशमय पुरुष का चिन्तन करता है, वह उसमें मिल जाता है । जो अन्त समय, स्थिर मन कर, भक्तियुक्त होकर योगबल से दोनों भौंहों के बीच में प्राणों को स्थिर करता है; और सर्वज्ञ, अनादि, सब के सञ्चालक, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म, सब के पालन करने वाले, अचिन्त्य रूप, सूर्य्य को भी प्रकाश देनेवाले, तमोगुण से दूर रहनेवाले दिव्य परम पुरुष का सतत चिन्तन करता है, वह देहत्याग के बाद, उसीमें मिल जाता है ।'

गीता की बताई हुई भक्ति में ज्ञान कर्म्म और ध्यान मिले हुए हैं ।

गीता में भगवद्भक्ति का कितना प्राधान्य है, यह बात अठारहवें अध्याय की आलोचना करने से बहुत कुछ मालूम हो सकती है । भगवान कहते हैं,—

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥
अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥

गीता, १, ५१–५५ ।

'शुद्ध बुद्धि से युक्त हो कर धैर्य्य से अपने चित्त का नियमन कर, विषयों से इन्द्रियों को छुड़ा कर काम और क्रोध का संहार कर एकान्त स्थान में वास कर, मिताहारी बन कर, देह, वाक्य और मन को अपने अधीन कर, ध्यानबल से परब्रह्म में चित्त को लगा कर, वैराग्य धारण कर और अहङ्कार, दुराग्रह, दर्प, काम, क्रोध, परिग्रह और ममत्व को छोड़ कर जो पुरुष शान्त हुआ है वह ब्रह्मभूत हो गया है । जो ब्रह्ममय हो गया है, वह सदा प्रसन्न रहता है, वह गये का शोक नहीं करता और पाने की इच्छा नहीं करता, जीव मात्र को सम दृष्टि से देखता है तथा मेरी परम भक्ति प्राप्त करता है, भक्ति से वह मुझे जान लेता है—मैं कितना बड़ा हूँ, मैं क्या हूँ—यह वह ठीक ठीक जान लेता है । और इस प्रकार तत्त्वतः मुझे जानते ही वह मुझमें प्रवेश करता है अर्थात् परमानन्दरूप हो जाता है ।'

भगवान् ने इस विशुद्ध भक्ति को ही ज्ञान का चरम उत्कर्ष बताया है ;

निष्ठा ज्ञानस्य या परा ।—गीता, १८ । ५० ।

वह परा भक्ति साधन नहीं है साध्य है। भगवान् ने तो उससे भी बढ़ कर इसको बताया है। ब्रह्मभूत होकर कहीं वह प्राप्त होती है। इसी भक्ति को लक्ष्य करके भागवत कहता है,—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः ॥

'जो आत्माराम हैं, जिनकी सब गाँठें खुल गई हैं वे मुनि ही भगवान् में अहेतुकी भक्ति करते हैं। हरि का गुण ऐसा ही है।'

साधन के सम्बन्ध में गीता का उपदेश इस प्रकार है,—

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ।—

गीता, १८ । ६४–६५ ।

'अब मैं तुम्हें सब से गुप्त बात बताता हूँ, सुनो । तुम मेरे परम प्रिय हो, इसी से तुम्हारे हित की बात कहता हूँ। मुझमें मन लगाओ, मेरी भक्ति करो, मेरी पूजा करो, मुझे नमस्कार करो। मैं सत्य प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि तुम मुझ में ही मिलोगे। क्योंकि तुम मुझे प्रिय हो।'

गीता ने किस तरह ज्ञान कर्म भक्ति और ध्यान का समन्वय किया है इसको समझने से उसकी विशेष सार्थकता की मालूम होती है।

जीव ब्रह्म का अंश है। ब्रह्म अग्नि है, जीव चिनगारी है; ब्रह्म समुद्र है, जीव बिन्दु है; ब्रह्म चिदाकाश है, जीव चिन्मात्र है। इस चिनगारी को अग्नि में विकसित करना होगा, बूँद

को समुद्र में डुबाना होगा और चिन्मात्र को चिदाकाश में प्रसारित करना होगा। साधना से ही जीव ब्रह्म बन जाता है। ऐसी साधना करनी होगी जिससे कि जीव ब्रह्म हो जाय। वह साधना कौनसी है जिसका ऐसा अमृतमय फल है ?

जब जीव ब्रह्म का अंश है और ब्रह्म सच्चिदानन्द है तब जीव भी सच्चिदानन्द है। किन्तु जीव और ब्रह्म में एक बड़ा भारी भेद यही है कि ब्रह्म में सद्भाव, चित्भाव और आनन्दभाव सुव्यक्त रहता है; पर जीव में अव्यक्त रहता है। यह अव्यक्त सत्भाव, चित्भाव और आनन्दभाव को साधना से सुव्यक्त करते ही जीव ब्रह्म होजाता है। वास्तव में साधना का चरम फल ब्रह्मप्राप्ति है। जीव किस साधन के द्वारा ब्रह्म होता है ?

श्रुति ने ज़रूर कहा है,—

ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति।

'जो ब्रह्म को जानता है—वह ब्रह्म ही हो जाता है।' किन्तु श्रुति ने यह भी कहा है,—

ब्रह्म सन् ब्रह्म अप्येति।—बृहदारण्यक, ४। ४। ६।

'ब्रह्म होकर ही ब्रह्म को जान पाता है।'

पहले ही कह चुके हैं कि जीव को ब्रह्म होने का अर्थ यही है कि जीव गत चित्भाव (जिस का प्रकाश विज्ञानमय कोश में होता है), आनन्दभाव (जिस का प्रकाश आनन्दमय कोश में होता है) और सद्भाव (जिसका प्रकाश हिरण्मय कोश में होता

है)—इन तीनों भावों को सुव्यक्त कर देना। साधना का यही उद्देश और लक्ष्य होना चाहिए।

पहले तो कर्म्मयोग द्वारा चित्त-शुद्धि करना चाहिए। जिनका चित्त अशुद्ध है, ऐसे साधक उच्च साधना के अधिकारी नहीं हैं।* इसीलिए गीता कहती है,—

> यज्ञदानतपःकर्म्म न त्याज्यं कार्य्यमेव तत्।
> यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥
> एतान्यपि तु कर्म्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च।
> कर्त्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥ गीता, १८। ५-६।

अर्थात्, चित्त-शुद्धि के लिए यज्ञ, दान और तप कर्म्म ज़रूर करने चाहिए। क्योंकि इनसे मनीषियों का चित्त भी शुद्ध होता है। हे पार्थ, पर यह मेरा दृढ़ मत है और यही मत उत्तम भी है कि ये कर्म्म भी उनमें बिना आसक्त हुए तथा बिना फल की आशा किये, करने चाहिए।

इसके बाद ज्ञानयोग द्वारा आत्मा के चित्भाग का विज्ञानमय कोश की सहायता से विकाश करना चाहिए। और भक्तियोग द्वारा आत्मा का आनन्दभाव का आनन्दमय कोश की सहायता से विकास करना उचित है। अन्त में, ध्यानयोग द्वारा आत्मा के

---

* इस मत का समर्थन करने के लिए शङ्कराचार्य्य ने नीचे लिखे श्रुति-वाक्य को उद्धृत किया है,—कषायपक्तिः कर्म्माणि ज्ञानन्तु परमा गतिः। कषाये कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञानं प्रवर्त्तते॥ 'सारे कर्म्म पापों के पाचक हैं, पापों के नाशक हैं। ज्ञान ही परम गति है। कर्म्मों के द्वारा पाप नष्ट होने पर ज्ञान की उत्पत्ति होती है॥'

सद् भाव का हिरण्मय * कोश की सहायता से विकास करना चाहिए। इस तरह जब आत्मा का चित्भाव आनन्दभाव और सद्भाव पूर्ण रूप से विकसित हो जाते हैं तब फिर जीव जीव नहीं रहता—ब्रह्म हो जाता है। ईशोपनिषद् ने नीचे लिखे मन्त्र में इसी विषय पर लक्ष्य किया है।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत् त्वं पूषन् अपावृणु सत्यधर्म्माय दृष्टये ॥—ईश, १५ ।

"सोने के आवरण से सत्य का मुँह ढका हुआ है। हे पूषन्, उस आवरण को हटा दे। फिर तू सत्यधर्म्मा होकर सत्य का बेढका मुँह देखेगा।"

हिरण्मय आवरण से ढका हुआ सत्य ही माया से परे ज्योतिः-स्वरूप परमात्मा है। जो जीव सत्यधर्म्मा है, अर्थात् जिसने साधन के बल से अपने भीतर सबसे बड़ा सद्भाव भली प्रकार विकसित कर लिया है वही परमात्मा के अनावृत रूप का साक्षात्कार करने के योग्य है। इसी लिए वह कहता है—

तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि। योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि।

---

* हिन्दूशास्त्र में साधारणतः पाँच तरह के कोशों का उल्लेख मिलता है; अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय। पर कहीं कहीं इनके ऊपर हिरण्मय कोश का उल्लेख भी मिलता है:—

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम् । मुण्डक, २ । २ । ६ ।

मालूम होता है इसी कोश को लक्ष्य करके उपनिषदों में "षण्णां कोशानां समूहः" लिखा गया है। यह हिरण्मय कोश ही जीव का सूक्ष्मतम और श्रेष्ठतम कोश है; इसी लिए उसके लिए "परे कोशे" लिखा गया है।

'तुह्मारा कल्याणतम जो ज्योतिर्मय रूप है उसको मैं देखूँगा। वह पुरुष और मैं दो नहीं, एक ही हैं—सोऽहम्।'

ईशोपनिषद् के इस मन्त्र की व्याख्या में शङ्कराचार्य्य लिखते हैं,—

किन्त्वाहं न तु त्वां भृत्यवत् याचे। योऽसौ आदित्यमण्डलस्थो व्याहृत्यवयवः पुरुषः × × सोऽहं भवामि।

'मैं सेवक बन कर आपके साक्षात्कार की याचना नहीं करता क्योंकि सूर्य्यमण्डल में जो पुरुष है मैं भी वही हूँ—सोऽहम्।'

जिन्होंने साधन फल लाभ करके, चित्भाव और आनन्द-भाव के विकास के बाद सद्भाव का विकास कर लिया है, अर्थात् जो सच्चिदानन्द ब्रह्म में मिल गये हैं उनको छोड़ कर और कौन यह बात कह सकता है?

अतएव, कर्म्म, ज्ञान भक्ति और ध्यान का समन्वय करके गीता में यह बात दिखाई गई कि जीव के सम्पूर्ण विकास के लिए अकेला कर्म्म, अकेला ज्ञान, अकेली भक्ति या अकेला ध्यान ही काफ़ी नहीं है। जीव को ब्रह्म बनने के लिए इन चारों मार्गों को अपने वश में करना होगा, नहीं तो आत्मा का सिर्फ़ आंशिक विकास होगा। इसी लिए गीता ने कर्म्मवाद, ज्ञानवाद, भक्तिवाद और ध्यानवाद का अपूर्व मिश्रण करके समन्वयवाद का उपदेश दिया है।

बीसवाँ अध्याय ।

ब्रह्मप्राप्ति का फल ।

अद्वैत मत में ब्रह्म के साथ परम साम्य ही मुक्त का लक्षण है और ब्रह्म के साथ ऐक्य ही मुक्ति का स्वरूप है । क्योंकि अद्वैतवादी कहते हैं कि "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव, भवति ।" दूसरे पक्ष में, विशिष्टाद्वैत मत में मुक्त पुरुष कभी ब्रह्म के स्वरूप में नहीं मिलता; उसको ब्रह्म का स्वभाव ज़रूर मिल जाता है—ब्रह्मोचित गुणों से ज़रूर भूषित होजाता है—किन्तु ब्रह्म के साथ एक कभी नहीं होता । विशिष्टाद्वैतवादियों के मत में इसी का नाम मुक्ति है । इस विषय में गीता का मत क्या है ?

उपनिषदों की आलोचना करने से पता लगता है कि, ऋषियों ने जीव की उत्क्रान्ति के दो मार्ग बताये हैं; उत्तर मार्ग और दक्षिण मार्ग । इनको देवयान और धूमयान भी कहते हैं । इस विषय में छान्दोग्य उपनिषद् का मत इस प्रकार है;—

अथ य इमे ग्रामे इष्टापूर्त्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसंभवन्ति धूमाद्रात्रिं रात्रेरपरपक्षमपरपक्षाद्यान् षड् दक्षिणैति मासांस्तान् नैते संवत्सरमभिप्राप्नुवन्ति ।

मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति ।

तस्मिन्यावत् संपातमुषित्वाथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्त्तन्ते यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वाऽभ्रं भवति । अभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति । त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्ते-

ऽतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरं यो योह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति तद्‌भूय एव भवति । छान्दोग्य ५।१०।६।

जो ग्राम में इष्टापूर्त्त और दान करते हैं वे धूम को प्राप्त होते हैं, धूम से रात्रि, रात्रि से कृष्णपक्ष, कृष्णपक्ष से दक्षिणायन (के छः मास) को प्राप्त होते हैं, वे वत्सर को प्राप्त नहीं होते । मास से पितृलोक, पितृलोक से आकाश, आकाश से चन्द्रमा—इन्हीं का नाम राजा सोम है । वह देवताओं का अन्न होता है—देवता उसको भक्षण करते हैं । उस जगह कर्म्मों के नाश होने तक उन (जीवों) को वास करना पड़ता है और उसके बाद फिर जिस मार्ग से गये थे, उसी मार्ग से उनको लौटना पड़ता है; आकाश से वायु, वायु से धूम, धूम से अभ्र, अभ्र से मेघ, मेघ से वृष्टि; फिर जो ओषधि, वनस्पति, तिल, उर्द रूप में उत्पन्न होते हैं । इससे निकलना बहुत मुश्किल है । जो उस अन्न को खाता है उसी के वीर्य से फिर उसका जन्म होता है ।'

इसी का नाम धूमयान है । इसी को दक्षिण मार्ग कहते हैं । इस मार्ग से जाने वाले साधकों को फिर संसार में आना पड़ता है । पर, जो देवयान से यात्रा करते हैं वे क्रम से ब्रह्मलोक में पहुँच जाते हैं और वहाँ से फिर उनको लौटना नहीं पड़ता । उनके विषय में छान्दोग्य उपनिषद् इस प्रकार कहता है,—

ये चेमेऽरण्ये श्रद्धातप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसंभवन्त्यर्चिषो हरन् आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान् षडुदङ्‌ङेति मासांस्तान् ।

मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं विद्युतं तत्पुरुषो मानवः स एतान् ब्रह्म गमयत्येष देवयानः पन्था इति । छान्दोग्य, ५।१०।१-२।

अथ यदु चैवास्मिंच्छव्यं कुर्वन्ति यदि च नार्चिषमेवाभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान् यड्डुदङ्ङेति मासांस्तान् मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषो मानवः स एतान् ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्त्तं नावर्त्तन्ते । छान्दोग्य, ४।१।२।१

'जो जीवन में श्रद्धा रूप तपस्या करते हैं, वे अर्चि को प्राप्त होते हैं, अर्चि से दिवा को, दिवा से शुक्लपक्ष को, शुक्लपक्ष से उत्तरायण को, उत्तरायण के छः महीनों से संवत्सर को, संवत्सर से आदित्य को, आदित्य से चन्द्रमा को, चन्द्रमा से बिजली को । एक अमानव पुरुष उनको ब्रह्म प्राप्ति कराता है, यही देवयान मार्ग है ।'

'ऐसे व्यक्ति का कोई श्राद्ध करे या न करे वह अर्चि को प्राप्त होता ही है और फिर ऊपर लिखे क्रम के अनुसार अमानव पुरुष द्वारा ब्रह्म को प्राप्त होजाता है । इस पथ से जानेवाले को फिर मर्त्यलोक में नहीं आना पड़ता ।'

गीता में भी धूमयान और देवयान का उल्लेख मिलता है,—

यत्र कालेत्वनावृत्तिमावृत्तिञ्चैव योगिनः ।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥
अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥
धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्त्तते ॥
शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्त्तते पुनः ॥—गीता, ८।२३-२६ ।

'हे भरतश्रेष्ठ, किस समय देह त्याग करने से योगी फिर वापस नहीं आते और किस समय त्यागने से फिर आते हैं अब

मैं वह समय बताता हूँ। अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्लपक्ष, और उत्तरायण में प्रयाण करने वाले ब्रह्मविद् ब्रह्म में मिल जाते हैं। धुआँ, रात, कृष्णपक्ष और दक्षिणायन में प्रयाण करने वाले योगी चन्द्र की ज्योति में मिलते हैं और फिर लौट आते हैं। संसार की नित्य चलने वाली शुक्ल और कृष्ण नाम की दो गतियाँ हैं। विद्वानों का मत है कि एक गति से जाने वाले को लौटना नहीं पड़ता और दूसरी गति से जाने वाले को लौटना पड़ता है।'

गीता के मत में भी शुक्ल पथ या उत्तर मार्ग से जाने वालों की आवृत्ति (वापसी) नहीं होती; किन्तु कृष्ण पथ या दक्षिण मार्ग से जाने वालों को लौटना पड़ता है। दक्षिण-मार्गी की आवृत्ति गीता इस प्रकार बताती है।

> त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
> ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान्॥
> ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
> एवं त्रयीधर्म्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते॥—गीता, ९।२०-२१।

'तीनों वेदों का अध्ययन कर यज्ञ करने वाले, यज्ञ में सोमपान करने वाले और उससे पापमुक्त हुए याज्ञिक, यज्ञ के द्वारा मेरी आराधना करते हैं और स्वर्ग की प्राप्ति के लिए प्रार्थना करते हैं। वे इन्द्रलोक में जाकर अनेक तरह के दिव्य सुख भोगते हैं। उस विशाल स्वर्ग सुख का उपभोग कर, पुण्य समाप्त होने के बाद वे फिर मृत्युलोक में आते हैं। जो लोग ये तीनों प्रकार के धर्म्म करते हैं—वे स्वर्ग और पृथ्वी में इसी प्रकार आया जाया करते हैं।'

बादरायण ने चौथे अध्याय के दूसरे पाद में जीव की उत्क्रान्ति का प्रकार बताया है । उनके उपदेशों का सार यही है कि मरने के समय जीव की सब इन्द्रियाँ और प्राण सूक्ष्म भूत में मिल जाती हैं । इसी सूक्ष्म शरीर का अवलम्ब करके जीव शरीर से निकलता है ।

सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः । ब्रह्मसूत्र, ४।२।९।

'मरणकाल में जीव सूक्ष्म शरीर लेकर परलोक को जाता है ।'

गीता भी इस विषय में कहती है;

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥ गीता, १५। ८ ।

'शरीर का वह स्वामी शरीर धारण करने के बाद जब उसका त्याग करता है तब इन्द्रियों को और मन को अपने साथ ले जाता है, जैसे वायु गन्ध ले जाती है ।'

बादरायण के मत में विद्वान्, अविद्वान्, उपासक, अनुपासक,—सब की उत्क्रान्ति होती है । वे कहते हैं कि श्रुति में विद्वान् की उत्क्रान्ति का प्रतिषेध किया है—उससे शरीर से उत्क्रान्ति का वारण नहीं होता—जीव से उत्क्रान्ति ही सिद्ध होती है । इस भाव को बताने वाली श्रुति इस प्रकार है,—

न तस्मात् प्राणा उत्क्रामन्ति । अत्रैव समवनीयन्ते ।

'ब्रह्मज्ञानी के प्राण उससे उत्क्रान्त नहीं होते,—वे वहीं विलीन होजाते हैं ।'

इसी विषय पर बादरायण सूत्र बनाते हैं,—

प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात्।* ब्रह्मसूत्र, ४।३।१२।

इसलिए उनके मत में विद्वान् अविद्वान् सभी की उत्क्रान्ति होती है। हाँ, उत्क्रान्ति के ढंग में कुछ विशेषता है। मूर्ख का जीव किसी नाड़ी द्वारा निकलता है—पर विद्वान् (ज्ञानी) उपासक शिरोदेश में रहने वाली सुषुम्ना-नाड़ी द्वारा सूर्य्य किरण का अवलम्ब करके बहिर्गत होता है।

तदोकोऽग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात् तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च हार्दानुगृहीतः शताधिकया। रश्म्यनुसारी॥—ब्रह्मसूत्र, ४।२।१७-१८।

अर्थात् 'ज्ञानी उपासक के हृदय का अगला भाग प्रद्योतित होता है। उसी प्रकाश में, वह बाहर निकलने का मार्ग देख पाता है और हृदय में स्थित ब्रह्म के अनुग्रह से सुषुम्ना-नाड़ी द्वारा बाहर निकल कर सूर्य्य-रश्मि का अनुसरण करता है।' यही देवयान मार्ग है। बादरायण ने तीसरे पाद में इस मार्ग की आलोचना की है। उनके मत में सब ब्रह्मज्ञानियों को उक्त अर्चिरादिमार्ग का अवलम्ब करके ब्रह्मलोक में पहुँचना होता है।

अर्चिरादिनः तं प्रथितेः। —ब्रह्मसूत्र, ४।३।१।

इस मार्ग में अनेक पर्व (Stages) हैं—अर्चि, दिवा, शुक्ल-पक्ष, उत्तरायण और संवत्सर आदि इस मार्ग के पर्व हैं। बादरायण के मत में अर्चि आदि रास्ते के चिह्न या भोग करने की भूमि नहीं हैं। वे रास्ता दिखाने वाले दिव्य पुरुष हैं, वे ही ब्रह्मज्ञानी को जिसको जहाँ जाना चाहिए वहाँ पहुँचा देते हैं।

---

* शङ्कर ने इस सूत्र को पूर्वपक्ष का सूत्र माना है। हमें यह बात ठीक नहीं मालूम होती। रामानुज के मत में यह सिद्धान्त-सूत्र है। हमने उन्हीं के मत को माना है।

अति वाहिकास्तल्लिङ्गात् । उभयव्यामोहात्तत्सिद्धेः । ब्रह्मसूत्र, ४।३।४--५ ।

अर्थात् 'अर्चि दिवा आदि मार्गप्रदर्शक पुरुष हैं ।' शेष पर्व में ब्रह्मज्ञानी को एक अमानव पुरुष मिलता है जो उसको ब्रह्मलोक में पहुँचा देता है ।

तत्पुरुषोऽमानवः । स एतान् ब्रह्म गमयति ।

'वह अमानव पुरुष उनको ब्रह्म-प्राप्ति कराता है ।'

इस सम्बन्ध में बादरायण ने कुछ विचार भी किया है। उन्होंने बादरि और जैमिनि के मतों का उल्लेख करके उनके मतों को भ्रान्त और अपने मत को समीचीन दिखाया है। बादरि के मत में जो कार्य्यब्रह्म हिरण्यगर्भ की उपासना करते हैं अमानव पुरुष उन्हीं को ब्रह्मलोक में पहुँचाते हैं और वहाँ उनको एक कल्प तक ठहरना पड़ता है, बाद को प्रलय काल में ब्रह्मा के साथ वे पर-ब्रह्म में मिल जाते हैं ।

कार्य्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः ।—ब्रह्मसूत्र, ४ । ३ । ७ ।

कार्य्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात् ।—ब्रह्मसूत्र ४ । १ । १० ।

जैमिनि इस मत को नहीं मानते । उनके मत में परब्रह्म के उपासक को ही अमानव पुरुष ब्रह्मलोक में पहुँचाते हैं ।

परं जैमिनिर्मुख्यत्वात् ।—ब्रह्मसूत्र, ४ । ३ । १२ ।

बादरायण दोनों के मत का समाधान करके सूत्र कहते हैं—

अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायण उभयथा दोषात् तत्क्रतुश्च ।—ब्रह्मसूत्र, ४ । १ । १५ ।

अर्थात् बादरायण के मत में प्रतीक-उपासकों को छोड़ कर अन्य सब उपासक अमानव पुरुष द्वारा ब्रह्मलोक में पहुँचते हैं ।

ऐसा कहने से किसी पक्ष में दोष नहीं आता । क्योंकि जिसकी जैसी भावना होती है उसको वैसी ही प्राप्ति होती है । जो ब्रह्मभक्त है (ब्रह्म की उपासना करते हैं—चाहे वह परब्रह्म हो या कार्य्य-ब्रह्म ही हो) उसको ब्रह्मलोक की प्राप्ति होना ही चाहिए । श्रुति भी कहती है,—

तं यथा यथा उपासते तदेव भवति ।

'जो जैसी उपासना करता है वह वैसा ही हो जाता है ।' *

देवयान-गति का लक्ष्य ब्रह्मलोक-प्राप्ति है । ब्रह्मलोक के ऐश्वर्य्यों का उपनिषदों में जहाँ तहाँ ज़िक्र आया है । कौशीतकी उपनिषद् में रूपक की भाषा में जिनको ब्रह्मलोक मिल गया है उनकी अवस्था का वर्णन इस तरह किया गया है,—

स एतं देवयानं पन्थानमापद्य अग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं स आदित्यलोकं स वरुणलोकं स इन्द्रलोकं स प्रजापतिलोकं स ब्रह्मलोकम् ।

---

* बादरायण ने ३ । ३ । २६ सूत्र से ३१ सूत्रपर्य्यन्त साधारणतः प्रतिपन्न किया है कि उपासक मात्र ही देवयान मार्ग से जाते हैं । अनियमः सर्वासामविरोधः शब्दानुमानाभ्याम् ।—ब्रह्मसूत्र । ३ । ३ । ३१ ।

प्रतीक-उपासक भी इनके अन्तर्गत हैं । पर, तीसरे पाद के चौथे अध्याय में उन्होंने दिखाया है कि इसमें सन्देह नहीं कि सब साधकों की देवयान-गति होती है—किन्तु ब्रह्मलोक में ब्रह्मोपासक ही पहुँच पाते हैं प्रतीकोपासक वहाँ नहीं पहुँच सकते ।

शङ्कराचार्य्य ने जैमिनि के मत को पूर्वपक्ष और बादरायण के मत से मिलता हुआ होने के कारण बादरि के मत को उत्तरपक्ष या सिद्धान्त-पक्ष माना है । हमें यह ठीक नहीं मालूम होता । रामानुज ने वैसा नहीं किया है । उनके मत में 'अप्रतीकालम्बनात्' ही सिद्धान्त-सूत्र है । किन्तु रामानुज 'उभयथा दोषात्' पाठ शुद्ध मानते हैं । हमें शङ्कर का 'उभयथाऽदोषात्' पाठ ही अच्छा मालूम होता है ।

तस्य वा एतस्य ब्रह्मलोकस्य आरो ह्रदो मुहूर्त्तो येष्टिहा विरजा नदी इल्यो वृक्षः सालज्यं संस्थानमपराजितमायतनमिन्द्रप्रजापती द्वारगोपौ । विभू प्रमितं विचक्षणा आसन्दी अमितौजः पर्य्यङ्कः । × × स आगच्छति आरं ह्रदन्तं मनसात्येति । तमित्वा संप्रतिविदो मज्जन्ति । स आगच्छति मुहूर्त्तान्येष्टिहान् ते अस्मद् अपद्रवन्ति । स आगच्छति विरजां नदीं तां मनसैवात्येति । तत् सुकृतदुष्कृते धुनुते × × स एष विसुकृतो विदुष्कृतो ब्रह्म विद्वान् ब्रह्मैवाभिप्रैति । स आगच्छति इल्यं वृक्षम् । तं ब्रह्मगन्धः प्रविशति । स आगच्छति सालज्ज्यं संस्थानं तं ब्रह्मतेजः प्रविशति । स आगच्छति अपराजितमायतनं तं ब्रह्मतेजः प्रविशति । स आगच्छति इन्द्रप्रजापती द्वारगोपौ तौ अस्मद् अपद्रवतः । स आगच्छति विभुप्रमितं तं ब्रह्मतेजः प्रविशति । स आगच्छति विलक्षणामासन्दीम् × × सा प्रज्ञा । प्रज्ञया हि विपश्यति । स आगच्छति अमितौजसं पर्य्यंकं स प्राणः × × तस्मिन् ब्रह्मास्ते । तमित्थंवित् पादेनैवाग्रे आरोहति इत्यादि ।—प्रथम अध्याय—२—५ ।

साधक—देवयान पथ का अवलम्ब करके अग्निलोक में पहुँचता है, वहाँ से वायुलोक, आदित्यलोक, वरुणलोक, इन्द्रलोक, प्रजापतिलोक में होता हुआ ब्रह्मलोक में पहुँचता है । उस ब्रह्मलोक में 'आर' नाम का तालाब है, 'येष्टिहा' नाम का मुहूर्त्त है, 'विरजा' नाम की नदी है 'इल्य' नाम का वृक्ष है, 'सालज्ज्य' नाम का शहर है उसमें 'अपराजित' नाम का आयतन है, वहाँ 'इन्द्र प्रजापति' नाम के दो द्वारपाल हैं, सभास्थल का नाम 'विभु' है, उसमें 'विचक्षण' नाम का मञ्च है और 'अमितौजा' नाम का वहाँ पलँग बिछा हुआ है । साधक 'आर' नामक तालाब को मन के द्वारा पार कर जाता है, अज्ञानी उस में डूब जाते हैं । वह 'येष्टिहा' मुहूर्त्तों को प्राप्त होता है—उसको देख कर वे भाग जाते हैं । वह पाप और पुण्य से छूट जाता है । इस तरह पाप-पुण्य से छूटा हुआ

वह साधक ब्रह्म होकर ब्रह्म को प्राप्त होता है। वह ईल्य वृक्ष के पास जाता है, उसमें से निकली ब्रह्म-गन्ध उसमें प्रवेश करती है, वह 'सालज्ज्य संस्थान' को प्राप्त होता है, उसमें से निकला ब्रह्मरस उसमें प्रवेश करता है, वह 'अपराजित' आयतन को प्राप्त होता है, उससे ब्रह्मतेज प्रवेश करता है। फिर, वह 'इन्द्र प्रजापति' द्वारपालों के पास जाता है—ये भी उसके सामने से चले जाते हैं। फिर वह 'विभु' नाम के सभास्थल में आता है, वहाँ भी उसको ब्रह्म-तेज की प्राप्ति होती है। फिर वह 'विलक्षणा' आसन्दो को प्राप्त करता है—यह आसन्दो ही प्रज्ञा है। प्रज्ञा के द्वारा वह सब विषयों को देखता है। फिर वह 'अमितौजा' नामक पलँग के पास जाता है—यही प्राण हैं। इस पर ब्रह्मा आसीन रहते हैं। ब्रह्मवित् एक पाँव से उसके ऊपर चढ़ जाता है।

छान्दोग्य उपनिषद् में इस तरह लिखा है,—

अरश्च ह वै ण्यश्चार्णवौ ब्रह्मलोके तृतीयस्यामितो दिवि तदैरंमदीयं सरस्तदश्वत्थः सोमसवनस्तदपराजिता पुर्ब्रह्मणः प्रभुविमितं हिरण्मयम् । तद् य एष एतौ अरं च ण्यं चार्णवौ ब्रह्मलोके ब्रह्मचर्य्येण नानुविन्दन्ति तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति । छान्दोग्य, ८ । ५ । ३—४ ।

एष सम्प्रसादोऽस्मात् शरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरूपं सम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते । स उत्तमः पुरुषः स तत्र पर्य्येति । जक्षन् क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा नोपजनं स्मरन्निदं शरीरं × × स वा एष एतेन दैवेन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते । स एते ब्रह्मलोके ।

छान्दोग्य, ८ । १२ । ३—५ ।

'इस पृथ्वी से तीसरे स्वर्ग में ब्रह्मलोक है, वहीं ब्रह्मा रहता है। वहाँ 'अर' और 'ण्य' नाम के दो समुद्र हैं। 'ऐरंमदीय'

नाम का तालाब है, 'सोमसवन' नाम का अश्वत्थ है, अपराजिता नाम की पुरी है। उस पुरी में ब्रह्मा के रहने का—सोने का स्थान है। जो ब्रह्मचर्य्य द्वारा 'अर' और 'ण्य' समुद्र वाले ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं—उनके लिए ही यह ब्रह्मलोक है। जो ब्रह्मलोक में रहते हैं वे सब लोकों में जहाँ चाहें वहाँ जा सकते हैं।'

संप्रसाद (स्वस्थ जीव) इस शरीर को छोड़ कर परम ज्योति को प्राप्त होकर स्वरूप में स्थित हो जाता है। वह उत्तम पुरुष हो जाता है। उस जगह वह स्त्री सवारी और ज्ञाति-वर्ग के साथ रमण करता है, क्रीड़ा करता है और विचरण करता है। जिस शरीर को छोड़ चुका है उसका फिर उसको ध्यान नहीं रहता। वह ब्रह्मलोक में पहुँच कर देवचक्षु हो जाता है, मन के द्वारा सब कामों को देख कर ही वह प्रसन्न हो जाता है।

बादरायण ने चौथे अध्याय के चौथे पाद में मुक्त के स्वरूप और ऐश्वर्य्य का विचार किया है। वहाँ उनका लक्ष्य ऊपर वाली छान्दोग्य श्रुति पर ही था।

एष सम्प्रसादः अस्मात् शरीरात्समुत्थाय परमज्योतिरूपं सम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते।

'वह जीव इस शरीर को छोड़ कर परम ज्योति को प्राप्त होकर अपने रूप में निष्पन्न होता है।'

बादरायण के मत में यहाँ मुक्त जीव को ही लक्ष्य किया गया है।

मुक्तः प्रतिज्ञानात्।—ब्रह्मसूत्र, ४। ४। २।

आत्मा प्रकरणात्।—ब्रह्मसूत्र, ४। ४। ३।

'ज्योति शब्द से भी आत्मा का ग्रहण करना चाहिए'।

बादरायण कहते हैं,—'इस श्रुति में मुक्त की अवस्था कही गई है।'

सम्पद्याविर्भावः स्वेन शब्दात्।—ब्रह्मसूत्र, ४।४।१।

जीव, आत्मा के साथ मिल कर अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है—उस समय उसके अपने रूप का आविर्भाव होता है।

केवलेनैकात्मनाविर्भवति न धर्म्मान्तरेण। शङ्करभाष्य।

सम्पद्याविर्भावः स्वरूपस्य। यं दशाविशेषमापद्यते स स्वरूपाविर्भावरूपः न अपूर्वाकारोत्पत्तिरूपः।—रामानुज।

उस समय जीव के साथ आत्मा का अभिन्नभाव हो जाता है। उस समय जीव और आत्मा में कोई भेद नहीं रहता।

अविभागेन दृष्टत्वात्। *ब्रह्मसूत्र, ४।४।४।

---

*शङ्कराचार्य्य इसके भाष्य में लिखते हैं,—'मुक्त जीव परमात्मा के साथ अभिन्न हो जाते हैं। अविभक्त एव परेणात्मना मुक्तोऽवतिष्ठते। कुतः दृष्टत्वात्। तथाहि तत्त्वमसि अहं ब्रह्मास्मि × × इत्येवमादीनि वाक्यानि अविभागेनैव परमात्मानं दर्शयन्ति।' रामानुज कहते हैं कि मुक्त पुरुष अपने को परमात्मा के साथ अभिन्न (उसी का प्रकारभूत) जान कर अनुभव करता है। "परस्मात् ब्रह्मणः स्वात्मानं अविभागेनानुभवति मुक्तः। कुतः। दृष्टत्वात्। × × अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां स त आत्मा इत्यादिभिश्च परमात्मात्मकं तच्छरीरतया तत्प्रकारभूतमिति प्रतिपादितम्।" संप्रसाद के अर्थ में जीवात्मा और आत्मा के अर्थ में अध्यात्मा मानने से यहाँ कैसे काम चलेगा? जीव की मुक्ति के विषय में बादरायण का यहाँ यह मत ही मालूम होता है कि चिदाभास (जीवात्मा) चिन्मात्र (अध्यात्मा) के साथ मिल कर एक हो जाता है। उस समय चिदाभास (क्षर पुरुष) और चिन्मात्र (अक्षर पुरुष) में भेद नहीं रहता। चिन्मात्र और चिदाकाश का मिश्रण अक्षर पुरुष (अध्यात्मा) और पुरुषोत्तम (परमात्मा) का जो चिर-सम्मिलन है इस जगह सम्भवतः बादरायण का उस पर लक्ष्य नहीं है।

जीव अपने रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। यह स्वरूप किस तरह का है? इसके बाद बादरायण ने यही विचार किया है। वे कहते हैं कि जैमिनि के मत में यह ब्राह्मरूप है और औडुलोमि के मत में यह चिन्मात्र है।

ब्राह्मणे जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः ।

चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः । ब्रह्मसूत्र ४। ४। ५-६ ।

स्वमस्य रूपं ब्राह्मम् अपहतपाप्मत्वादिसत्यसङ्कल्पत्वावसानं तथा सर्वज्ञत्वं सर्वेश्वरत्वञ्च तेन स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते इति जैमिनिराचार्यो मन्यते × × चैतन्यमेव तु अस्यात्मनः स्वरूपमिति तन्मात्रेण स्वरूपेणाभिनिष्पत्तिर्युक्ता × तस्मात् निरस्ताशेषप्रपञ्चेन प्रसन्नेनाव्यपदेश्येन बोधात्मनाऽभिनिष्पद्यत इति औडुलोमिराचार्यो मन्यते । शङ्करभाष्य ।

अर्थात्, आचार्य्य जैमिनि कहते हैं कि मुक्त ब्रह्म स्वरूप होजाता है, ब्रह्म, निष्पाप है, सत्यसङ्कल्प है, सत्यकाम है, सर्वेश्वर है और सर्वज्ञ है। मुक्त में भी ये सब बातें आजाती हैं। औडुलोमि आचार्य्य कहते हैं कि आत्मा का स्वरूप चैतन्य ही है। अतएव मुक्त का स्वरूप चिन्मात्र ही होना चाहिए। × × मोक्ष में सब प्रपञ्च दूर हो जाते हैं। उस समय जीव एकान्त, प्रसन्न और अचिन्त्य, चैतन्य रूप में अवस्थान करता है।

बादरायण इन दोनों मतों का सामञ्जस्य करके कहते हैं,—

एवमुपन्यासात् पूर्वभावादविरोधं बादरायणः ।—ब्रह्मसूत्र, ४।४।७।

'आत्मा चिन्मात्र होने पर भी, उसके ब्रह्मरूप होने में कोई हानि नहीं क्योंकि मुक्त का ब्राह्म ऐश्वर्य्य शास्त्र में लिखा है।'

क्योंकि श्रुति कहती है कि मुक्त को सब ऐश्वर्य्य प्राप्त होते हैं, वह कामचार होता है, वह स्वराट् होता है। अर्थात्, जहाँ चाहे वह जा सकता है और सब का अधीश्वर होता है।

आप्नोति स्वाराज्यम् × × तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति × × सङ्कल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति × × सर्वेऽस्मै देवा बलिमाहरन्ति ।

'वह स्वराट् होता है, वह सब लोकों में इच्छा होते ही घूम सकता है, उसके सङ्कल्प मात्र से पितर आ सकते हैं, समस्त देवता उसके लिए बलि ग्रहण करते हैं ।'

बादरायण इसका समर्थन करके कहते हैं कि मुक्त को कुल ऐश्वर्य्य सङ्कल्प मात्र से प्राप्त होते हैं,—

संकल्पादेव तत् श्रुतेः । —ब्रह्मसूत्र, ४।४।८।

इसीलिए वह अनन्याधिपति (स्वराट्) होजाता है ।

अतएव च अनन्याधिपतिः ।—ब्रह्मसूत्र, ४।४।९।

उस समय उसका कोई शरीर होता है या नहीं ? बादरि कहते हैं—नहीं होता । जैमिनि कहते हैं—होता है । बादरायण के मत में शरीर का होना या न होना मुक्त की इच्छा पर है । यदि शरीर होता है तब जाग्रत् की तरह भोग करता है नहीं तो स्वप्न की तरह भोग करता है ।

अभावं बादरिराह ह्येवम् । भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् । द्वादशाहवत् उभयविधं बादरायणोतः । तन्वभावे सन्धवदुपपद्यते । भावे जाग्रद्वत् ।—ब्रह्मसूत्र, ४।४।१०-१४।

मुक्त पुरुष इच्छा करते ही शरीर बना सकता है और उसमें प्रवेश कर सकता है ।

प्रदीपवत् आवेशस्तथा हि दर्शयति ।—ब्रह्मसूत्र, ४।४।१५।

इसीलिए श्रुति में भी कहा है,—

स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा ।

'वह एक, तीन, पाँच और सात तक हो सकता है ।'

मुक्त और सब विषयों में स्वतंत्र होता है पर जगत् की सृष्टि, स्थिति और लय में उसका कोई सम्पर्क नहीं होता ।

जगद्व्यापारवर्जम् । —* ब्रह्मसूत्र, ४।४।१७।

इसके सिवा, वह जो कुछ भोग भोगता है वह इसी सौरमण्डल तक सीमाबद्ध रहता है ।

प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्न आधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः ।—†
ब्रह्मसूत्र, ४ । ४ । १८ ।

'जो कहो कि मुक्त का निरङ्कुश ऐश्वर्य्य श्रुति में कहा गया है "आप्नोति स्वाराज्यम्;" तो उत्तर में बादरायण कहते हैं कि वह ऐश्वर्य्य सौरमण्डल तक ही सीमाबद्ध है ।'

भगवान् के साथ मुक्त का सिर्फ़ भोगसादृश्य ही होता है ।

भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च । —ब्रह्मसूत्र, ४ । ४ । २१ ।

भोगमात्रमेषामनादिसिद्धेनेश्वरेण समानम् ।—शङ्कर ।

'मुक्त का भोग ही सिर्फ़ ईश्वर के समान होता है ।'

अर्थात्, उसकी शक्ति ईश्वर के समान नहीं होती है । इसीलिए मुक्त पुरुष ईश्वर की तरह सृष्टि, स्थिति और संहार करने में समर्थ नहीं होता ।

---

* बादरायण ने इस बात को साबित करने के लिए 'प्रकरणात्' 'असन्निहितात्' आदि अनेक युक्तियाँ दी हैं ।

† अर्थात्, Confined to the particular Solar System आधिकारिका अधिकारेषु नियुक्तास्तेषां मण्डलानि लोकाः तत्स्था भोगा मुक्तस्य भवन्ति । रामानुज भाष्य । शङ्कर की व्याख्या दूसरी तरह की है—वह हमको ठीक मालूम नहीं होती ।

बादरायण यह भी कहते हैं कि मुक्त को फिर संसार में आना नहीं पड़ता ।

अनावृत्तिः शब्दात् अनावृत्तिः शब्दात् ।—ब्रह्मसूत्र, ४ । ४ । २२ ।

'ब्रह्मलोक में पहुँचे हुए साधक की फिर आवृत्ति नहीं होती—श्रुति ने ऐसा कहा है ।'

ब्रह्मलोक में साधक की अनावृत्ति आत्यन्तिक है वा आपेक्षिक ?

इस सम्बन्ध में उपनिषद् का मत है,—

ब्रह्मलोकान् गमयति । ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति ।

'वे, ब्रह्मलोक में ब्रह्मा की बड़ी आयु पर्य्यन्त वास करते हैं ।'

स खलु एवं वर्त्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्त्तते ।
छान्दोग्य, ८ । १५ । १ ।

'वे वहाँ ब्रह्मा की आयु पर्य्यन्त वास करते हैं । वे, फिर लौटते नहीं ।'

गीता के उपदेश से पता चलता है कि ब्रह्मलोक से भी वापिसी हो सकती है । गीता कहती है,—

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥
आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्त्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥—
गीता, १५ । १६ ।

'जिनको मैं मिला वे महात्मा हैं, उनको सब से बड़ी सिद्धि मिल गई; उनको दुःख-मूल और अशाश्वत जन्म फिर लेना नहीं पड़ता । हे अर्जुन, ब्रह्मलोक तक जितने लोक हैं उन सब में आना

जाना लगा रहता है। पर जो मुझ में मिला उसका फिर जन्म नहीं होता।'

इससे यह पता लगता है कि ब्रह्मलोक में जो साधक पहुँच गये हैं उनकी आवृत्ति कल्प के बीच में नहीं होती सही, किन्तु कल्प के बाद उनको भी लौटना पड़ता है। इन श्लोकों की टीका में श्रीधरस्वामी लिखते हैं,—

ब्रह्मलोकस्यापि विनाशित्वात् तत्रत्यानामनुत्पन्नज्ञानानामवश्यम्भावि पुनर्जन्म। य एवं क्रममुक्तिफलाभिरुपासनाभिः ब्रह्मलोकं प्राप्तास्तेषामेव तत्रोत्पन्नज्ञानानां ब्रह्मणा सह मोक्षो नाऽन्येषाम्। मामुपेत्य वर्त्तमानानान्तु पुनर्जन्म नास्त्येव।

'जब ब्रह्मलोक ही विनाशी है तब ब्रह्मलोक में जो जीव हैं उनका पुनर्जन्म भी अवश्यम्भावी है। शर्त यह है कि उनको ज्ञान उत्पन्न न हुआ हो। जिन्हें ब्रह्मलोक में रहते हुए ज्ञान की प्राप्ति हो गई है वे ही कल्प के अन्त में ब्रह्मा के साथ मोक्ष प्राप्त करते हैं। और नहीं कर सकते। किन्तु हमको (भगवान् को) प्राप्त हुए जीवों का पुनर्जन्म कभी नहीं होता।'

इस जगह श्रीधरस्वामी ने नीचे लिखे श्रुतिवाक्य की ओर लक्ष्य किया है,—

ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे।
परस्यान्ते कृतात्मानो प्रविशन्ति परं पदम्॥

'कल्प के अन्त में जब प्रलयकाल आता है उस समय वे ब्रह्मा की आयु की समाप्ति पर कृतार्थ होकर परमपद को प्राप्त होते हैं।'

ब्रह्मसूत्र में भी यही बात कही गई है,—

कार्य्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात् ।—ब्रह्मसूत्र, ४।३। १० ।

'कार्य्य (ब्रह्माण्ड) के अवसान में, अपने अध्यक्ष ब्रह्मा के साथ वे परतत्व (ब्रह्म) को प्राप्त होते हैं—श्रुति ने ऐसा कहा है।'

सिद्धान्त यही निकला कि यद्यपि ब्रह्मलोकवासियों की स्थिति स्वर्गवासियों की स्थिति से बहुत ज़्यादा है पर कल्पान्त में उनका भी पतन होता है—यदि वे इस बीच में ब्रह्मज्ञान के अधिकारी न हो गये हों। ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के बाद उनको फिर लौटना नहीं पड़ता।

बादरायण सूत्र करते हैं,—

अनावृत्तिः शब्दात् ।—ब्रह्मसूत्र, ४ । ४ । २२ ।

वह अनावृत्ति इसी तरह जाननी चाहिए।

इसीलिए पण्डितवर श्रीकालीवर वेदान्तवागीश महाशय अपने बनाये शङ्करभाष्य के अनुवाद में इस अनावृत्ति के विषय में इस तरह लिखते हैं,—

'इस जगह और एक सिद्धान्त की बात कह देना ज़रूरी है। वह यह है—कि जो बिना ईश्वरोपासना के, अर्थात् पञ्चाग्निविद्या के अनुशीलन, अश्वमेध यज्ञ, सुदृढ़ ब्रह्मचर्य्य के बल से ब्रह्मलोक में पहुँच गये हैं—तत्त्वज्ञान के अभाव के कारण, वे कल्पक्षय या प्रलय के अवसान पर फिर दोबारा जन्म धारण करेंगे। किन्तु जो ईश्वरोपासना और तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के कारण ब्रह्मलोक में गये हैं उनको फिर आना नहीं पड़ेगा। वे कल्पान्त में ब्रह्मा के साथ उत्पन्न ब्रह्मदर्शन अर्थात् तत्त्वज्ञानी होकर परिमुक्त हो जायँगे।

दूसरी जगह भी गीता में लिखा है कि जीव यदि भगवान् के निकट पहुँच जाय तभी उसकी आवृत्ति का नाश होता है अन्यथा नहीं ।

यद् गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम । गीता, । १५ । ६ ।

'जहाँ गये हुए जीव वापस नहीं आते वही मेरा परम-पद है ।'

गीता भगवान् की ओर लक्ष्य करके और जगह भी यह बात कहती है,—

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥—गीता, ८ । २१ ।

'अव्यक्त ही को अक्षर कहते हैं । उसी को परम गति कहते हैं । वही मेरा परमधाम है । जिसमें पहुँच कर फिर कोई जन्म ग्रहण नहीं करता ।'

गीता में और भी लिखा है,—

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥—गीता, १४ । २ ।

पुनरावर्त्तन्ते ।—श्रीधर ।

'इस ज्ञान की सहायता से जिन्होंने मुझ से सायुज्य प्राप्त कर लिया है; उनका जन्म सृष्टि के प्रारम्भ में भी नहीं होता और प्रलय के समय में भी उनको कष्ट नहीं होता ।

अनावृत्ति के सम्बन्ध में गीता फिर कहती है,—

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन् गता न निवर्त्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥—गीता, १५ । ४ ।

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्द्धूतकल्मषाः ॥—गीता, ५ । १७ ।
गुणानेतानतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥—गीता, १४ । २० ।

'वह स्थान ढूँढ़ निकालना चाहिए जहाँ जाने से फिर लौटना नहीं पड़ता और साथ ही यह विचार करना चाहिए कि जिससे संसार के प्रति यह पुरानी प्रवृत्ति उत्पन्न हुई है—मैं उसी की शरण में हूँ।'

'उस (परब्रह्म) में ही जिनकी बुद्धि लग जाती है, जो उसी को अपनी आत्मा समझते हैं एक मात्र उसी में जिनकी श्रद्धा है और उसी को जो परम पुरुषार्थ समझते हैं, उनके सब पाप आत्म-ज्ञान से धो डाले जाते हैं और वे फिर जन्म नहीं लेते।'

'जो देही देह में उत्पन्न होने वाले इन तीनों गुणों के पार चला जाता है, वह जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा और रोग से मुक्त होकर मोक्ष पद पाता है।'

अतएव गीता के मत में अनावृत्ति का एक मात्र उपाय भगवत्प्राप्ति है। साधक की कितनी ही ऊँची गति या ऐश्वर्य्य क्यों न होजाय—जब तक भगवान् के साथ वह न मिलेगा उसका आना जाना बन्द नहीं हो सकता। इसीलिए साधारण साधक धूमयान में भूः भुवः स्वः—इन तीन लोकों में ही कर्म्मानुसार आता जाता है। इसी का नाम मानवावर्त्त है। उच्चतर साधन द्वारा साधक इन तीनों लोकों के ऊपर पहुँचता है। वहाँ, देवयान में यथा त्रिलोकी के ऊपर जो जनः तपः महः और सत्यलोक हैं उनमें वह गमन

करता है। सत्य लोक का ही दूसरा नाम ब्रह्मलोक है। वह इन सब उच्च लोकों में एक कल्प पर्य्यन्त वास करता है। उस कल्प के बीच में उसको कभी मानवलोक में आना नहीं पड़ता पर कल्पान्त में जब प्रलय होता है और ब्रह्मलोक भी ध्वंस हो जाता है तब ब्रह्माण्ड के नाश के साथ उनका भी पतन होता है। पर जो उच्च साधक इस लोक में या परलोक में भगवान् के साथ मिल जाने का अधिकार प्राप्त कर लेते हैं वे सत्य लोक से भी परे, ब्रह्माण्ड से अलग भगवान् के परमधाम (पुराण की भाषा में जिसको वैकुण्ठ कहते हैं) को प्राप्त होते हैं। फिर उनको कल्पान्त में भी लौटना नहीं पड़ता। वे भगवान् के साथ मिल कर अनन्त हो जाते हैं। गीता के अठारहवें अध्याय में यह गूढ़ रहस्य खोला गया है,—

> ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ।
> समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥
> भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
> ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥—गीता, १८।५४।५५।

'जो ब्रह्ममय होगया है, वह सदा प्रसन्न रहता है, वह गये का शोक नहीं करता और पाने की इच्छा नहीं करता, जीव मात्र को सम दृष्टि से देखता है और मेरी परम भक्ति प्राप्त करता है। भक्ति से मुझे जान लेता है कि मैं कितना बड़ा हूँ, मैं क्या हूँ—यह वह ठीक ठीक जान लेता है। और इस प्रकार मुझे तत्त्वतः जानते ही वह मुझमें प्रवेश करता है अर्थात् परमानन्द रूप होजाता है।'

यह अवस्था ब्रह्मभूत से भी परे की अवस्था है। गीता में स्थान स्थान पर ब्राह्मी स्थिति, ब्रह्मनिर्वाण आदि का जो उल्लेख मिलता

है—उससे भी यह परे की अवस्था है। ब्रह्मभूत होने का अर्थ यही है कि हमारे ब्रह्माण्ड की जो आत्मा है—जिसको ब्रह्मा कहते हैं—उसके साथ एक हो जाना। इसमें शक नहीं कि यह साधना की ख़ूब ऊँची अवस्था है—पर सब से ऊँची नहीं है। क्योंकि हमारे ब्रह्माण्ड जैसे न मालूम कितने ब्रह्माण्ड और हैं।

संख्या चेद् रजसामस्ति विश्वानां न कदाचन ।

'धूल के कणों की संख्या तो कोई भले ही करले पर ब्रह्माण्ड की संख्या नहीं कर सकता।'

नारायण उपनिषद् कहता है।

अस्य ब्रह्माण्डस्य समन्ततः स्थितान्येतादृशान्यनन्तकोटिब्रह्माण्डानि सावर्णानि ज्वलन्ति । चतुर्मुखपञ्चमुखषण्मुखसप्तमुखाष्टमुखादिसंख्या क्रमेण सहस्रावधि मुखान्तैर्नारायणांशे रजोगुणप्रधानैरेकैकसृष्टिकर्तृभिरधिष्ठितानि विष्णुमहेश्वराख्यैर्नारायणांशैः सत्वतमोगुणप्रधानैरेकैकस्थितिसंहारकर्तृभिरधिष्ठितानि महाजलौघमत्स्यबुद्बुदानन्तसंघवद् भ्रमन्ति ।

'इस ब्रह्माण्ड के चारों ओर ऐसे ही अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड छिप रहे हैं। उन सब ब्रह्माण्डों में सृष्टि स्थिति संहार करने वाले रजोगुण, सतोगुण और तमोगुण-प्रधान नारायण के अंशभूत चार मुँह से हज़ार मुँह पर्य्यन्त वाले ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र अधिष्ठित हैं। जिस तरह समुद्र में अनन्त मत्स्य और बुद्बुद विचरण करते हैं उसी तरह ये सारे ब्रह्माण्ड भी घूम रहे हैं।'

प्रत्येक ब्रह्माण्ड का स्वतंत्र ईश्वर है। गुणभेद से उसके नाम ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र हैं। पर जो निखिल ब्रह्माण्ड के अधिपति हैं—जो इन सब ईश्वरों के भी ईश्वर हैं—वे ही महेश्वर हैं, वे ही भगवान् हैं।

कोटिकोठ्ययुतानीशे चाण्डानि कथितानि तु ।
तत्र तत्र चतुर्वक्त्रा ब्रह्माणो हरयो भवाः ॥
असंख्याताश्च रुद्राख्या असंख्याताः पितामहाः ।
हरयश्च असंख्याता एक एव महेश्वरः ॥—

विज्ञानभिक्षु-धृत लिंगपुराण ।

अर्थात्, 'ईश्वर को आश्रय करके कोटि कोटि ब्रह्माण्ड हैं। प्रत्येक ब्रह्माण्ड में ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र हैं। उन ब्रह्मा, विष्णु और रुद्रों की संख्या नहीं की जा सकती पर इन सब के ईश्वर महेश्वर एक ही हैं।'

गीता का लक्ष्य है—जीव को इन्हीं महेश्वर से युक्त कर देना।

हम ने जैसा कि देखा, ब्रह्मसूत्र साधक को ब्रह्मलोक ही तक ले जाता है;

आधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः ।—ब्रह्मसूत्र, ४ । ४ ।१८।

किन्तु गीता ने उससे भी परे की अवस्था का वर्णन किया है और साधना का जो चरम का भी चरम है भगवान् के उसी धाम में साधक को पहुँचाया है।

साधक साधना के बल से ब्रह्म को पा सकता है—यह बात गीता ने बार बार कही है,—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।—गीता, ७ ।१९।

'बहुत जन्मों के बाद ज्ञानवान् मुझको प्राप्त होता है।

परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ।—गीता, ८।८।

'हे पार्थ, (साधक) ध्यान द्वारा दिव्य और परम पुरुष को प्राप्त होता है।'

स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥—गीता, ८।१०।

'वही (योगी) दिव्य परम पुरुष को प्राप्त होता है।'

मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः।—गीता, ८। ३४।

'ईश्वरपरायण योगी इस प्रकार योग करके मुझको प्राप्त होता है।'

निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥—गीता, ११। ५५।

'जो किसी प्राणी से द्वेष नहीं करता वह मुझ से मिल जाता है।'

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥—गीता, १२। ८।

'मुझ में ही मन रखो, मुझ में ही बुद्धि रखो; इससे देहान्त के बाद तुम निश्चय मुझमें ही वास करोगे, इसमें सन्देह नहीं।'

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।—गीता, १८। ५०।

'सिद्धिप्राप्त साधक जिस तरह ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है—उसको समझो।'

ब्रह्म प्राप्त साधक ब्रह्म ही हो जाता है—यह बात गीता ने साफ़ साफ़ कह दी है:—

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥—गीता, ५। २४।
प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥
युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥—गीता, ६। २७-२८।
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्त्तमानोऽपि स योगी मयि वर्त्तते॥—गीता, ६। ३१।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥—गीता, १३ । ३० ।
माञ्च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥—गीता, १४ । २६ ।
अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्म्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ गीता, १८ । ५३ ।

'जिसको भीतरी सुख, भीतरी आनन्द और भीतरी प्रकाश प्राप्त हुआ है, वह योगी ब्रह्मरूप होकर ब्रह्म में विलीन हो जाता है।'

'काम क्रोध उत्पन्न करने वाला रजोगुण शान्त होकर जिसका मन अपने अधीन होगया है, उस ब्रह्मरूप निष्पाप योगी को ही उत्तम सुख प्राप्त होता है।'

'इस प्रकार मन को सर्वदा अधीन रखने से जो पाप से मुक्त हो गया है, उस योगी को ब्रह्म के साक्षात्कार का असीम सुख अनायास ही मिलता है।'

'जो अभेद भाव से रहता है, और सभी भूतों में मैं हूँ यह जानकर मेरा भजन करता है वह योगी चाहे जिस अवस्था में रहे पर वह मुझी में रहता है।'

'जब वह भिन्न भिन्न भूतों को एक ही ईश्वर में देखने लगता है तब वह ब्रह्म हो जाता है।'

'जो एकनिष्ठ होकर भक्तिपूर्वक मेरी सेवा करता है वह निश्चय ही इन गुणों को भली भाँति जीतता है और ब्रह्म हो जाता है।'

'अहङ्कार, दुराग्रह, दर्प, काम, क्रोध और परस्थिति का प्रभाव और ममत्व त्याग कर जो पुरुष शान्त हुआ है—वह यह समझने योग्य हो गया है कि, मैं ब्रह्म हूँ ।'

ब्रह्मभूत साधक की कैसी अवस्था होती है—गीता उसका इस तरह वर्णन करती है,—

बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ।—गीता, ४।१०।
मद्भावं = मत्सायुज्यम् ।—श्रीधर ।
मद्भावं = मद्रूपत्वम् ।—मधुसूदन ।
नान्यं गुणेभ्यः कर्त्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥—गीता, १४। १९ ।
मद्भावम् = ब्रह्मत्वम् ।—श्रीधर ।
मद्भावम् = मद् रूपताम् ।—मधुसूदन ।
मद्भावम् = मम भावम् ।—शङ्कर ।
इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥—गीता, १४ । २ ।
मम साधर्म्यम् = मम रूपत्वम् ।—श्रीधर ।
मम साधर्म्यम् = मत्स्वरूपताम् ।—शङ्कर ।
मम साधर्म्यम् = मत्साम्यम् ।—रामानुज ।
भक्त्या त्वनन्यया शक्यः अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुञ्च परन्तप ॥—गीता, ११ । ५४ ।
प्रवेष्टुं च तादात्म्येन ।—श्रीधर ।
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥—गीता । १८ । ५५ ।
मां विशते = परमानन्दरूपो भवति ।—श्रीधर ।

'अनेक साधक ज्ञानरूप तप से पवित्र होकर मुझ में मिल गये ।'

'जब द्रष्टा विवेक से जान लेता है, कि जितने कार्य्य होते हैं

उनके करनेवाले गुण ही हैं और यह जानता है कि इन गुणों के परे भी एक सद् वस्तु है तब वह ईश्वर भाव को प्राप्त हो जाता है ।'

'इस ज्ञान की सहायता से जिन्होंने मुझसे सायुज्य प्राप्त कर लिया है उनका जन्म सृष्टि के प्रारम्भ में भी नहीं होता और प्रलय के समय भी उनको कष्ट नहीं होता ।'

'हे अर्जुन, केवल अनन्य भक्ति से मुझे चाहे जो इस प्रकार जान सकता है, प्रत्यक्ष देख सकता है और मुझमें मिल सकता है ।'

'भक्ति से वह मुझे जान लेता है कि मैं क्या हूँ और कितना हूँ । और मुझे यथार्थ रूप में जानते ही फिर वह मुझ में प्रवेश कर जाता है ।'

'गीता के मत में मुक्त पुरुष ब्रह्म के साथ मिल कर ब्रह्म ही हो जाता है । उसमें और ब्रह्म में कोई भेद नहीं रहता—दोनों एक हो जाते हैं ।'

उपनिषद् मुक्त की अवस्था वर्णन करते हुए कहते हैं—

यथेमा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्ति, भिद्येते तासां नामरूपे, समुद्र इत्येवं प्रोच्यते । एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडश कलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति, भिद्येते तासां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते स एषोऽकलोऽमृतो भवति ।—प्रश्न, ६ । ५ ।

'जिस तरह नदियाँ समुद्र की ओर दौड़ती हुईं उसमें गिर कर अस्त हो जाती हैं, उसी तरह ब्रह्मदर्शी पुरुष भी षोडश कला (११ इन्द्रिय और ५ तन्मात्र) वाले पुरुष को प्राप्त होकर अन्तर्हित हो

जाते हैं। उस समय उनके नाम-रूप का कुछ निशान नहीं रहता। उनका 'पुरुष' ही नाम पड़ जाता है। उस समय ब्रह्मज्ञानी अमर हो जाते हैं।'

बादरायण ने नीचे लिखे सूत्रों में इसी श्रुति की ओर लक्ष्य किया है,—

तानि परे तथा ह्याह। अविभागो वचनात्।—ब्रह्मसूत्र, ४। २। १५-१६।

'तत्त्वज्ञानी की सब (इन्द्रियाँ और सूक्ष्मभूत) पर (आत्मा) में लीन हो जाते हैं। उसका आत्मा के साथ अविभाग हो जाता है।' *

यह विदेह-मुक्ति की बात हुई। इस अवस्था में मुक्त के स्थूल, सूक्ष्म, कारण—समस्त शरीरों का अत्यन्त नाश हो जाता है।

जीवात्मा और परमात्मा के मिश्रण की बात बादरायण ने और सूत्र में कही है,—

अविभागेन दृष्टत्वात्॥—ब्रह्मसूत्र, ४। ४। ४।

'मुक्त अवस्था में जीव का अविभाग होता है। श्रुति में लिखा है। क्योंकि उपनिषद् ने इसी तरह पर मुक्त के स्वरूप का वर्णन किया है,

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः परात् परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥

---

* इस जगह 'पर' का अर्थ शङ्कराचार्य ने परब्रह्म किया है। रामानुज ने 'पर' का अर्थ परमात्मा किया है। रामानुज कहते हैं अविभाग का अर्थ है अपृथग्भाव—पृथग् व्यवहारानर्ह संसर्ग। अर्थात् ऐसा मेल जिसमें अलगपन का ज्ञान न रहे।

'जिस तरह नदियां नाम रूप छोड़ कर समुद्र में पतित होती हैं उसी तरह तत्त्वज्ञानी भी नाम रूप को छोड़ कर दिव्य परम पुरुष को प्राप्त होते हैं ।'

नदी समुद्र का मिलन—मिलन नहीं है—वह मिश्रण है। इस तरह मिल जाने पर फिर नदी नदी नहीं रहती, समुद्र हो जाती है। विदेह मुक्ति होने पर जीव भी इसी तरह ब्रह्म हो जाता है। फिर जीव, जीव नहीं रहता ब्रह्म हो जाता है।

हमने देख लिया कि जीव और ब्रह्म का यह अत्यन्त मिलन ही गीता का चरम लक्ष्य है और इसी मुक्ति का गीता अनुमोदन करती है।

इक्कीसवाँ अध्याय।

उपसंहार।

गीता में ईश्वरवाद की खोज करने के लिए हमको छः दर्शनों के बड़े घने वनों में प्रवेश करना पड़ा था। बड़ी मुश्किल से वहाँ से निकल पाये हैं। अब ग्रन्थ समाप्ति से पहले हमने कष्टपूर्वक जो कुछ सार सङ्कलन किया है उसको लेकर इस पुस्तक का उपसंहार करते हैं। हम ने पहले अध्याय में विचार किया है कि जीव चाहता है कि मेरे दुःखों का नाश हो, इसलिए दुःख की एकान्त हानि करना ही उसका परम पुरुषार्थ है। जिस समय गीता बनी थी उस समय दुःख नाश के विविध प्रकार दर्शनों में बताये गये थे। गीता ने भी दुःख नाश करने का उपदेश दिया है। दर्शनशास्त्रों के बताये दुःख-नाश के उपायों में और गीता के बताये दुःख-नाश के उपाय में—एक बहुत बड़ा भेद है। गीता के बताये दुःख-नाश के उपाय का केन्द्र ईश्वर में है। एक वेदान्तदर्शन को छोड़ कर अन्य दर्शनों के बताये दुःख-हानि के उपायों के साथ ईश्वर का कोई बड़ा सम्बन्ध नहीं है। हमने वहाँ यह भी लिखा था कि दर्शनों की विशेष आलोचना करने से एक यह धारणा भी हो जाती है कि दर्शनशास्त्रों में कोई भारी असम्पूर्णता या अभाव मौजूद है। पर, गीता ने दर्शनों के मूल विषय को प्रतिपादन करते हुए उनमें एक ऐसी अपूर्व चीज़ मिला दी है कि जिसके मिल जाने से यह मालूम होता है कि दर्शनशास्त्रों का वह अभाव

दूर हो गया मानो उनकी वह असम्पूर्णता पूर्ण होगई। वह अपूर्व वस्तु ईश्वरवाद है। ईश्वरवाद को मिला कर गीता ने बड़ी अच्छी तरह से दर्शनों को संपूर्ण कर दिया है।

इस बात को प्रतिपन्न करने के लिए हमको हर एक दर्शन की आलोचना करनी पड़ी है। सब से पहले हमने न्याय और वैशेषिक दर्शन की आलोचना की है। उस आलोचना से हम यह जान सके हैं कि यद्यपि न्याय और वैशेषिक ईश्वर का खण्डन नहीं करते पर फिर भी उनमें ईश्वर का स्थान बहुत ही साधारण है। क्योंकि न्याय और वैशेषिक दर्शनों में दुःखनाश (अपवर्ग या निःश्रेयस् की प्राप्ति) के जो उपाय बताये हैं उनके साथ ईश्वर का रत्ती भर भी सम्बन्ध नहीं है। ईश्वर हों या न हों उनके साथ जीव सम्बन्ध रखे या न रखे उससे इन दर्शनों का कुछ नहीं बिगड़ता। हमने यह भी बताया था, कि सारी गीता में कहीं भी इन दोनों दर्शनों का ज़िक्र तक नहीं है। इसीलिए 'गीता में ईश्वरवाद' की आलोचना में इन दोनों दर्शनों की आलोचना न भी करते तो भी कोई हर्ज न था। किन्तु विषय की सम्पूर्णता के लिए हमने उनकी आलोचना भी कर दी।

बाक़ी चार दर्शनों के साथ गीता का घनिष्ठ सम्बन्ध है। गीता में, साधारणतः उन सब दर्शनों के प्रतिपाद्य विषय का अङ्गीकार है पर उसने उनमें ईश्वरवाद को संयुक्त करके उनको सुसम्पूर्ण कर दिया है। इसीलिए, हमने पहले उन सब दर्शनों का संक्षिप्त परिचय दिया है। बाद को हमने यह दिखाया है कि गीता इन दर्शनों के कौन कौन विषयों का अनुमोदन करती है और कहाँ कहाँ उसकी

असम्पूर्णता को पूरा करती है। उस आलोचना का यह फल निकला है,—

'मीमांसा-दर्शन की आलोचना में हमने बताया है कि वह दर्शन यज्ञ को ही श्रेयोलाभ का उपाय बताता है। यज्ञ करने से जीव अमर हो जाता है, फिर उसको बुढ़ापा और मौत नहीं सताती। हमने यह भी दिखाया था कि मीमांसक निरीश्वरवादी हैं। मीमांसा-दर्शन में कहीं भी ईश्वर का प्रसङ्ग नहीं आया है। गीता यज्ञ का अनु-मोदन करती है और उस (यज्ञ) को ईश्वरोद्देश से करने का उपदेश देकर मीमांसादर्शन में ईश्वरवाद संयुक्त कर देती है। उसका यह फल हुआ कि कर्म्म कर्म्मयोग में बदल गया। इस कर्म्मयोग का मेरु-दण्ड—ईश्वरार्पण है। फल की आकांक्षा को छोड़ कर अहङ्कार का त्याग करके सब कर्म्मों को ईश्वरार्पण करना ही—कर्म्मयोग है।

इसके बाद सांख्य-दर्शन की आलोचना में हमने देखा कि सांख्य के मत में प्रकृति और पुरुष दो अलग अलग चीज़ें हैं। उनके अलगाव का ज्ञान ही दुःख-निवृत्ति का बढ़िया उपाय है। हमने यह भी मालूम किया था कि सांख्यदर्शन निरीश्वरवादी है। उसके मत में प्रकृति में परिणाम स्वतः होता है—उसके साथ ईश्वर का कुछ सम्बन्ध नहीं है। पुरुष अनेक हैं और सब स्वतंत्र हैं—वे ईश्वर परतंत्र नहीं हैं। फिर बाद को हमने गीता की आलो-चना में देखा कि गीता जिस ज्ञान का अनुमोदन करती है वह तत्त्वज्ञान है अर्थात्, 'तत्' का ज्ञान है। उस ज्ञान के द्वारा साधक पहले तो सब प्राणियों को अपने में और बाद को ईश्वर में देखता है। इस ज्ञान का यह फल होता है कि साधक भगवान् को पा

जाता है। उस समय वह जानता है कि ईश्वर ही सब कुछ है। गीता के मत में पुरुष बहु नहीं है, बल्कि एक है और वह पुरुष ईश्वर के साथ अभिन्न है। ईश्वर ही जीव रूप में सब के हृदयों में अधिष्ठित हैं। गीता के मत में प्रकृति में जो परिणाम होता है वह ईश्वर के अधिष्ठान के लिए है। गीता के मत में ईश्वराधिष्ठान के कारण ही यह प्रकृति चराचर जगत् उत्पन्न करती है, वे (भगवान्) प्रकृति में गर्भाधान करते हैं और प्रकृति सब भूतों को पैदा करती है। गीता के मत में प्रकृति और पुरुष विश्व में दो अलग अलग चीज़ें नहीं हैं; वास्तव में ये ईश्वर के ही विभाव या प्रकार हैं। सांख्यदर्शन का पधान ईश्वर की अपरा प्रकृति और पुरुष उसकी परा प्रकृति है। ईश्वर ही चरम तत्त्व है, उससे परे और कुछ नहीं है। इसलिए प्रकृति और पुरुष स्वतंत्र नहीं हैं—वे ईश्वर-परतंत्र हैं। सांख्यशास्त्र में कैवल्य-लाभ का जो उपाय बताया है उसके साथ ईश्वर का कोई सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि सांख्य के मत में २५ तत्त्वों के (ईश्वर का उनमें ज़िक्र तक नहीं है) ज्ञान प्राप्त कर लेने से जीव दुःखों से छुटकारा पाकर कैवल्य प्राप्त कर लेता है। गीता मुक्ति का दूसरा पथ बताती है—वह इससे बिलकुल नहीं मिलता। क्योंकि उस मार्ग में ईश्वर को बिना लक्ष्य किये, बिना उसके भाव से भावित हुए एक पग भी नहीं चला जा सकता।

इसके बाद पातञ्जलि दर्शन की आलोचना में हमने देखा कि योग या चित्तवृत्ति के निरोध से प्राप्त हुआ प्रकृति और पुरुष का वियोग ही उस दर्शन में कैवल्य-प्राप्ति का उपाय बताया गया है। चित्त-निरोध करने के लिए बताये गये अनेक उपायों में ईश्वर-प्रणिधान

का भी उल्लेख मिलता है। चित्तवृत्ति के निरोध से योग-सिद्धि के हो जाने पर जीव को समाधि होती है—पतञ्जलि का बस यही चरम लक्ष्य है। उस समय पुरुष अपने स्वरूप में अवस्थान करता है और सुख दुःख से अतीत होकर कैवल्य प्राप्त करता है। अतएव इस दर्शन के मत में समाधि द्वारा सिर्फ़ आत्म-साक्षात्कार होता है—ईश्वर-प्राप्ति नहीं होती। पर, गीता योग का अनुमोदन करती हुई ईश्वर में चित्त के लगाने को ही योग का मुख्य उपाय बताती है। किन्तु पातञ्जलदर्शन में ईश्वर प्रणिधान जैसे और उपाय बताये गये हैं–वैसा ही यह भी एक उपाय है। इसलिए, इसके मत में यदि ईश्वर को छोड़ भी दिया जाय तो भी कोई हानि नहीं। पर गीता में जहाँ योग का उल्लेख है—वहीं ईश्वर का उल्लेख भी है। गीता के मत में, श्रद्धापूर्वक ईश्वर में चित्त लगा कर उपासना करने वाला ही श्रेष्ठ योगी है। इसीलिए गीता चरम योग का उपदेश देते हुए कहती है, कि ईश्वर में मन को लगाओ, उसीके लिए यजन करो, उसी का भजन करो, उसी को प्रणाम करो, ऐसा करने से ही तुम उसमें मिल जाओगे। गीता के मत में योग का फल आत्मा का साक्षात्कार नहीं है—भगवान् का सङ्ग-लाभ करना है। गीता कहती है, संयत-चित्त योगी भगवान् में स्थित हुआ मोक्ष-प्रधान शान्ति को पाता है। निष्पाप योगी आत्मा को योग-युक्त करके ब्रह्म के संस्पर्श से उत्पन्न हुए अत्यन्त सुख को पा लेता है।

इसके बाद हमने वेदान्त की आलोचना की है, कई बड़े बड़े भागों में अद्वैत और विशिष्टाद्वैत मतों का विवरण दिया है। वेदान्तदर्शन में ब्रह्म ही मुख्य है। गीता में भी वही मुख्य है। इसी-

लिए वेदान्त और गीता की आलोचना में हमने जितने प्रसङ्ग उठाये हैं उनमें बहुत स्थलों में गीता और वेदान्तदर्शन का ऐकमत्य ही हमको मिला । यहाँ उन विषयों की पुनरावृत्ति करना निष्प्रयोजन है । तो भी ब्रह्म-प्राप्ति के उपाय और फल सम्बन्ध में गीता और ब्रह्म-दर्शन में कहीं कहीं आंशिक भेद पाया गया है । हमने उसी स्थल में गीता के अपूर्व समन्वयवाद की चर्चा की है । गीता के मत में मुक्त पुरुष ब्रह्म के साथ अभिन्न हो जाता है—मुक्त ब्रह्म भाव को प्राप्त होकर ब्रह्म के साथ एक हो जाता है । वेदान्तदर्शन जीव को ब्रह्मलोक तक ही ले गया है पर गीता ने जीव को ईश्वर में मिला दिया है ।

मालूम होता है अब हम यह बात साहस-पूर्वक कह सकते हैं कि पहले अध्याय में हमने 'गीता में ईश्वरवाद' को लक्ष्य करके जो बात कही थी— गीता और दर्शनशास्त्रों की आलोचना से भी वही बात हमने प्रमाणित कर दी ।

ईश्वरवाद ही गीता का प्राण है । गीता के आदि, मध्य और अन्त में —सब कहीं— ईश्वरवाद ही चमक रहा है ।

आदावन्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते

गीता में से ईश्वरवाद को निकाल लिया जाय तो वह अर्थहीन वाक्य-विन्यास रह जायगी । गीता में ईश्वर का स्थान इतना मुख्य है । इसीलिए गीता की इतनी महिमा है । गीता में सब शास्त्र हैं, गीता कल्पवृक्ष है, गीता में उपनिषदों के सार का भी सार है । गीता की प्रशंसा में पहले लोग जो कह गये हैं हम भी उसको दुहरा कर इस ग्रन्थ को समाप्त करते हैं ।

संसारसागरं घोरं तर्तुमिच्छति यो नरः ।
गीतानावं समासाद्य पारं याति सुखेन सः ॥